□ भारतीय लोककला ग्रथावली : सख्या १६

□ प्रथम सस्करण . अक्तूवर १६६८

□ मूल्य रु० १५ ०० परिवर्द्धित मूल्य तीस रुपया

□ प्रकाशक : भारतीय लोककला मण्डल, उदयपुर (राजस्थान)

□ मुद्रक : जयपुर प्रिण्टर्स, जयपुर

लोकधर्मी प्रदर्शनकारी कलाएँ

१

लोकसंगीत

१–१०३

विषय-सूची

२

लोकनृत्य

१०७–१५९

३

लोकनाट्य

१६३–२८४

भूमिका

भारतीय लोकधर्मी कलाएँ पिछले कुछ वर्षों से हमारे विद्वानो का ध्यान आकर्षित करने लगी हैं। उससे पहले वे उच्चवर्गीय कलाओ के निम्नस्तरीय स्वरूप ही समझी जाती थी और विद्वज्जन उस ओर तनिक भी आकर्षित नही होते थे। जिन विद्वानो ने इस दिशा में शोध आदि का कुछ भी कार्य किया, उन्होंने भी इनके साहित्य-पक्ष को ही देखा और कला-पक्ष को अछूता ही छोड़ दिया। लोकगीत सबधी कई विद्वानो के शोधकार्य हमारे समक्ष हैं। भारत की बहुधा सभी क्षेत्रीय भाषाओ के लोकगीत-सकलन तथा तत्सबधी विवेचन भी प्रकाशित हुए हैं। इसमे कोई सदेह नही कि इन विद्वानो ने ऐसी मूल्यवान् सपदा की ओर हमारा ध्यान खीचा है, जिसने लोकजीवन को सर्वदा ही रसप्लावित किया है तथा उसे यान्त्रिक और नीरस होने से बचाया है। लोकगीतो की शाब्दिक एव साहित्यिक महत्ता दर्शाने तथा लोकसाहित्य के इस विपुल भण्डार मे से रत्न चुन-चुन कर भारतीय साहित्य की अभिवृद्धि करने मे इन विद्वानो ने कोई कमी नही रखी है, अत. जहाँ तक हमारे साहित्यकारो एव चिन्तको का प्रश्न है, उन्होंने पूरी तरह अपना कर्त्तव्य निभाया है और उन परम्परावादी विद्वानो को करारा जवाब दिया है, जिन्होने लोकसाहित्य को साहित्यिक दर्जा देने से सदा ही इन्कार किया है।

हमे शिकायत उन कलाविदो से है, जिन्होने सर्वदा ही लोकसगीत, नाट्य एवं नृत्य को उपेक्षा की दृष्टि से देखा है एव लोकपक्षी कलाओ को अशिक्षित एव असस्कृत लोगो की कला मानकर उनकी खिल्ली उडाई है। शास्त्रीय नृत्यकारो ने लोकनृत्य को नृत्य का अत्यन्त प्राथमिक स्वरूप मानकर उसको अत्यत हीन नृत्य बतलाया है। परन्तु सौभाग्य से इस समुदाय की सख्या हमारे देश मे लोकधर्मी कलाओ के उन असख्य प्रयोगियो की तुलना मे इतनी कम है कि उनकी आवाज़ का आज कोई मूल्य नही रहा है। आज तो वह समय आया है जब हमारे देश मे ऊँच-नीच का विचार, न केवल मानवीय स्तर से बल्कि साहित्य और कला के स्तर से भी प्राय समाप्त सा हो गया है। लोककलाएँ पुन. प्रतिष्ठापित हुई हैं और भारतीय जीवन को पुनः रसप्लावित

करने लगी हैं। शास्त्रीय कलाओ का एकाधिपत्य प्राय समाप्त सा होने लगा है और दोनो को अपना-अपना उचित दर्जा प्राप्त हुआ हे। जहाँ शास्त्रीय कलाओ के प्रतिष्ठान हमारे देश मे कद्र पा रहे है, वहाँ लोककलाओ के प्रतिष्ठानो को भी आदर मिला हैं।

भारतीय लोककलाओ के पुनर्जागरण मे पश्चिमी विद्वानो का पूरा हाथ है। ब्रिटिश शासनकाल मे ग्रियर्सन, कर्नल टाड, टेसीटोरी, विलियम क्रुक जैसे प्रकाण्ड विद्वानो ने भारतीय लोकजीवन का मथन करके लोकसाहित्य एव कला के अनेक लोकपक्षीय रत्नो को खोज निकाला है तथा भारतीय विद्वानो को लोकवाङ्मय के अध्ययन की एक अत्यन्त मनोवैज्ञानिक पद्धति प्रदान की है। स्वतत्रता-प्राप्ति के वाद भी कई भारतीय विद्वानो को अध्ययनार्थ विदेशो मे जाने तथा वहाँ के लोकवाड्मय-सस्थानो (Folk lore institutes) से प्रेरणा प्राप्त करने का सुअवसर मिला है। इन सस्थानो मे लोकगीतों के केवल शब्द-पक्ष पर ही शोध निर्धारित नही किया जाता, वल्कि स्वर को शब्द से अधिक महत्त्वपूर्ण मानकर उसके वैविध्य, सचरण, मिश्रण, मिलन, विघटन, उठाव, चढाव, शब्द-स्वर-संगति, स्वर-निष्पत्ति, गायकी के प्रकार, लय-गुफन आदि के वैज्ञानिक विचार को आधार माना जाता है। इन विविध लोकवाङ्मय शोध-सस्थाओ मे अनेक सगीत-विशेषज्ञ, ताल-विशेषज्ञ, रचना-विशेषज्ञ, साहित्यवेत्ता, नृतत्वशास्त्री, नृत्य-नाट्यशास्त्री एव मनोवैज्ञानिक काम करते हैं। सहस्रो गीतो का वहाँ सकलन, रेकार्डिंग, वर्गीकरण, विश्लेषण, विवेचन एव उनके कला-पक्ष का विषद अध्ययन होता है। लोकनृत्यो की अगभगिमाओ का विवेचन, रेखा-करण (Notation) एव उनकी गीत-नृत्य-नाटच-साहित्य-सगति एव उनके समाजीकरण पर वहाँ अत्यत वैज्ञानिक अध्ययन का कार्य होता है। नाटक के कला-पक्ष पर वहाँ जो भी शोध हुई है वह अभूतपूर्व है। लोकनाट्य की रचना-विधि से लेकर उसके अभिनय, चित्रण, प्रस्तुतीकरण, रगमचीय विवेचन, पात्र-चरित्र-विवरण, चरित्र-चित्रण, कथा एव सवादो का व्यवहारी-करण एव उनकी अनेक मनोवैज्ञानिक लोकदशाओ पर जो भी शोधकार्य हुआ है वह आश्चर्य मे डालने वाला है।

प्रसन्नता की वात यह है कि अव इस दिशा मे भारतीय विद्वानो का भी ध्यान गया है तथा केन्द्रीय एव राजकीय सगीत नाटक अकादमियो ने भी लोकधर्मी कलाओ को महत्त्व प्रदान किया है। आकाशवाणी के लगभग सभी केन्द्रो ने लोकसगीत एव लोकधर्मी कलाओ के प्राय सभी कलाकारो एव

विद्वानो को अपने विचार प्रकट करने का अवसर प्रदान किया है। लोकगीतो के प्रसारण के लिये तो सभी केन्द्रो पर अलग से समय निर्धारित है। आकाश-वाणी के केन्द्रीय कार्यालय मे लोकसगीत निदेशालय की अवस्थिति तथा उसके लिये अधिकारी विद्वानो की नियुक्तियाँ हमारे लिये वडे महत्त्व की वात है। इस विभाग के अन्तर्गत लोकगीतो के सकलन, अध्ययन आदि का समुचित प्रवन्ध है। यत्र-तत्र हमारे देश मे लोकधर्मी कलाओ सवधी गोष्ठियाँ, सम्मेलन, समारोह आदि भी लोककलाओ के पुनर्जीवन की दिशा मे वहुत ही आशा-जनक एव उन्नत कदम हैं।

सन् १९५२ मे जव भारतीय लोककला मण्डल की स्थापना के साथ उसके उद्देश्य और कार्य-विधि की घोषणा हुई तो विद्वज्जगत् मे काफी हलचल मची थी। तव यही प्रतिक्रिया सामने आई कि लोकसगीत, लोकनृत्य, और नाट्य विषयक एक अखिल भारतीय स्तर की सस्था की क्या आवश्यकता है? सस्था की उस प्रारम्भिक अवस्था मे उस चर्चा को पचा लेने के अलावा हमारे लिये कोई चारा नही था। हमारी सभी घोषित योजनाएँ उस समय केवल कागज़ पर थी और उनको पूरा प्रकाशन भी नही मिला था। शोध, खोज, सकलन, अध्ययन, विवेचन एव वर्गीकरण की वात तो दूर रही, कार्यकर्ताओ के वैठने के लिए सस्था के पास कोई स्थान तक नही था। जव पहली वार सस्था की ओर से एक उच्चस्तरीय लोक-कलाकारो की मडली ने समस्त देश मे प्रदर्शन दिये, तो चाहे हमे धन भले ही न मिला हो, परन्तु यह उपलब्धि अवश्य हुई कि विद्वानो ने रगमच पर प्रदर्शित इन विशुद्ध लोकनृत्यो एव गीतो को अत्यन्त रुचिपूर्वक देखा और उनमे वडी आस्था प्रकट की। उसके वाद तो गणतत्र समारोह के उपलक्ष मे अखिल भारतीय स्तर पर दिल्ली मे लोकनृत्य समारोह भी होने लगे और विभिन्न राज्यो के अत्यन्त मौलिक एव रगीन लोकनृत्य प्रथम वार जनता के समक्ष आये। राष्ट्र की इस अत्यन्त महिमामयी थाती पर सवको गर्व का अनुभव हुआ। यह कहना नही होगा कि इन सव विशिष्ट घटनाओ के फलस्वरूप भारतीय लोककला मण्डल को अपनी प्रारम्भिक अवस्था मे ही जनता का प्रेम और सहयोग प्राप्त हो गया और हम केवल नृत्य-प्रदर्शन तक ही सीमित नही रहकर प्रदर्शनकारी-लोककलाओ के अध्ययन, सकलन, वर्गीकरण, विश्लेषण, सशोधन, परीक्षण, प्रयोग एव प्रकाशन के कार्य मे सलग्न होगये।

इसी कार्य के दौरान जव हमे अपनी सस्था मे एक उचकोटि के पुस्तका-लय की आवश्यकता हुई तो हमे भारतीय भाषाओ मे तत्सवधी साहित्य

मिलना अत्यंत कठिन हो गया; जो भी लोकगीतो की पुस्तकें हमे उपलब्ध हुई, उनमे गीतो के साहित्यिक कलेवर (Literary content) तथा उनके सामाजिक अध्ययन के अलावा कुछ भी नही मिला। ऋतु, जन्म, मरण, विवाह, उत्सव, त्यौहार, विरह, मिलन, शृगार, पारिवारिक सबंध आदि विषयो पर गीतो का वर्गीकरण एव विवेचन करके ही हमारे विद्वान् लेखक सतुष्ट हो गये, परन्तु उनकी आत्मा का निखार दर्शाने तथा उनको जन्म देने वाले स्वर-सयोजन का किसी ने दर्शन नही कराया। इन पुस्तको मे लोकगीतो का पाठ्य-स्वरूप हमे अवश्य दृष्टिगत हुआ, परन्तु उनका श्रव्य-स्वरूप बिन छुआ ही रह गया। लोकनाट्य सबधी पुस्तको मे भी शास्त्रीयनाट्य-तत्त्वो के आधार पर नाट्य-विवेचन करने की भूलें हममे से कइयो ने की हैं। यदि इस ओर कोई महत्त्वपूर्ण कार्य हमारे देश मे हुआ है तो वह यह कि आज प्रचलित और अप्रचलित अनेक लोकनाट्यो के अधिकाश कलेवर (text) पुस्तकाकार उपलब्ध हो रहे हैं। उनके प्रस्तुतीकरण, रगमचीय विधान, अभिनय-शैली एव उनकी धुनो के सबध मे दर्शको एव प्रदर्शको को पूर्व जानकारी होने से इन सबका अभाव उनके प्रयोक्ताओ को तो नही खटकता, परन्तु उन सब अध्येताओ के लिये ये पुस्तकें अधिक उपयोगी सिद्ध नही हो सकी हैं। फिर भी हमे इस किस्म की जितनी भी पुस्तकें मिली, उनका सकलन हम बराबर करते रहे। सर्वप्रथम राजस्थान से ही यह कार्य शुरू हुआ। हमारे शोध-कार्यकर्त्ता समस्त राजस्थान मे बिखर गये और इन लोक-रत्नो की खोज करने लगे। उनके विविध कला-पक्षो का सर्वेक्षण किया गया, स्थिर एव चलचित्र बनाये गये, लोकगीत-गायको की सूचियाँ तैयार की गई, उनके गीतो का ध्वनि-सकलन किया गया, उनकी धुनो एव लय के आधार पर वर्गीकरण हुआ, उनमे निहित धुनो मे शास्त्रीय रागो के मूल आधार खोजे गये, उनकी स्वरलिपियाँ बनाई गई और सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य यह हुआ कि उनमे से कुछ चुने हुए लोकनाट्यकारो, गायको तथा वाद्यकारो को हमारी सस्था मे स्थायी नियुक्तियाँ दी गई।

इस सब कार्य के दौरान पिछले सोलह वर्षों मे जो भी अनुभव हुआ उसको हमने आत्मसात् किया। इस बीच मुझे दो बार विदेश जाने का अवसर मिला और वहाँ के कई लोकवाङ्मय-सस्थान (Folklore institutes) देखने, विद्वानो से भेंट करने तथा उन्हे भारतीय लोककलाओ से अवगत करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। सन् १६६० से ही मैंने अपने ये सब अनुभव लेखबद्ध करने शुरू कर दिये तथा नवीन दृष्टि मिलने पर उनका पुनर्लेखन भी

किया। इस तरह नये-नये विचार मिलते रहे, नये अनुभव होते रहे और मेरी लिखित सामग्री मे कई वार सशोधन की आवश्यकता भी हुई। इस तरह मेरी पुस्तक १९६५ मे ही तैयार हो गई। उसी वर्ष मुझे पुन विदेश जाने का अवसर मिला और अपने नवीन अनुभव के आवार पर मेरी पुस्तक मे अनेक परिवर्तन आवश्यक हो गये। इसी दौरान कई भारतीय पत्रो के लिये भी मैं अपने विचारो को लेखवद्ध करता रहा। उनमे से कुछ लेख मेरी इस परिवर्धित पुस्तक के अश भी वन गये। पहले यह विचार था कि इस पुस्तक के गीत, नृत्य एव नाट्यपक्ष पर अलग-अलग पुस्तक लिखी जाय। यह मनो कामना पूरी भी हो जाती, परन्तु वाद मे ऐसा लगा कि इन तीनो का स्वतत्र अस्तित्व कई जगह विचारो की पुनरावृत्ति के कारण दुर्वल पड जायेगा। अत इन तीनो का एक समन्वित रूप ही पाठको के समक्ष प्रस्तुत करना ठीक समझा। ऐसा करने से दो कठिनाइयाँ अवश्य सामने आई हैं, एक है कई परिच्छेदो मे विचारो की पुनरावृत्ति। मैंने जानवूझ कर इस पुनरावृत्ति को यथावत् रहने दिया है। यदि उसे दूर करने का प्रयास करता तो विचार असवद्ध हो जाते और उनकी कड़ियाँ टूट जाती। उदार पाठको से क्षमा-याचना करते हुए मैं उन्हे यथावत् रखने की उनसे अनुमति चाहता हूँ। दूसरी कठिनाई जो सामने आई, वह पुस्तक के नाम की थी। सार्थकता की दृष्टि से इस पुस्तक का नाम होना चाहिये था "भारतीय लोकसगीत, लोकनृत्य, लोकनाट्य—एक अध्ययन"। इतना लवा नाम शायद पाठको को रुचता नही इसलिये इसका नाम मैंने "लोक-धर्मी प्रदर्शनकारी कलाएँ" ही रखना उचित समझा। प्रदर्शनकारी शब्द से भी शायद कुछ महानुभावो को आपत्ति हो परन्तु यह शब्द आवश्यक इसलिये हो गया कि लोककला के अन्य अप्रदर्शनकारी स्वरूपो से उसे वचाना था। वहुधा नृत्य, गीत, नाट्य ही प्रदर्शन योग्य होते हैं, चाहे उनका उपयोग स्वान्त-सुखाय हो या जनता के मनोरजन के निमित्त।

इस पुस्तक मे मैंने इन कलाओ के तात्त्विक पक्ष को ही प्रधानता दी है क्योकि इस समय हमारे देश मे लोकनृत्य, लोकनाट्य एव लोकसगीत के सवध मे अनेक मत एव भ्रान्तियाँ प्रचलित हैं। हम अभी भी किसी एक निर्णय पर नही पहुँचे हैं। इस पुस्तक मे विवेचित अपना मत ही सर्वसम्मत मत मान लूँ, ऐसी धृष्टता भी मैं नही करूँगा। इसलिये मैं ईमानदारी के साथ साफ़ कह देना उचित समझता हूँ कि ये सव मत मेरे अपने हैं, जिनके पीछे भले ही अत्यन्त वोझिल और महत्त्वप्राप्त पुस्तको के सदर्भ ही कोष्ठक मे न दिये गये हों, परन्तु मेरे पिछले ३५ वर्षों का अनुभव इनमें अवश्य निहित है। मैं अपनी

बाल्यावस्था से ही रंगमंच का व्यक्ति रहा हूँ और इसी से मैंने जीवन का समस्त रस ग्रहण किया है। आज भी रंगमंच ही मेरा प्रयोग एवं अध्ययन-स्थल बना हुआ है।

मेरा यह विनम्र प्रयास यदि मेरे विद्वान् पाठकों के लिये थोड़ा भी उपयोगी सिद्ध हुआ तो मैं अपने को धन्य मानूँगा। मैं अपने प्रिय साथी श्रीयुत रूपलाल शाह को धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता, जिनके आग्रह से यह प्रकाशन संभव हुआ है। यदि उनका दबाव नहीं होता तो मैं अपने स्वर्गीय पुत्र गोविन्द के निधन से उत्पन्न अपनी उत्पीड़ितावस्था में इस पुस्तक को पुनः एक बार देखकर प्रेस में जाने योग्य नहीं बना सकता था। संस्था के शोधभारी डॉ० महेन्द्र भानावत का भी मैं बहुत आभारी हूँ, जिन्होंने इस पुस्तक को अतिशीघ्र प्रकट होने में मेरी सहायता की। इस पुस्तक में उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत होने वाले सभी लोकगीतों की स्वरलिपियां हमारे संगीताधिकारी श्रीयुत सम्पतकुमार शर्मा ने बनाई हैं। अतः मैं उनके प्रति भी अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

दीपमालिका २०२५ वि०

देवीलाल सामर

१

लोकसंगीत

लोकसंगीत

साधारणत सबकी यह मान्यता है कि वह गीत लोकगीत है, जो जन-साधारण द्वारा प्रयुक्त होता है और जन-साधारण की भावनाओ को व्यक्त करता है। पिछले कुछ वर्षों मे लोक शब्द ग्राम के अर्थ मे भी रूढ हो गया है, अत लोकगीत गाँवो मे गायेजानेवाले गीतो की ओर ही सकेत करता है। ये दोनो ही तात्पर्य अपूर्ण होते हुए भ्रामक भी हैं। लोकगीत जन-साधारण द्वारा भी प्रयुक्त होते हैं और जन-साधारण अधिकतर गाँवो मे ही है, इसलिये यह तात्पर्य सही होते हुए भी अपूर्ण इसलिये है कि सभी जन-साधारण द्वारा गायेजानेवाले गीत लोकगीतों की परिधि में नही आते। वैसे तो आज के फिल्मीगीत, जितने जन-साधारण द्वारा प्रयुक्त होते हैं, उतने कोई भी नही, फिर भी वे लोकगीतो की श्रेणी मे नही आते। गीतो की लोकरजकता, उनके प्रभाव और प्रचारक्षेत्र की व्यापकता, तथा उनकी लोकग्राह्यता ही उन्हें लोकगीतों का दर्जा नही दे देती। अन्य कई ऐसी कसौटियाँ भी हैं, जिन पर उतरकर ही उन्हें लोकगीतो का दर्जा प्राप्त होता है।

किसी भी कलाकृति का अपना रचयिता अवश्य होता है, जो उस कृति के पीछे सूर्य के समान दैदीप्यमान रहता है। वही कृति अपने रचयिता से चमत्कृत होती है और उसका रचयिता भी उसी कृति से चमत्कृत होता है। रचयिता के व्यक्तित्व की छाप उस कृति पर स्पष्ट अकित रहती है, परन्तु लोकगीतो मे उनका रचयिता छिपा रहता है, कही भी उसके व्यक्तित्व का आभास नही मिलता। ऐसी असख्य रचनाएँ अनादिकाल से अनेक कठो से उद्भासित होती रहती हैं, परन्तु उनमे से कुछ ही रचनाएँ प्रकाश मे आती हैं और शेष पानी के बुद्बुदो की तरह विलीन हो जाती हैं। कुछ रचनाएँ अपने विलक्षण गेय तत्त्वो के कारण समाज मे प्रचलित रहती हैं, उन्हे लोग उनके रचयिताओं के कठो से सुनते हैं, सराहते हैं और वे कृतियाँ रचयिता की धरोहर के रूप मे उसकी प्रतिभा को प्रकाशमान करने के लिए प्रकाशित भी होती हैं, परन्तु यह आवश्यक नही कि वे लोकगीतो का दर्जा प्राप्त कर सकें। उनमे साहित्यिक एव कलात्मक गुण होते हुए भी वे अपने सीमित दायरे मे ही रहती हैं। वे समाज की धरोहर नही बनती। सामाजिक धरोहर बनने के लिये जिन गुणो की आवश्यकता होती है, वे गुण यदि आज मानव शक्ति के अन्दर होते

तो प्रत्येक रचयिता उन गुणो के अनुमार गीत रच देता और वह लोकगीत बनाने का श्रेय प्राप्त करलेता। अत यह जानना अत्यन्त कठिन है कि असंख्य रचेजानेवाले गीतो मे से कौनसा गीत ऐसा है जो लोकगीतो की श्रेणी प्राप्त करनेवाला है अथवा जिसे समाज अपना बनाकर उसपर अपने व्यक्तित्व की छाप अंकित करेगा। इसका यह भी अर्थ नही कि जो गीत लोकगीत का दर्जा प्राप्त करता है, वह स्वर-गठन, शब्द-चयन तथा संगीत की दृष्टि से वैयक्तिक प्रभाव और रचयिता के व्यक्तित्व से जुडे रहनेवाले वैयक्तिक गीतो से श्रेष्ठ होता है। यह कहना अत्यन्त कठिन है कि अनन्तकाल से रचेजानेवाले ये वैयक्तिक गीत किसप्रकार और किन गुणो के कारण लोकगीतो का दर्जा प्राप्त कर लेते हैं।

एकबार ऐसे वैयक्तिक गीत सामाजिक अभिरुचि की पकड़ मे आ जाते हैं तो उनमे अनेक प्रक्रियाएँ होने लगती हैं और वे अनेक कसौटियो पर कस कर अन्ततोगत्वा लोकगीतो की परिधि मे प्रविष्ट होते हैं और उनमे विशेष प्रकार का संचरण होने लगता है। यह प्रक्रिया किसी प्रभाव या प्रयत्न से नही हुआ करती। यह ऐसी अज्ञात प्रक्रिया है, जो अनादिकाल से चली आरही है और जिसके कार्य, कारण का कोई पता नही है। किसी भी लोकगीत का उसके रचनाकाल से लेकर उसके पूर्ण विकसित स्वरूप के क्रमिक विकास का कोई लेखा-जोखा रखना चाहे तो असंभव है और यदि किसी लोकगीत के क्रमिक विकास का क्रम जाना भी जा सके तो यह समझ लेना चाहिए कि वह लोकगीत की श्रेणी मे नही है। अत यह तो मान ही लेना उचित है कि कुछ गीत वैयक्तिक रचना की परिधि से बाहर निकलकर तथा सामाजिक स्तर पर विकास की चरम सीमा प्राप्त करके ही लोकगीतो का दर्जा पाते हैं।

किसी भी गीत का बहुत अधिक प्रचलन तथा उसके बोधगम्य क्षेत्र का विस्तार ही उसे लोकगीत का दर्जा प्रदान नही करता। सूर, तुलसी, मीरा, कबीर आदि संतो के हज़ारो गीत सैंकडो वर्षों से अपने साहित्यिक, सामाजिक तथा गेय गुणो के कारण समाज मे प्रचलित हैं, परन्तु फिर भी उन्हे लोकगीतो का दर्जा प्राप्त नही हुआ है। अत लोकगीतो के क्रमिक विकास मे जो प्रक्रिया निहित है, वह कुछ और ही है। मोटे तौर पर हम इस संबंध मे यह कह सकते हैं कि ऐसे गीत अनेक प्रतिभाओ के सम्मिश्रण से बनते हैं तथा उनसे प्रादुर्भूत लोकगीतो के स्वर तथा शब्द अनायास ही लोगो के मन पर असर कर जाते हैं और अज्ञात रूप से उनके स्वर-संगठन तथा शब्द-नियोजन मे परिवर्तन होने लगता है। यह प्रक्रिया क्यो और किस क्रम से होती है, इसका पता लगाना

आसान नही है। ऐसे गीत अज्ञात रूप से ही लोगो के कठो पर विराजते हैं तथा उनके मानस की क्रिया-प्रक्रियाओ के मुख्य विषय बन जाते हैं। गीतो के नियोजन, आयोजन से उनका कोई सबध नही रहता। धीरे-धीरे उनका प्रभाव और प्रचारक्षेत्र वढता जाता है और लोग उन्हे अनायास ही गाने लगते हैं, उन्हें विधिवत् सिखलाया नही जाता, वे सामाजिक सतान की तरह अपने सामाजिक परिवार मे खेलते-कूदते तथा विचरित होते रहते है। वे दीपक के प्रकाश की तरह फैल जाते हैं। प्रारम्भ मे उस दीपक की लौ छोटी होती है, परन्तु लोकजीवन की सशक्त अनुभूतियो के साथ समाज का सशक्त मस्तिष्क उनमे जीवन पूरता रहता है और उस दीपक की लौ अधिक प्रकाशमान और सशक्त होती जाती है। वे गीत स्वर-सयोजन, लयकारी शब्द-चातुर्य तथा अर्थ-चमत्कार की पेचीदगियो से कोसो दूर हैं, तथा स्वरो के मर्मस्पर्शी और शब्दो की अपूर्व व्यजना-शक्ति के कारण अत्यन्त प्रभावशाली होते हैं। इन गीतो के मूल रचयिता की प्रतिभा मे अनेको सामाजिक प्रतिभाओ का सामजस्य होता है, जिससे वे सैकडो वर्षो के सतत प्रयोग से जन-जीवन मे घुलमिलकर लौकिक तत्त्वो से सरावोर हो जाते हैं। इन तथ्यो के साथ दूसरा तथ्य और है, जो इन गीतो को सैकडों वर्षों तक सजीव और सप्राणित रखता है, वह है उनके साथ प्रयोक्ताओ की ममता। सैकड़ो वर्षों के सतत प्रयोग तथा लगाव के कारण मनुष्य के दु ख-सुखो से जुडे हुए ये गीत उनकी ममता के साथ लिपट जाते है तथा विवाह-शादियो, पर्व-सस्कारो, पूजा-पाठो तथा उनकी अनुष्ठानिक क्रियाओ के साथ सस्कारवत् जुड जाने से ये गीत लम्बे समय तक जीवित रह जाते हैं।

लोकगीतो का विकास

कभी-कभी हम भूल मे यह मान लेते हैं कि लोकगीत मनुष्य की अविकसित अवस्था के द्योतक हैं। यदि इस कथन मे कुछ भी तथ्य होता तो मानव की आज की अत्यन्त विकसित अवस्था मे लोकगीतो का चिन्ह भी नही वचता, परन्तु वात यह नहीं है। लोकगीतो का प्रचलन आज भी उतना ही है, जितना मनुष्य की अविकसित अवस्था मे था। वास्तव मे मनुष्य की शिक्षा, दीक्षा तथा उसकी सभ्यता के साथ उनका कोई सम्बन्ध नही है। यदि सम्बन्ध है तो उतना ही है कि मनुष्य की विकसित अवस्था के गीतो मे प्रौढता तथा साहित्यिक गुणो का वाहुल्य रहता है और अविकसित अवस्था के गीतो मे उनका अभाव। आज की आदिम जातियो के गीतो मे तथा अन्य विकसित

जातियो के लोकगीतो के गेय तत्त्वो मे समानता रहते हुए भी उनके स्वर, शब्द तथा अर्थ के रचनाकौशल मे काफी अन्तर रहता है।

उक्त दृष्टि से लोकगीतों की अनेक विकास-सीढियाँ हो सकती हैं, जैसे आदिम जातियो के गीतो मे शब्द तथा स्वरो का चयन अत्यन्त सरल तथा प्राथमिक अवस्था मे होता है। इन जातियो का सरल सक्षिप्त जीवन तथा इनका निर्लिप्त सामाजिक गठन इनके गीतो मे दर्पण की तरह प्रतिविम्वित होता है। इनके गीत भी स्वर, शब्द तथा अर्थ की दृष्टि से अत्यन्त सरल तथा संक्षिप्त होते है। इसी तरह मानवी सभ्यता के प्रभावो से दूर रहनेवाली तथा शिक्षा-दीक्षा और मानवी अनुभूतियो से हीन जातियो के गीत भी आदिम जातियो के गीतो की तरह ही सरल और सक्षिप्त होते हैं। उनकी सास्कृतिक उपलव्वियो के अनुरुप ही उनके गीतो का चयन होता है। यही कारण है कि जव हम शिक्षित और सभ्य कहलानेवाले प्राणी इन अविकसित जातियो के गीत सुनते हैं तो वे हमे अधिक प्रिय और रुचिकर नही लगते। इसका कारण यह नही है कि वे गीत लोकगीतो के दर्जे से नीचे है। कारण केवल यही है कि उन्हे सराहने और आत्मसात् करने के लिये हमारे पास सवेदना नही है। जो गीत उन आदिम जातियो के मन मे आनन्द का सचार करते हैं, या जिनको वे आत्मसात् करके आत्मविभोर हो जाते हैं, उनसे हम प्रभावित नही होते, क्योकि उन्हे सराहने योग्य विशिष्ट परिस्थितियो और अनुभूतियो से हम दूर हैं।

सास्कृतिक विकास की इन अवस्थाओ के अनुसार लोकगीतो की विविध विकास-सीढियो का कभी यह तात्पर्य नही है कि जो अशिक्षित वर्ग है, उसके गीत साहित्यिक तथा सगीतिक तत्त्वो से हीन होते हैं और जो शिक्षित समाज है, उसके गीत ही विकसित हैं। अविकसित समाज के गीतो मे शव्द, स्वर तथा तात्पर्य की सरलता अवश्य होती है, परन्तु गीतो का स्वाभाविक सौन्दर्य तथा उनके मर्मस्पर्शी गुण विकसित समाज के गीतो से किसी तरह कम नही होते। यदि कोई कमी होती है तो उनके कल्पना-सौन्दर्य तथा अर्थ और शब्द वैविध्य मे होती है, जिसका गीत के मर्म से अधिक कोई सवन्ध नही होता है। कभी-कभी तो सभ्यता तथा यात्रिक जीवन की चकाचौंध मे ये सभ्य तथा विकसित समाज के गीत वौद्धिक तत्त्वो से दव जाते हैं तथा ग्राम्यगीतो की तुलना मे अपने मर्मस्पर्शी तत्त्वो को खो वैठते हैं। यही कारण है कि कभी-कभी गाँवो मे रहनेवाला पुस्तकीय ज्ञान से हीन; परन्तु मानवीय ज्ञान और अनुभूतियो से परिपक्व समाज ऐसे लोकगीतो का धनी होता है, जो गीति-तत्त्वो से भरपूर होते हैं।

लोकजीवन की अनेक ऐसी अवस्थाएँ भी हैं, जिनके अनुसार गीतो के स्वर तथा शब्दो मे अतर आता रहता है। लोकगीत जब अपनी सामाजिक सीमाओ को पार करके कुछ व्यवसायिक और विशिष्ट जातियो की धरोहर बन जाता है तो भी उसमे फर्क आ जाता है। ये जातियाँ मूल गीत की स्वर तथा शब्द-रचना को कायम रखती हुई भी उनमे वैयक्तिक स्वतत्रता ले लेती है, और उन्हे अपने ढग से गाने लगती है। इन जातियो को अपनी आजीविका उपार्जन हेतु तथा अन्य जातियो के साथ व्यवसायिक प्रतिस्पर्धा के कारण अपनी कलाकृतियो को चमत्कृत करनी पडती है, जिससे ये सामाजिक लोकगीत एक विशिष्ट परिपाटी का अनुशीलन करने लगते हैं और मूल लोकगीतो से कुछ भिन्न से लगते है। उनकी गायन-शैली मे कुछ शास्त्रीय तत्त्वो का आभास होने लगता है और गायक अपने विशिष्ट व्यक्तित्व की छाप उन पर अकित कर देता है।

इसी तरह की दूसरी मिसाल है इन गीतो की जो शौकिया ढग से गाने-वाले कुछ शहरी लोगो के कठ पर विराज जाते हैं। ऐसे लोग इन गीतो का अत्यधिक परिष्कार कर देते हैं, विशेष करके स्वर तथा शब्दोच्चार मे, जिनमे इन गीतो के प्राण निहित रहते हैं। वे उन्हें तान, मुरकियो तथा विशिष्ट लहजो से इतना अलकृत कर देते हैं कि वे अपना स्वाभाविक सौन्दर्य खो बैठते हैं तथा गायन की लोकशैली से काफ़ी दूर हो जाते हैं।

दूसरी अवस्था वह है, जब समस्त समाज ही सास्कृतिक तथा शैक्षणिक स्तर को प्राप्त करता है। ऐसी अवस्था मे लोकगीतो का स्तर भी बढ़ता है। लम्बे समय से प्रचलित लोकगीत स्वय भी लोकमानस के परिवर्धन तथा परिष्कार के साथ सशोधित एव परिष्कृत होते रहते हैं और नवीन परिधान धारण करते रहते हैं। वे जीवन के साथ इतने घुलेमिले रहते हैं कि इस सूक्ष्म परिवर्तन का किसी को पता भी नहीं रहता। वे सैकड़ो वर्षों से पारिवारिक जन की तरह जीवन के साथ जुडे रहते हैं। वे उन वैयक्तिक गीतो की तरह नही होते जो व्यक्तिगत रुचि-अरुचि पर अवलम्बित रहते हैं तथा जिनका व्यक्तित्व भी रचनाकार के व्यक्तित्व के साथ जुडा रहता है, परन्तु सच बात तो यह है कि लोकगीत को किसी रचयिता के व्यक्तित्व पर आधारित नही रहकर उसे स्वय के गुणो पर ही जीवित रहना पडता है।

लोकगीतो की स्वर प्रधानता

गीतो में गेय गुण की प्रधानता रहने के कारण उनके स्वरो का आधि-पत्य शब्दों पर सदा ही बना रहता है। यही ऐसा तत्त्व है जो उन्हें कविता से

अलग करता है। मणिपुर, त्रिपुरा तथा मध्यप्रदेश की आदिम जातियो के अनेक गीत ऐसे हैं जिनमे प्राय शब्द है ही नही। उनकी लयप्रधान गूंज ही उन गीतो का कलेवर होती है। ये जातियाँ अपनी नृत्य-प्रधान मुद्राओ मे इन गीतो को गाती रहती हैं। इनमे जो भी शब्द शेष रह गये हैं वे विविध परिस्थितियो मे विविध तात्पर्य धारण कर लेते हैं। सामूहिक रूप से ये गीत केवल उनकी ध्वनियो के माधुर्य के कारण ही गाये जाते हैं। कुछ शब्द उनके साथ जुडे हुए अवश्य होते हैं, परन्तु गायक का मूल आनन्दस्रोत उन गीतो की धुनो मे है, शब्द-चातुर्य मे नही। जिस तरह किसी कविता मे गेय तत्त्वो का माधुर्य विद्यमान है तो उसके शब्दो का महत्त्व भी बढता है, उसी तरह यदि किसी लोकगीत मे गेय गुणो के साथ शब्द-चातुर्य भी है तो उसके चार चाँद लग जाते हैं। यह बात भी सही है कि जिस तरह शास्त्रीय सगीत मे शब्द बिल्कुल ही गौण हो जाता है उस तरह लोकगीतो मे वह बिल्कुल ही गौण नही होता। उसके कुछ लक्षण तो जीवित रहते ही हैं। यदि लोकगीतो मे स्वरो की प्रधानता नही होती तो वे केवल अपने काव्य-गुणो के कारण इतने दीर्घजीवी नही होते। राजस्थान के सर्वाधिक लोकप्रिय गीत घूमर, पणिहारी, लूर, ईडोणी, पीपली, गोरबन्द आदि मे शब्दो का महत्त्व पर्याप्त मात्रा मे होते हुए भी वे अपने गेय गुणो के कारण ही इतने लोकप्रिय और सर्वक्षेत्रीय हो गये हैं।

लोकगीतो का प्रादुर्भाव ही स्वरो से होता है। मनुष्य अपने भावनानिष्ठ क्षणो मे अज्ञातरूप से स्वरो की सृष्टि करता है तथा उन्हे गुनगुनाता रहता है। काफी लम्बी अवधिपर्यन्त ये गीत उसके एकाकी जीवन के शृंगार बने रहते हैं तथा उसकी मानसिक अवस्था के अनुरूप ही उनमे परिमार्जन होता रहता है। उसी अवस्था मे वह उन्हें उपयुक्त शब्द देता है। ऐसे अनेक गीत रचनाकार के वैयक्तिक दायरे से बाहर निकलकर सामाजिक दायरे मे प्रवेश करते हैं और धीरे-धीरे वे सामाजिक व्यक्तित्व धारण करके रचनाकार के व्यक्तित्व से हमेशा के लिये अलग हो जाते हैं। समाज उन्हें सजाता है, सँवारता है तथा उनके समस्त दोषो को दूर कर उन्हे सच्चे हीरे की तरह चमकाता है, उन्हे अपना पारिवारिक जन समझकर उनसे अत्यधिक लगाव का अनुभव करता है।

ऐसे ही गीतो को जब मनुष्य विकास की सीढियो पर चढकर देखने लगता है तो साहित्यकार उन्हें साहित्य की कसौटी पर कसता है और सगीतकार उन्हे स्वर की भूमिका मे परखता है। दोनो ही उनमे अपूर्व कलानिधि के

दर्शन पाते हैं, परन्तु संगीतशास्त्रियो को उनमे शास्त्र के कोई तत्त्व नज़र नही आते, क्योकि राग-रागिनियो की ऊहापोह, लयबाज़ी की गुत्थियाँ और तान-पलटो के चमत्कार उनमे बिल्कुल नही होते, परन्तु विपरीत इसके साहित्य-शास्त्रियो को उनमे अनमोल खजाना मिलता है, क्योकि साहित्य के शास्त्र मे और सगीत के शास्त्र मे अतर है। शास्त्रसगत साहित्य साहित्य की परिभाषा ही मे नही आता, जबकि शास्त्रीय सगीत का प्रधान तत्त्व ही उसका शास्त्र है। जिस शास्त्रीय सगीत का शास्त्र ही नही, वह शास्त्रीय सगीत की परिपाटी मे नही आता। इसलिये लोकसगीत की ओर शास्त्रीय सगीतकार नही झुकते। जिस तरह सगीत मे लोकसगीत, सुगमसगीत तथा शास्त्रीयसगीत आदि के भेद-विभेद हैं, उस तरह साहित्य मे शास्त्रीय साहित्य, लोकसाहित्य तथा सुगम साहित्य जैसे भेद-विभेद नही है।

साहित्य के सौन्दर्य-परीक्षण मे शास्त्र बहुत ही गौण भाग अदा करता है, परन्तु हमारे भारतीय सगीत मे शास्त्र का तत्त्व बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण है। शास्त्र तो साहित्य तथा सगीत मे सुन्दरता और प्रौढता प्रदान करनेवाला तत्त्व है। यदि यह शास्त्र ही संगीत या साहित्य बन जाय तो गज़ब ही हो जाय। भारतीय शास्त्रीय सगीत दुर्भाग्य से इसी विडम्बना का शिकार बन गया है। सौभाग्य से भारतीय साहित्य, जो कि मध्ययुग मे शास्त्र की विडम्बनाओ मे उलझने लग गया था, अब प्राय उससे मुक्त होने लग रहा है। कला का उद्देश्य शुद्ध सौन्दर्य की सृष्टि करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति लोकसगीत पूर्ण ज़िम्मे-दारी से कररहा है। आज का शास्त्रीय सगीत इस दिशा मे असफल इसलिये सिद्ध हुआ कि उसने शास्त्र का अत्यधिक सहारा ग्रहण कर लिया है। साहित्य के प्रेमी लोकगीतो के साहित्यिक पक्ष की ओर आकृष्ट हुए और शास्त्रीय सगीत के आचार्य उधर आकृष्ट नही हुए, इसका कदापि यह अर्थ नही है कि लोकसगीत का सगीतपक्ष दुर्बल है और साहित्यपक्ष प्रबल। लोकगीतो की सैकड़ो धुनो के अध्ययन तथा उनके ध्वनि-परीक्षण से यह सिद्ध हो चुका है कि वे अपनी धुनो और स्वर-रचनाओ की ताक़त से ही आज जीवित हैं। इन ध्वनियो तथा सगीत की बन्दिशो के वैज्ञानिक परीक्षण के बाद यह जान-लिया गया है कि उनमे से शब्द हटा लेने पर उनके प्रभाव मे अधिक अतर नही आता।

लोकगीत अत्यधिक पुराना पडनेपर सस्कारवत् लोकजीवन से लिपटा रह जाता है तथा उसके शब्द अत्यत दुर्बल हो जाते है। कही-कही तो शब्दो का पता ही नही लगता, फिर भी वे गीत समाज की आत्मा बने हुए हैं और

उनकी मधुर धुनो से जनता रसप्लावित होती रहती है। इसका कदापि यह मतलब नही कि लोकगीतो का साहित्यिक पक्ष उनका निरर्थक पक्ष है। साहित्य और सगीत के सुन्दर सामजस्य से ही लोकगीत लोकगीत का दर्जा प्राप्त करता है। यदि सामजस्य समाप्त हो जाय तो लोकगीत समाज की सम्पत्ति नही रह कर कुछ ही पेशेवर लोगो की सम्पत्ति वन जायेंगे। लोकगीतो को उनका साहित्यपक्ष ताकत प्रदान करता है तथा उन्हे दीर्घजीवी वनाता है, परन्तु वह उसका शरीर है, उसकी आत्मा नही। शरीर मरने से आत्मा नही मरती, परन्तु आत्मा नही रहने से शरीर नष्ट हो जाता है। जिस लोकगीत का केवल शब्दपक्ष रह जाता हैं और उसका स्वरपक्ष दुर्वल हो जाता है या उसके प्रयोक्ताओ द्वारा दुर्वल कर दिया जाता है तो वह गीत मृतगीत के वरावर ही रह जाता है। ऐसे गीतो मे वे गीत शुमार होते हैं, जो पेशेवर जातियो द्वारा अपने आश्रयदाताओ तथा देवी-देवताओ के गुणगान मे प्रयुक्त होते है। उनमे जातियो के वशानुक्रम तथा उनकी नामावलियो की प्रधानता रहती है और उनके गेयतत्त्व कम होजाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि ये गीत इन जातियो के पास ही रहजाते हैं तथा जन-जीवन से दूर होते चलेजाते हैं।

इस सवध मे एक वात की ओर सकेत करना अत्यत आवश्यक है। सगीत का विद्वान् गीतो के गेयपक्ष का अध्ययन करते समय उसके शास्त्र को ढूँढता है। उसी तरह लोकगीत के साहित्यिक पक्ष के अध्ययन के लिये यदि कोई साहित्यकार उसके शास्त्रपक्ष को खोजने का प्रयत्न करे तो वहुत वडी भूल होगी। क्योकि लोकगीतो मे साहित्य का शास्त्रपक्ष शून्य है, फिर भी साहित्यिक विद्वान् लोकगीतो का काव्यात्मक मथन करता है और उनमे से अमृत निकाल ही लेता है, परन्तु यह कार्य हमारे सगीत के आचार्य नही करते। किसी भी लोकधुन को सुनकर उसमे सगीत के तत्त्व निकालने की अपेक्षा वे उसके प्रति अवहेलना का भाव प्रकट करते हैं। वे लोकगीतो के स्वर-लालित्य की खोज नही करते। वे यह जानने का प्रयत्न नही करते कि विशिष्ट गीतो मे विशिष्ट प्रकार का स्वर-चयन क्यो होता है? विशिष्ट स्वर–सगठन से विशिष्ट प्रकार का प्रभाव क्यो पैदा होता है? लोकगीतो मे शास्त्रीय सगीत पर आधारित विशिष्ट राग-रागिनियो की छाया क्यो रहती है? शास्त्रीय तालो की पेचीदगियाँ उनमे नही रहते हुए भी गाने के इतने प्रभावशाली खटके उनमे कहाँ से आते हैं? ये सव वातें ऐसी हैं, जिनका विधिवत् अध्ययन तथा परीक्षण सगीत-शास्त्रियो को करना चाहिए।

लोकगीत का रागपक्ष

शास्त्रीय सगीत की मूल रागें, जो दस थाटो से उत्पन्न हुईं मानी जाती हैं, विद्वानो की वैज्ञानिक बुद्धि तथा सूझ-समझ की द्योतक अवश्य हैं। अनेक वर्षों तक अनेक विद्वानो ने भारतीय सगीत के सात स्वर तथा पाँच विकृत स्वरो के जोड-तोड से सयत तथा कर्णमधुर रागो की कल्पना अवश्य की होगी और इस दिशा मे अनेक बौद्धिक प्रयोग भी हुए होगे; परन्तु भारतीय लोक-सगीत के परीक्षण से यह ज्ञात हो सकता है कि अनेक शास्त्रीय रागो की छाया लोकगीतो मे विद्यमान है। उनके परीक्षण से यह भी ज्ञात हो सकता है कि उनकी रचना मे किसी भी शास्त्रकार का हाथ नही है, न उनका सचरण कभी भी किन्ही स्थितियो मे किसी शास्त्रकार के कठ पर हुआ है। इस परीक्षण से शास्त्रीय रागो के प्रादुर्भाव का एक बहुत ही महत्वपूर्ण सकेत हमे उपलब्ध हो सकता है।

किसी भी लोकगीत के प्रादुर्भाव के समय जिस मानसिक या भावात्मक स्थिति में उसका आदिरचयिता रहता है, उसी के अनुसार उस गीत के स्वरो का चयन अनजान ही मे उसके अतस्तल से प्रकट होता है। उसके कठ से प्रथमवार मुखरित हुई गुनगुनाहट उसके मानस की विशिष्ट भावावस्थाओ को तुष्ट करती हैं, उस अभिव्यक्ति से उसको स्वर्गीय आनन्द का अनुभव होता है। उस गुनगुनाहट को वह शब्दो का परिधान भी अनजान ही मे पहिनाता रहता है। धीरे-धीरे यह आदिगीत अनेक कठो पर सचरित होता है और जहाँ-जहाँ उसे सामान्य मानस-अवस्थाएँ उपलब्ध हो जाती हैं, वहाँ वह रेडियो की तरगो की तरह सुखद आश्रय पाकर दीर्घकालीन सचरण की अवस्था को प्राप्त करता है तथा सशोधित एव परिवर्धित होकर वह सामाजिक कसौटी पर चढ जाता है। उस गीत की रचना के समय कोई यह नही देखता कि उसके स्वर-चयन मे कौनसा स्वर वादी, सवादी तथा विवादी है। आरोहावरोह मे स्वर-क्रम किस नियम से उसमे सचरित होते हैं तथा कौनसे स्वरो के मेल से उस राग की रचना होती है, फिर भी ऐसे अधिकाश गीतो मे इन बातो का विलक्षण निभाव मिलता है। उदाहरण के तौर पर राजस्थान के इस प्रमुख लोकगीत का परीक्षण कीजिये :—

लालर गीत

(स्थाई)

लालर लेदो नी नोणीला म्हारो जीव तरसे लालर लेदो नी

(अंतरा)

रखडी बाधूं तो म्हारे कालो डोरो आटी रो

बिंदली बिना तो म्हारो जीव तरसे लालर लेदो नी

(शेष पंक्तियां यहां उद्धृत नहीं की गई हैं।)

स्वरलिपि (ताल कहरवा)

स्थाई

												सा	–	सा	सा
												ला	ऽ	ल	र
प	–	प	नी	नी	–	सा	–	रे	–	रे	–	नी	–	सा	–
ले	ऽ	दो	ऽ	नी	ऽ	नो	ऽ	खी	ऽ	ला	ऽ	म्हा	ऽ	रो	ऽ
रे	–	रे	–	म	–	म	–	प	ध	प	म	रे	–	रे	सा
जी	ऽ	व	ऽ	त	ऽ	र	ऽ	से	ऽ	ऽ	ऽ	ला	ऽ	ल	र
नी	–	नी	रे	सा	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–
ले	ऽ	दो	ऽ	नी	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ

अंतरा

*	*	प	प	ना	–	नी	–	सा	–	सा	–	नी	–	सा	–
*	*	र	ख	डी	ऽ	वा	ऽ	घू	–	तो	ऽ	म्हा	ऽ	रे	ऽ
–	–	रे	म	–	रे	सा	–	नी	–	नी	रे	सा	–	–	–
*	*	का	लो	ऽ	डो	रो	ऽ	आ	ऽ	टी	ऽ	रो	ऽ	ऽ	ऽ
*	*	ध	ध	ध	–	ध	–	प	–	प	ध	प	म	म	–
–	–	बिं	द	ली	ऽ	बि	ऽ	ना	ऽ	तो	ऽ	म्हा	ऽ	रो	ऽ

रे	–	रे	–	म	–	म	–	प	ध	प	म	रे	–	रे	सा
जी	ऽ	व	ऽ	त	ऽ	र	ऽ	से	ऽ	ऽ	ऽ	ला	ऽ	ल	र
नी	–	नी	रे	ना	–	–	–	–	–	–	–,	मा	–	सा	सा
ले	ऽ	दो	ऽ	नी	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ,	ला	ऽ	ल	र
x				०				x				०			

इस गीत मे एक स्त्री अपने पति से विशिष्ट अलकरण लाने का आग्रह करती है। यह गीत शास्त्रीय गीत नही है, न यह किसी शास्त्रकार द्वारा ही रचित है। राजस्थान के दक्षिणी-पश्चिमी क्षेत्र मे गायाजानेवाला यह अत्यन्त प्रचलित लोकगीत है, जिसे ग्राम्यजनता ही गाती है। शास्त्रकार की कल्पना से वह कोसो दूर है। इसकी स्वर-रचना मे गौडसारग की छाया स्पष्ट है। स्वर-रचना मे आरोहावरोह की दृष्टि से भी स्वर-प्रयोग नियमित रूप से हुआ है। यह किसी शास्त्रीय गीत का विकृत या परिवर्तित रूप भी नहीं है। यह विशुद्ध लोकगीत है, जिसकी बदिश के पीछे कभी भी किसी शास्त्रकार का हाथ नहीं रहा है। एक दूसरे नमूने का परीक्षण और कीजिये –

वधावा गीत

(स्थाई)

हेली रग रो वधावो म्हारे नित नवो ए

(अतरा)

हलो ए भलो हेली वागा मे चाला
वागा मे जाय हेली कई कराला
आपी आछी आछी कलिया चूटा ए हेली

(शेष गीत यहाँ उद्धृत नही किया गया है।)

स्वरलिपि (ताल दीपचंदी)

स्थाई

										रे	प	म	—
										हे	ऽ	ली	ऽ
ग	ग	रे	सा	—	नी	—	सा	सा	—	ग	रे	रेग	म
र	ग	ऽ	रो	ऽ	व	ऽ	घा	वो	ऽ	म्हा	ऽ	रेऽ	ऽ
ग	ग	रे	सा	—	नी	—	सा	—	—,	रे	प	म	—
नि	त	ऽ	न	ऽ	वो	ऽ	अे	ऽ	ऽ,	हे	ऽ	ली	ऽ
×			२				०			३			

अंतरा

प	प	—	नी	—	नी	—	सा	—	—	रे	ग	ग	—
ह	लो	ऽ	ए	ऽ	म	ऽ	लो	ऽ	ऽ	हे	ऽ	ली	ऽ
रेग	म	—	ग	—	—	रे	नी	—	—	सा	—	—	—
वाऽ	ऽ	ऽ	गा	ऽ	ऽ	मे	चा	ऽ	ऽ	ला	ऽ	ऽ	ऽ
प	—	—	नी	—	नी	—	सा	सा	—	रे	ग	ग	—
वा	ऽ	ऽ	गा	ऽ	मे	ऽ	जा	य	ऽ	हे	ऽ	ली	ऽ
रेग	म	—	ग	—	—	रे	नी	—	—	सा	—	ग	म
काऽ	ऽ	ऽ	ई	ऽ	ऽ	क	रा	ऽ	ऽ	ला	ऽ	आ	पी
प	प	—	प	म	ध	प	म	म	—	ग	रे	ग	रे
आ	छी	ऽ	आ	ऽ	ऽ	छी	क	लि	ऽ	या	ऽ	ऽ	ऽ
रें	ग	—	ग	म	प	—	म	रे	—,	रे	प	म	—
चूं	ऽ	ऽ	टा	ऽ	ऽ	ऽ	ए	ऽ	ऽ,	हे	ऽ	ली	ऽ
×			२				०			३			

इस गीत मे एक स्त्री किसी मागलिक प्रसग के लिये अपनी सहेलियो से वाग मे जाकर पुष्प लाने का निवेदन करती है। यह गीत भी राजस्थान का अत्यत प्राचीन और लोकप्रिय गीत है, जो लगभग समस्त राजस्थान मे राजस्थानी स्त्रियो द्वारा विवाह-उत्सवो तथा मागलिक अवसरो पर गाया जाता है। इसे शौकिया ढग से गाने का कोई प्रश्न ही नही उठता। इसमे राग तिलक-कामोद की छाया स्पष्ट है, तथा इस राग की कई परम्पराओ का निभाव अत्यत स्वाभाविक ढग से हुआ है।

लोकगीतो के ये उपर्युक्त दो नमूने तो ऐसे हैं, जिनमे शास्त्रीय रागो की अधिकाश परम्पराओ का निभाव हुआ है, परन्तु अनेक लोकगीत ऐसे भी हैं जिनमे कई शास्त्रीय रागो का वहुत ही सुन्दर और स्वाभाविक सम्मिश्रण हुआ है। उनमे रागो का स्पष्ट निभाव होते हुए भी विभिन्न रागों के स्वरो का स्वाभाविक चयन मधुर प्रभाव उत्पन्न करने के लिये पूर्ण रूप से सार्थक हुआ है। जैसे –

सियाळा गीत

(स्थाई)

आज तो सियाळे घणो सी पडे ओ मेवाडा रा

(अंतरा)

ऐमू परणी छै आपरे नार ओ वादीला रा
मती ना परदेम पधारो रा आज तो ...
(शेप गीत यहाँ उद्धृत नही किया गया है।)

स्वरलिपि (ताल कहरवा)

स्थाई

		नी	सा ध(नी) – नी
		आ	ज तो ऽ सि
ध ध – ध(नी)	– म पम गम	ग – – म	ध मध नीसा नी
या ले ऽ ऽ	ऽ घ णोऽ ऽऽ	ऽ ऽ ऽ सी	प डेऽ ऽऽ ओ
सा – सा –	नी नीध नी सा	– – –, नी	सा ध – नी
मे ऽ वा ऽ	ऽ डाऽ रा ऽ	ऽ ऽ ऽ, आ	ज तो ऽ सि
		याले घणो सी	पडे ओ मेवाडा रा
×	०	×	०

अंतरा

		म	ध मध नीगा नी
		ऐ	मू पऽ ऽऽ र
सा सां – –	नी नी सा –	– सा ग ग	ऽ रें – सा
णी छै ऽ ऽ	आ प रे ऽ	ऽ ऽ ऽ ना	ऽ र ऽ श्री
नी सा – –	– नीध ध नी	– – – ध	नी ध म –
वा दी ऽ ऽ	ऽ लाऽ रा ऽ	ऽ ऽ ऽ म	ती ना प ऽ
पम गम ग म	ध मध नीमा नी	मा – – –	– नीध नी मां
रऽ ऽऽ ऽ दे	ऽ सऽ ऽऽ प नी	धा ऽ ऽ ऽ	ऽ रोऽ रा ऽ
– – –, नी	सा ध – नी		
ऽ ऽ ऽ, आ	ज तो ऽ सि	याले घणो सी पडे	ओ मेवाडा रा
×	०	×	०

इस गीत मे एक स्त्री अपने पति से यह निवेदन करती है कि सर्दी की इन रातो मे आप मुझे छोडकर परदेश नही जावें। इसकी स्वर-रचना मे राग रागेश्वरी की छाया स्पष्ट है, परन्तु इसके अतरे मे कोमल रिषभ के मिश्रण मे इसका लालित्य वढगया है। यह आवश्यक नही है कि प्रत्येक लोकगीत के स्वरो का परीक्षण शास्त्रीय रागो के नियमानुसार ही हो। यह भी आवश्यक नही है कि शास्त्रीय रागों के मान्य नियमो के अनुसार ही लोकगीतो मे रागो का पारस्परिक मिश्रण हुआ हो। जैसे – भैरवबहार, वसन्तवहार, कानडे की वहार आदि। लोकगीतो मे यह राग-मिश्रण विविध रूपो मे मिलता है। कभी-कभी तो ऐसी रागें गले मिलती हैं, जिनकी शास्त्रीय सगीतकार स्वप्न मे भी कल्पना नही कर सकते। यह मिलन लोकगीतो की दृष्टि से अत्यन्त मधुर, सार्थक तथा प्रभावशाली होता है, परन्तु इसे शास्त्र कभी स्वीकार नही कर सकता। उदाहरण के तौर पर एक राजस्थानी गीत को देखिये –

सियाळा गीत

(स्थाई)

भवर म्हाने परण पीयर मती मेलो सा
सियाळे री रैंन मे हो मारुजी भवर ''

(अंतरा)

म्हारा तो पीयरिया मे लाड घणा छै रा
दूणा डोडा जतन कराऊ सा ।
सियाळे री रैंन मे हो मारुजी ।। भवर. ..

(शेष गीत यहाँ उद्‌धृत नही किया गया है ।)

स्वरलिपि (ताल दीपचदी)

स्थाई

							नी	नी	नी	ध	नी	सा	–	–
							भ	व	र	ऽ	म्हा	ने	ऽ	ऽ
नी	नी	–	सा	–	–	मा	नी	नी	धप	ध	ध	–	प
प	र	ऽ	ण	ऽ	ऽ	पी	य	र	ऽऽ	म	ती	ऽ	ऽ
नी	ध	–	प	–	–	म	ग	रे ग	म	प	ध	–	–
मे	लो	ऽ	सा	ऽ	ऽ	सि	या	ऽ	ऽ	ळे	री	ऽ	ऽ
पध	नीसा	–	ध	–	म	प	ग	–	–	मप	गम	ग	–
रेऽ	ऽऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	न	मे	ऽ	ऽ	होऽ	ऽऽ	ऽ	ऽ
सा	रे	–	नी	मा	–,	नी	नी	नी	ध	नी	सा	–	–
मा	रु	ऽ	जी	ऽ	ऽ,	भ	व	र	ऽ	म्हा	ने	ऽ	ऽ
×			२				०			३			

अंतरा

म धप —	(ग) — — म	प नी —	नी सा — —
म्हा रा ऽ	तो ऽ ऽ पी	य रि ऽ	या मे ऽ ऽ
×	२	०	३
नी — —	सा — — सां	नी — धप	ध — प —
ला ऽ ऽ	ड ऽ ऽ ध	णा ऽ ऽऽ	छै ऽ रा ऽ
नी नी —	सा सा — —	नी नी धप	ध — — प
दू णा ऽ	डो डा ऽ ऽ	ज त ऽऽ	न ऽ ऽ क
नी ध —	प — — म	ग ग म	प ध — —
रा ऊ ऽ	सा ऽ ऽ सि	या ऽ ऽ	छे री ऽ ऽ
प-ध नीसा —	ध — म प	ग — —	मप गम ग —
रैंऽ ऽऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ न	मे ऽ ऽ	होऽ ऽऽ ऽ ऽ
सा रे —	नी सा —, नी	नी नी ध	नी सा — —
मा रु ऽ	जी ऽ ऽ, भ	व र ऽ	म्हा ने ऽ ऽ
×	२	०	३

इस मिश्रण से यह कभी नही कह सकते कि लोकसगीत मे शास्त्रीय सगीत के नियमो की अवहेलना हुई है। शास्त्रीय सगीत मे जिस मिलावट से विकृत और विकार उत्पन्न करनेवाली भाव–स्थितिया उत्पन्न होने की सभावना रहती है, वही मिश्रण इन लोकगीतों मे सुखद मनोवैज्ञानिक भाव-स्थितियां उत्पन्न करता है। इस गीत की स्वर-रचना मे विलावल राग की छाया स्पष्ट है, परन्तु इस राग का विवादी स्वर कोमल धैवत के प्रयोग से इस रचना के माधुर्य मे क्षति पहुँचने की अपेक्षा अभिवृद्धि हुई है।

कही-कही तो वेडार रागो का इतना मनमोहक सम्मेलन होता है कि उसका वर्णन नही हो सकता। उदाहरण के तौरपर एक और राजस्थानी गीत देखिये –

बना गीत

हळदीवाळा बनडा रे म्हारा मानगुमानी बनडा
राज हळदी रो पू चो पीळोरे म्हारा हळदीवाळा बनड़ा…
(शेष गीत यहाँ उद्धृत नही किया गया है।)

स्वरलिपि (ताल कहरवा)

– गम ध –	धनी मध नी सा	– नीरें सा नी	धनी ध नी सा
* हळ दी ऽ	वाऽ ऽऽ ळा ऽ	ऽ बन डा ऽ	रेऽ ऽऽ म्हा रा
–नीरेंसा नी ध	-धध मध ग –	– प म गरे सारे	गम ग – –
* माऽऽ न गु	माऽ ऽऽ नी ऽ	ऽ ब नऽ ऽऽ	ऽऽ डा ऽ ऽ
– – नी सा	नी सा ध धनी	रेंसा नी ध –	धध मध ग –
ऽ ऽ रा ज	ह ळ ऽ दीऽ	ऽऽ रो ऽ ऽ	पूंऽ ऽऽ चो ऽ
प ग रेमा सारे	नी साम ग –	–, गम ध –	धनी -धध नी सा
पी ळो रेऽ ऽऽ	ऽ म्हाऽ रा ऽ	ऽ, हळ दी ऽ	वाऽ ऽऽ ला ऽ
×	०	×	०

इस गीत-रचना मे राग रागेश्वरी की छाया स्पष्ट है, परन्तु उसे सौन्दर्य प्रदान करने के लिये राग भिन्नषडज का मिश्रण बहुत ही आकर्षक ढग से हुआ है। इसके साथ ही रागेश्वरी के शुद्ध धैवत के साथ कोमल धैवत के प्रयोग ने भी इस रचना मे चार चाँद लगा दिए हैं।

लोकगीतो के राग-चयन के अध्ययन के समय यह अवश्य ही ध्यान मे रखने की बात है कि इन गीतो की रचना शास्त्रीय नियमो के निभाव तथा बिगाड के लिये नही हुई है। ये रचनाएँ मानव के मानस की स्वाभाविक और स्वस्थ अभिव्यक्तियाँ हैं, उनमे जो भी शास्त्रीय रागो का निभाव मिलता है, वह सपूर्ण रूप से शास्त्रोक्त हो, ऐसी कल्पना करना भी अनुचित है। रागो के

भाँति-भाँति के मेल-मिलाप, उनकी छाया, प्रतिछाया का जो सुन्दर दर्शन इन लोकगीतो मे होता है, वह अन्यत्र कही नही। अच्छे-अच्छे प्रवीण शास्त्रज्ञो द्वारा रचित सुगम तथा फिल्मी गीतो मे भी वह रचना-कौशल उपलब्ध नहीं होता। इन गीतो मे माधुर्य की सृष्टि के निमित्त ऐसे-ऐसे स्वर-चयन की कल्पना साकार होती है, जो अच्छे-अच्छे रचनाकारो की कृतियो को मात करती है और जन-मानस पर स्वस्थ और स्थायी प्रभाव उत्पन्न करने मे समर्थ होती है। इसी अध्ययन और सर्वेक्षण के आधार पर एक बहुत ही महत्वपूर्ण प्रश्न उठता है कि क्या शास्त्रीय सगीत ने लोकसगीत मे प्रेरणा ग्रहण की है या लोकसगीत की आधारशिला पर ही शास्त्रीय सगीत का भवन अवस्थित है। यह ऐसा विषय है कि जिस पर अत्यत गहन और तार्किक विश्लेपण की आवश्यकता है।

लोकसंगीत तथा शास्त्रीय संगीत का पारस्परिक संबंध

उक्त विचार को अपना आधार मानकर लोकसगीत तथा शास्त्रीय सगीत का सम्बन्ध जानना भी अत्यत आवश्यक है। यह अब पूर्णरूप से सिद्ध होगया है कि लोकसगीत, शास्त्रीय सगीत का अविकसित रूप नही है और न शास्त्रीय सगीत ही लोकसगीत का विकसित रूप है। दोनो ही स्वरूप एक साथ अकुरित और विकसित होते हैं और दोनो ही एक दूसरे से प्रेरणा प्राप्त करते रहते हैं। मोटे रूप मे लोकसगीत, सगीत का लोकपक्ष है और शास्त्रीय सगीत उसका वह पक्ष है, जो व्यक्ति विशिष्ट की प्रतिभा के अनुसार विशिष्ट शास्त्र मे बध गया है। इसमे एक अनोखी बात यह है कि लोकसगीत कभी भी शास्त्रीय पक्ष को प्राप्त नही करता और न शास्त्रीय सगीत ही लोकपक्ष को प्राप्त होता है। शास्त्रीय गीत को सुगम कर देने से तथा उसे तान, पलटे, मुरकियाँ तथा स्वर सबधी रचनात्मक पेचीदगियाँ हटाकर गा लेने से ही वह लोकगीत नही बन जाता न लोकगीत को ताल, स्वर तथा तान पलटो की पेचीदगियो मे बाध देने से ही शास्त्रीय बनाया जा सकता है।

सगीत के ये दोनो ही पक्ष अनादिकाल से एक दूसरे के समकक्ष चलते आये हैं तथा एक दूसरे से प्रेरणा ग्रहण करते रहे हैं। वैदिककालीन सगीत के श्रवण से यह प्रतीत हो सकता है कि उस समय लोक और शास्त्रीय सगीत मे कोई भेद नही था। भेद तो तब हुआ जब समाज के सास्कृतिक तथा सामाजिक स्तरो मे भेद होने लगा। जन-मानस ने सगीत की एक पद्धति अपनाई और सगीत के विशिष्ट प्रेमियो ने दूसरी शैली को अपनाया। धीरे-धीरे

यह भेद बढता ही गया। इसका अर्थ यह भी नही कि सामाजिक स्तर के उतार-चढाव के अनुसार ही शास्त्रीय सगीत और लोकसगीत की प्रतिमा घटती-बढती है। यदि यह कथन सत्य मान लिया जाय कि शास्त्रीय सगीत बुद्धिजीवियो, विद्वानों तथा विशिष्ट सामाजिक स्तर के लोगो का है और लोकसगीत अशिक्षित, असभ्य, असस्कृत तथा निर्धन जनो की धरोहर है, तो आज का समस्त धनिक और विद्वद्वर्ग शास्त्रीय सगीत का ही प्रेमी तथा अनुमोदक होता और निर्धन, अशिक्षित और असभ्य लोग लोकसगीत के पूर्ण ज्ञाता समझे जाते। आज से २५ वर्ष पूर्व उत्तरी भारत के अनेक शास्त्रीय सगीतकार अशिक्षित थे और आज के अधिकाश शिक्षित और विद्वान् लोग शास्त्रीय सगीत से उतने ही अनभिज्ञ हैं। अत शास्त्रीय और लोकसगीत के अपनाव मे समाज की विशिष्ट सास्कृतिक और शैक्षणिक स्थितियाँ उत्तरदायी नही हैं।

शास्त्रीय सगीत और लोकसगीत एक वृक्ष की दो शाखाएँ हैं, न कि दुमजिले मकान की पहली और दूसरी मजिल। सगीत की ये दोनो विकास-दिशाएँ स्वतत्र हैं तथा दोनो ही प्रौढ सगीत शैलियो के दो विकसित स्वरूप हैं। शास्त्रीय सगीत के प्रेरणास्रोत व्यक्ति और शास्त्र हैं, तथा शास्त्र के नियमों मे बँधा हुआ शास्त्रीय संगीत स्वतत्रतापूर्वक विचरने का अधिकारी नही है। लोकसगीत का प्रेरणा-स्रोत जनमानस है। उसका विकास और संचरण-क्षेत्र अधिक विस्तृत है। शास्त्रीय सगीत के प्रयोग और परीक्षण के लिये शास्त्रज्ञान की आवश्यकता है तथा विशिष्ट अभ्यासक्रम से गुजरने की जरूरत है, परन्तु लोकसगीत के प्रयोग के लिये किसी अभ्यास तथा ज्ञान की आवश्यकता नही है। शास्त्रीय सगीत वैयक्तिक साधना का प्रतीक है तो लोकसंगीत सामुदायिक साधना का।

शास्त्रीय सगीत ने लोकसगीत से जो प्राप्त किया है वह कल्पनातीत है। अनादिकाल से भारतवर्ष मे सगीत-शास्त्रो की चर्चा है। सगीत रचनाएँ जब प्रौढता को प्राप्त होती हैं तभी उन पर शास्त्र बनते हैं। पहले रचनाएँ होती हैं, उनमें अनेक वाद-विवाद, प्रकार, उप-प्रकार, क्रिया-प्रक्रियाएँ बनती हैं तब शास्त्रो का आधार लिया जाता है। उच्छृङ्खल रचनाओं को नियमित करने के लिये शास्त्र दिशा-निर्देश करता है। प्रारम्भ मे शास्त्र सरल, सुगम तथा सक्षिप्त होता है। बाद मे रचनाक्रम के विस्तार के साथ वह भी पेचीदा होने लगता है। अनेक नियम, उपनियम, धारा, उपधाराओं की सृष्टि होती है। वह प्रारम्भिक सगीत-शास्त्र कैसा रहा होगा, इसकी कल्पना सामवेद की रचनाओं से की जा सकती है। सामवेद मे राग-रागिनियों की बारीकियों का समावेश

नही है। उसके वाद के सभी शास्त्र क्लिष्ट तथा पेचीदा होते गये है। भरत मुनि का नाट्य-शास्त्र, जो कि पचम वेद के नाम से प्रचलित हुआ, सामवेद से अधिक जटिल है। उसके वाद रचे हुए "सगीत-रत्नाकर" आदि शास्त्रीय ग्रथ जटिलतर वनते गये। प्रारम्भिक शास्त्रो मे रचना और शास्त्र दोनो ही समकक्ष तथा समानान्तर होगये है। कभी-कभी तो रचना स्वय ही शास्त्र वन गई है और शास्त्र ही रचना वन गया है। यही कारण है कि उस समय के साहित्य, सगीत तथा नाट्य के शास्त्र अलग-अलग नही थे। एक ही शास्त्र सवके लिये प्रयुक्त होता था। उनके अलग-अलग अस्तित्व की कल्पना कठिन थी। परन्तु शनै शनै उनका यह सामजस्य कम होता गया और सगीत का अपना अलग शास्त्र अस्तित्व मे आया। उसके लोक और शास्त्रीय दोनो ही पक्ष अलग हो गये। ऐसी स्थिति मे शास्त्रीय सगीत को अपने मूल प्रेरणा-स्रोत लोकसगीत से बहुत कुछ सीखना था। पहले जव उन दोनो का सयुक्त अस्तित्व था, तव उनकी रागे स्वभावत रचयिता के भाव-अनुभावो के साथ घुलीमिली थी। उस समय जो गीत जनता मे प्रचलित थे, वे सरल, सरस तथा भावात्मक रूप मे संचरित होते थे। वे उत्सव, समारोह, हर्ष, उल्लास के समय सामूहिक रूप से नही गाये जाते थे। धार्मिक पर्वों, पूजा, यज्ञ तथा हवनो मे विशिष्ट सिद्धान्त के अनुसार ध्वनि तथा श्वास-प्रश्वास के उतार-चढाव के साथ जो गीत गाये जाते थे, वे विशेष प्रकार के गीत थे। उनकी गायन-विधि विशिष्ट नियमो मे वँधी थी। सगीत मे ये ही दो प्रारम्भिक भेद थे। प्रथम शैली के सगीत मे स्वतत्र तथा सामूहिक अभिव्यक्ति के रूप मे मानव की उन्मुक्त भावनाएँ स्वरो और शब्दो के रूप मे गुथकर मुखरित हुई थी। उस समय ये दोनो ही पक्ष स्पष्ट थे, जो वाद मे ऐसा जान पडता है, एक तो लोकसगीत के रूप मे और दूसरा शास्त्रीय सगीत के रूप मे विकसित हुआ। यह क्रम सहस्रो वर्ष तक चलता रहा। शास्त्रीय सगीत का शास्त्र-पक्ष सगीत के विकास और प्रचलन के साथ प्रचलित होता गया तथा लोकसगीत से उसे शाश्वत प्रेरणा मिलती रही।

उधर लोकसगीत भी मनुष्य की भावात्मक अभिव्यक्ति के रूप मे जन-मानस मे विराजता गया और सतत सचरण और प्रयोग से निर्दिष्ट और सुव्यवस्थित स्वर-धारा के रूप मे प्रस्फुटित हुआ। विशेषज्ञो ने इन स्वर-रचनाओ का विश्लेषण किया। अनेक गीतो के परीक्षण से उन्हे स्वाभाविक स्वर-रचना के अनेक ऐसे सार्थक चयन का पता लगा, जो विशिष्ट भावात्मक स्थितियो मे मनुष्य की विशिष्ट सास्कृतिक पृष्ठभूमि के आधार पर जुडते मिलते हैं। उन्हें विशिष्ट रागो की सज्ञा दी गई और यह निश्चित किया गया कि

अमुक-अमुक स्वरो के चयन से एक विशेष प्रकार की धुन का जन्म होता है। इन्ही धुनो का नामकरण किया गया और उनका एक विशिष्ट शास्त्र धीरे-धीरे विकसित हुआ। उन धुनो का विश्लेषण पडितो ने अपने-अपने ढग से किया, कई निष्कर्ष निकले, कुछ निश्चित परिणामो पर पहुँचे तथा राग-रागिनियो का नामकरण हुआ। उसके वाद अनेक विद्वानो ने स्वतत्र परीक्षण व प्रयोग भी किये तथा नवीन राग रागिनियो की सृष्टि भी हुई। लोकगीतो के स्वर-चयन मे शास्त्रोक्त राग-निर्धारण न पहले ही था और न आज ही है। उनमे केवल रागो का आभास मात्र रहता है। उसी आभास के आधार पर शास्त्रीय सगीत का विस्तार-पक्ष सक्रिय होता है और मूल स्वर-चयन को स्वर-विस्तार के समय वादी, सवादी, विवादी, आरोही, अवरोही आदि के कडे नियमो मे वाँधकर शास्त्रकारो ने उन्हे विशिष्ट दिशा दी तथा उन्हे रागो के घेरे मे वाँध दिया। इस तरह अनेक लोकगीतो के परीक्षण से यह भली भाति ज्ञात होता है कि उनकी स्वर-रचनाओ मे स्वर-चयन किसी रागात्मक तथा भावात्मक वृत्ति के आधार पर ही होता है तथा उनका वीज रूप निश्चय ही शास्त्रीय रागो मे निहित है। यह आवश्यक नही है कि प्रत्येक लोकगीत का स्वर-चयन एक ही राग का द्योतक हो। रचयिताओ की मानसिक अवस्था के अनुसार अनेक रागो के आभास भी उसमे परिलक्षित होते हैं, जो कि आज भी विशेषज्ञो के अध्ययन के लिए वहुत ही दिलचस्प विषय वने हुए हैं। इन सव परिणामो से यही निष्कर्ष निकलता है कि शास्त्रीय सगीत की मूल रागो की जननी लोकसगीत ही है, तथा उसी के आधार पर शास्त्रीय सगीत की राग रागिनियो का महान् भवन अवस्थित है।

यहाँ एक महत्वपूर्ण वात की ओर सकेत करना भी परम आवश्यक है। जिस तरह शास्त्रीय सगीत का प्रेरक लोकसगीत है, उस तरह लोकसगीत का प्रेरक शास्त्रीय सगीत नही है। शास्त्रीय सगीत यदि लोकसगीत की ओर आमुख होता है तो उसकी लोकप्रियता वढती है, उसका भावपक्ष सजीव और रसमय वनता है; परन्तु यदि लोकसगीत शास्त्रीय सगीत की ओर झुकता है तो शास्त्र के वोझ से वह अपने गुणो को खो वैठता है। यह स्थिति तव आती है जव शास्त्रीय सगीतकार लोकगीतो का प्रयोग करने लगता है और शास्त्रीय शैली मे गाकर उनका स्वरूप वदल देता है। यह प्रवृत्ति आज सर्वत्र दृष्टिगत होती है। विशेषकर राजस्थान मे, जहाँ लोकगीत गानेवाली अनेक व्यावसायिक जातियाँ वन गई हैं, जो उन्हे शास्त्रीय सगीत की ओर ढकेल रही हैं। इस सयोग से जहाँ लोकसगीत की मूल प्रकृति को क्षति पहुँची है, वहाँ उससे कुछ

अत्यत आकर्षक और मनोरम लोकशैलियो की भी उपलब्धि हुई है। उनमे राजस्थान की माँडें तथा लावणिया, महाराष्ट्र के पवाड़े तथा बगाल के जात्रागीत सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं।

लोकसंगीत तथा शास्त्रीय संगीत की सन्निकटता

समाज के बौद्धिक और भावात्मक तत्व जब निकट आने लगते हैं और दोनो सामजस्यपूर्ण स्थिति मे होते हैं, तब सगीत का स्तर भी ऊपर उठने लगता है। उन्नत समाज के गीतो मे स्वर-शब्द की प्रौढता, उसके सास्कृतिक, बौद्धिक तथा भावात्मक स्तर के अनुरूप ही होती है। उनमे स्वरो का रचना-चयन सुसगठित, प्राजल तथा मनोरम होता है। अत यह कथन शत प्रतिशत सत्य है कि लोकगीत ही समाज के मानस का सच्चा चित्र प्रस्तुत करते हैं। इसी सिद्धात के अनुसार जिस समाज के सास्कृतिक तथा बौद्धिक स्तर मे विषमता कम होती है तथा जनसाधारण का भावात्मक स्तर ऊँचा होता है उसका लोकसगीत तथा शास्त्रीय सगीत निकट आने लगता है तथा जन-साधारण के लिये शास्त्रीय सगीत का समझना सुगम होता है। ऐसी स्थिति मे सगीत के ये दोनो ही पक्ष एक दूसरे से प्रेरणा ग्रहण करने लगते है। यह स्थिति दक्षिण भारत मे आज भी विशेष रूप से परिलक्षित होती है। वहाँ के लोक और शास्त्रीय सगीत मे इतनी विषमता आज भी नही है, जितनी उत्तर भारत के लोक और शास्त्रीय सगीत मे है। इसी तरह यूरोप के उन्नत देशो के सगीत की लोक और शास्त्रीय शैलियो मे उतना अतर नही है, जितना हमारे देश मे है। उत्तर भारत मे तो यह विषमता चरम सीमा तक पहुँच गई है। यही कारण है कि शास्त्रीय सगीत जन-साधारण से इतना दूर है और शिक्षित समाज लोकसगीत से कतराता है। सामाजिक स्तर की समता की स्थिति मे लोकसगीत का स्तर ऊपर उठता है और शास्त्रीय सगीत शास्त्र की जटिल-ताओ को छोडकर भाव-पक्ष को ग्रहण करता है। यह सिद्धांत एक महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर सकेत करता है। जिस समाज का शास्त्रीय सगीत शास्त्र की जटिलताओ मे बँधा रहकर भाव-पक्ष की अवहेलना करता है उसका सास्कृतिक धरातल निश्चय ही विषमताओ से भरा हुआ होता है। यह विशेष स्थिति सामाजिक विषमताओ के साथ ही उत्पन्न होती है, जबकि सगीत के कुछ आचार्य अपनी साधना को चरम सीमा पर पहुँचने की आकाक्षा मे समाज की अवहेलना करने लगते हैं। समाज की सास्कृतिक समता की स्थिति मे यह क्रम उलटा हो जाता है।

क्या लोकसंगीत का कोई अलिखित शास्त्र है ?

शास्त्र-सगत सगीत ही शास्त्रीय सगीत है और लोकसगीत का कोई लिखित शास्त्र नही है, यह सर्वमान्य बात है। शास्त्र का निरूपण तथा शास्त्र की सृष्टि करने तथा किसी रचना को शास्त्रोक्त बनाने का काम पडितो का है। लोकसगीत का यदि कोई शास्त्र होता तो वह शास्त्रीय सगीत ही कहलाता, परन्तु उसका शास्त्र नही होते हुए भी उसकी अपनी कुछ परम्पराएँ हैं, जिनमे उसे विचरना तथा जिनकी मर्यादाओ मे रहना पडता है। यह एक प्रकार से उसका शास्त्र ही है। इन मर्यादाओ से यदि लोकसगीत मुक्त हुआ तो निश्चय ही वह अपने दर्जे से गिर जायेगा। ये परम्पराएँ समाज द्वारा दी हुई उसकी शाश्वत परम्पराएँ हैं, किसी व्यक्ति-विशेष की देन नही। लोकसगीत की ये परोक्ष परम्पराएँ अलिखित होते हुए भी सर्वविदित है, जिनका अनुशीलन अनादिकाल से हो रहा है। उनकी रूपरेखा इस प्रकार है –

(१) लोकसगीत का स्वर-पक्ष शास्त्रीय सगीत के स्वर-विज्ञान से शासित नही होता। वह दीर्घकाल से सचारित होनेवाले किसी विशिष्ट स्वर-चयन का विकसित और सर्व लोकप्रिय रूप है, जो जन-मानस को समान रूप से आन्दोलित करता है।

(२) लोकसगीत के स्वर किसी जाने माने विधि-विधान के अनुसार नहीं मिलाये जाते। वे जन-मानस की अनुभूतियो से ओत-प्रोत होते हैं तथा मनोवैज्ञानिक आधार पर अपने आप मिलते हैं।

(३) लोकसगीत के स्वर-चयन तथा उसकी सचार-योजना मे किसी प्रकार का परिवर्तन उसके प्रवाह मे घातक सिद्ध होता है।

(४) लोकसगीत की स्वर-लहरियाँ लवे अतीत को छूकर लम्बे भविष्य की ओर अग्रसर होती हैं तथा काल, स्थान एव समय की समस्त मर्यादाओ से ऊपर उठकर दीर्घजीवी हो जाती हैं।

(५) लोकसगीत के पीछे समाज का भावात्मक सबध होता है। उस पर किसी प्रकार का आघात सीधे समाज पर आघात होता है।

(६) लोकसगीत के पीछे अवसरो का महत्त्व विशेष होता है, समय का नही। वह किसी भी समय गाया जा सकता है, परन्तु विशिष्ट अवसरो के साथ वह भावात्मक सबध मे जुडा रहता है। शास्त्रीय सगीत जिस तरह समय के साथ बधा रहता है, उसी तरह लोकसगीत बहुधा अवसरो के साथ जुडा रहता है।

(७) शास्त्रीय सगीत के विवादी स्वरो की तरह ही लोकसगीत के विवादी स्वर वे होते हैं, जो ऊपर से उन पर थोप दिये जाते हैं। लोकसगीत मे नियत स्वर-सगठन के अलावा अन्य किसी प्रकार की स्वतत्रता की गु जाइश नही है। उसमे किसी प्रकार का परिवर्तन विवादी स्वर ही का काम करता है।

(८) लोकसगीत के शब्द स्वरो की तरह ही जकडे रहते हैं। जिस तरह स्वरो की दृष्टि से उनमे कोई आजादी नही चल सकती, उसी तरह शब्दो मे भी कोई हेरफेर सभव नही होता। उनमे किसी भी प्रकार का जोडतोड विवादी स्वर की तरह ही वर्ज्य है।

(९) शास्त्रीय संगीत की नियत मीड मूर्छनाओ की तरह ही लोकसगीत मे भी अपने विशिष्ट लहजे होते हैं, जो स्वरो के सचार मे प्रयुक्त होते हैं। इन लहजो का लोप लोकगीतो के शास्त्र का जबर्दस्त उलघन समझा जाता है।

(१०) शास्त्रीय सगीत की तरह ही लोकसगीत के स्वरो का अपना विशिष्ट घुमाव-फिराव होता है, जिसका प्रतिपालन नितान्त आवश्यक है।

(११) लोकसगीत मे उसके विशिष्ट स्वर-चयन के अनुसार उसकी गू ज, झटके तथा खटके होते हैं, जिनका निभाव अत्यत आवश्यक है।

(१२) लोकसगीत का प्रत्येक गीत ही उसकी एकमात्र इकाई है, जबकि शास्त्रीय सगीत की इकाई है उसकी राग तथा उसका स्वरूप। विशिष्ट लोकसगीत अपनी विशिष्ट स्वर-रचना का धनी है और वही उसकी राग है। शास्त्रीय सगीत मे राग के अनुसार अनेक गीतो की रचना होती है, परन्तु लोकसगीत मे लोकगीत स्वय मे इकाई है, उसकी देखादेखी कोई अन्य रचना लोकसगीत के परिवार मे प्रविष्ट नही हो सकती।

(१३) लोकसगीत मे भी शास्त्रीय संगीत के घरानो की तरह ही जातिगत गायकी की छाप रहती है, जो उस गीत-विशेष को विशेषता प्रदान करती है तथा उसका व्यक्तित्व बनाती है।

(१४) जिस तरह शास्त्रीय सगीत की ध्रुपद गायकी मे प्रौढता, ख्याल शैली मे कल्पना की उडान तथा ठुमरी टप्पा मे चपलता होती है, उसी तरह लोकसंगीत की भजन-कीर्तन की गायकी मे प्रौढता, देवी-देवताओ के गीतों मे गभीरता, पारिवारिक गीतो मे शृ गारिकता तथा मादकता होती है।

(१५) लोकसगीत की लय मे सरलता तथा एकरूपता होती है और उसकी विशिष्ट स्वर-रचना के अनुसार विशिष्ट जगह ताल का मान (सम)

रहता है। तालो मे भी मात्राओ तथा खाली भरी की प्रधानता नही रहकर लय के चमत्कार की ओर विशेष ध्यान रहता है। लय का यह चक्र गिनतियो मे अवश्य बँधा रहता है, परन्तु लय की पेचीदगियों को वह मान्यता नही देता।

(१६) लोकसगीत मे लय की प्रधानता रहती है। लय-प्रधान गीत ही लोकप्रिय होते हैं। लय की वक्रता उनकी व्यजनात्मक शक्ति को नष्ट कर देती है।

(१७) शास्त्रीय सगीत मे जिस तरह स्वर-समूह के स्वरूप मे प्रत्येक राग की पकड होती है, उसी तरह लोकसगीत मे भी प्रत्येक गीत के विशिष्ट लहजे, गू ज, आलाप तथा मुरकियाँ होती हैं, जो इन गीतो की पकड़ ही के समान है। ये पकडें लोकसगीत मे गीत सापेक्ष होती हैं और शास्त्रीय सगीत मे राग सापेक्ष। एक राग के अनेक गीत होते हैं, परन्तु प्रत्येक गीत की अलग पकड होना आवश्यक नही है। यह पकड इन गीतो की रागो के स्वर-विस्तार मे निहित रहती है, जबकि लोकसगीत मे ये पकडें गीतो की स्वर-रचना ही मे निहित रहती हैं।

(१८) लोकसगीत मे कही आलाप-पक्ष प्रधान रहता है तथा कही तान-पक्ष। ये आलापें तथा ताने शास्त्रीय सगीत की स्वतत्र आलाप तानो की तरह नहीं होती, वे बोल तान की तरह होती हैं, जो गीतो की रचना ही मे पूर्व निर्धारित रहती हैं। शास्त्रीय गीत की गायकी की तरह गायक उनमे किसी प्रकार की स्वतत्रता नही ले सकता।

(१९) लोकसगीत मे शास्त्रीय गीतो की तरह स्वर-विस्तार नही होता, न उन्हे आलाप तान तथा बोल तानो से अलकृत किया जाता है। उन्हे इस तरह अलकृत बनाने की कोई प्रणाली नही है। उनका अलकार गायक की रसभीनी आवाज़ तथा प्रभावोत्पादकता ही है।

लोकसगीत की परम्पराएँ शास्त्र की तरह ही मान्य समझी जाती हैं। कुछ हद तक उनका पालन शास्त्रीय सगीत की मर्यादा-पालन से भी अधिक कठोर है। ये मर्यादाएँ तथा परम्पराएँ आचार्यों तथा शास्त्रकारो ने नही थोपी हैं, वरन् समाज ने स्वय अपने ऊपर लगाई हैं, जिससे लोकसगीत का अबाध सौन्दर्य अक्षुण्ण बना रहे। लोकसगीत की रचनाएँ इसी कारण बहुत बड़े क्षेत्र मे अपना विशिष्ट स्वरूप बनाये रखने मे समर्थ रहती हैं, जबकि शास्त्रीय सगीत की रचनाएँ अपने व्यक्तिगत प्रयोक्ताओ द्वारा परिवर्तित होती रहती हैं और प्रत्येक गायक राग-पक्ष को अक्षुण्ण रखते हुए भी उसकी रचना

मे काफी आजादी ले लेता है। शास्त्रीय सगीत को शास्त्र के बंधन मे रहना पडता है। यह शास्त्र सतत उपयोग, अध्ययन, अनुभव तथा वैज्ञानिक शोध के परिणामस्वरूप विकसित हुआ है, उसी तरह लोकसगीत का शास्त्र अलिखित होते हुए भी उतना ही अनुभवसगत और वैज्ञानिक है, जो परम्परा से हमे प्राप्त हुआ है।

लोकगीतो का ध्वनि-पक्ष

लोकगीतो के स्वर-पक्ष की तरह ही उसका ध्वनि-पक्ष भी अत्यत महत्व-पूर्ण है। यह इतना सूक्ष्म और गहन पक्ष है, जो बहुधा सामान्य जन की समझ से बाहर होता है। इन गीतो की बदिशो तथा धुनो मे साम्य होते हुए भी उनकी गायकी मे एक विशेषता होती है, जो गायक के गले मे निहित रहती है, गीत की स्वर-रचना मे नही। लोकगायको का यह ध्वनि-पक्ष, गीतो की बदिश तथा स्वर-रचना से कही अधिक महत्वपूर्ण है। लोकगीत वास्तव मे लोकगायक के गले पर ही फबता है, अन्य गायक चाहे कितनी ही चतुराई से उसकी वास्तविक धुन ही मे क्यो न गाये, वह बात उसमे पैदा हो ही नही सकती। यह विशेषता लोकगीत-गायको को अभ्यास से प्राप्त नही होती। यही कारण है कि जब लोकगीत किसी लोकपक्ष-विहीन कठ पर उतरता है तो उसकी ध्वनिगत विशेषता समाप्त हो जाती है। यह विशेषता गीत की राग, तान, आलाप तथा स्वरो के तोडमरोड मे निहित नही रहती है। गायक के कठ मे कितना ही मिठास या लालित्य क्यो न हो, वह सगीत विद्या मे कितना ही पारंगत क्यो न हो, वह इस खूबी को प्रकट कर ही नही सकता। उदाहरण के तौर पर आज लोकगीतो के अनेक प्रेमी अपने देश मे विद्यमान हैं। वे उनका सकलन, अध्ययन तथा अभ्यास भी करते हैं, परन्तु उनके नकलीपन का पता लगाना कठिन नही है। रेडियो पर उनका प्रयोग करनेवाले तथा शौकिया ढग से अनेक सास्कृतिक समारोहो मे गानेवाले गायक इन लोकगीतो को मिठास अवश्य प्रदान कर देते हैं, परन्तु उनकी स्वाभाविक परिचालन-विधि को प्रकट नही कर सकते।

इस सबध मे उदाहरण के रूप मे एक विशेष बात की तरफ पाठको का ध्यान आकर्षित करना आवश्यक है। लोकगीत गायकी तथा ध्वनि-पक्ष की दृष्टि से बगाल के गीतो मे एक ऐसी विशेषता है, जो अन्य गीतो मे नहीं है। गायक प्रत्येक गान को गाते समय हृदयस्पर्शी स्वर-स्पदन-तत्व को प्रधानता देता है, जिससे गीत भावोद्रेक की दृष्टि से प्रत्येक श्रोता को मर्माहत कर देता

है। वही गीत उसी धुन मे कोई अवगाली व्यक्ति गावे तो उसकी अदायगी मे वह भावप्रवणता का अभाव सर्वाधिक खटकने वाला होगा। इसी तरह पजाबी गीतो की गायकी मे स्वरो को सशक्त बनाकर तथा उन्हे झटका देकर गाने की प्रधानता रहती है। प्रत्येक पजाबी गायक अपने लोकगीत को इसी सशक्त प्रणाली से गाता है। महाराष्ट्र के लोकगीत-गायको मे स्वर की ठोस गभीरता को व्यक्त करने की चेष्टा रहती है। राजस्थानी गायको मे पजाब, महाराष्ट्र की मिलीजुली गायन-विधि विद्यमान है। दक्षिण भारत, आन्ध्र, तजोर तथा कर्नाटक के गीतगायको मे स्वर को विचित्र प्रकार से मोड देकर गाने की प्रणाली है, जिससे स्वर के साथ ही जो मुरकियाँ झटके से ली जाती हैं, उनमे स्वर के तनिक विकृत पक्ष को छूने की प्रवृत्ति रहती है। लोकगीत गायकी की अदायगी सबधी ये विशिष्ट तत्व ही उन्हें क्षेत्रीय विशेषताओ मे बाँधते हैं।

इन क्षेत्रीय विशेषताओ से कही ऊपर एक दूसरी प्रवृत्ति और है जो गायक को अपनी परम्परा मे प्राप्त होती है और जिसका सबध उसके स्वरोच्चार से रहता है। गीतो के स्वर और शब्द तो गाते समय अपनी स्वाभाविकता ही में व्यक्त होते हैं, परन्तु उनका उच्चारपक्ष एक विशेष खूबी रखता है, जो विशिष्ट शैली के लोकगायको मे विद्यमान रहता है। स्वरोच्चार के इन शैलीगत तत्वो को विश्व की किसी वैज्ञानिक स्वरलिपि मे नही लिखा जा सकता, न इनका कोई बौद्धिक विवेचन, विश्लेषण तथा प्रदर्शन ही हो सकता है। केवल ध्वनि-सकलन यत्र द्वारा ही वे ध्वनि-सकलित हो सकते है।

इस तथ्य को समझे बिना ही बहुधा अपरपरावादी गायक लोकगीतो को, चाहे वे उत्कृष्ट ढग से ही क्यो न गाते हो, अनजान मे सुगम गीत की शैली प्रदान कर देते हैं। ये लोकगीत जब अपनी क्षेत्रीय या जातीय विशेषताओ के साथ मूल लोकगायको के कठ पर उतरते है तब तो ये लोकगीत रहते हैं और जब वे विपरीत कठो पर प्रयुक्त होते हैं तो वे अपना स्वरूप ही बदल देते हैं। यह तत्व व्यावसायिक लोकगीतो मे अपना विशेष महत्व धारण करता है। राजस्थान की ढोली तथा मिरासी जातियो को ही लीजिये। उनकी स्त्रियाँ लोकगीत गाने मे प्रवीण समझी जाती हैं। इनकी एक विशिष्ट आवाज़ होती है जो लाखो मे पहिचानी जा सकती है। बगाली गायिकाओ की तरह इनमे स्वर-कम्पन तथा भाव-प्रवणता लेशमात्र भी नही होती। वे सीधे तथा सशक्त तरीके से स्वरो मे मिठास भरती हुई गाती चलती हैं। गीतो के भावार्थ से

उनका कोई सरोकार नही रहता। वे गीत की स्वर-रचना का पूर्ण आनन्द लेती हुई उसके सौन्दर्य को निखारती हैं। ध्वनि-विस्तारक यत्र की उन्हे आवश्यकता नही होती। उनके सशक्त स्वर-तत्व नगे कानो से आसानी से सुने जा सकते हैं। इन ढोलनियो और मिरासिनियो की गायकी मे गीतो का लोकपक्ष कूट-कूटकर भरा है। ये गायिकाएँ वे ही गीत गाती हैं, जो साधारणत सभी जगह गाये जाते है। उनकी स्वर-शब्द-रचना भी प्राय वही रहती है, परन्तु इन गायिकाओ के कठ पर उतरते ही ये गीत एक विशिष्ट स्वरूप प्राप्त कर लेते हैं, जो इनकी गायकी के विशिष्ट शैलीगत तत्वो मे निहित रहते है। ये ही गीत जब साधारण जन द्वारा गाये जाते हैं तो ऐसा लगता है कि उनके स्वरो के विशिष्ट कोने घिस गये हैं तथा स्वर-रचना की मौलिक वारीकियाँ लुप्त होकर रचना का केवल मोटा-मोटा ढाँचा शेष रह गया है। उक्त विशिष्ट व्यवसायिक गायिकाओ के कठ पर ये गीत न केवल शैलीगत तत्वो को आत्म-सात करते है, वल्कि मौलिक स्वर-रचना की सूक्ष्म व्यजनाओ को भी उनके चरम सौन्दर्य तक पहुँचा देते हैं।

यही विशेषता लोकनाट्य-गायको मे पाई जाती है। परम्परागत लोकगीतो की गायकी का सही प्रतिपादन करनेवाले ये ही परम्परावादी लोकनाट्य-गायक हैं जिनके ऊँचे स्वरो मे फिरनेवाले गले मीलो दूर आवाज फेकते हैं। जीवन के दैनिक प्रयोग मे, ऐसा प्रतीत होता है कि, इनका यह रगमचीय गला सुशुप्त और साधारण वोलचाली गला सक्रिय रहता है। व्यावहारिक वोलचाल मे कोई यह अदाज़ नही लगा सकता कि रगमच पर उतरकर उनके ये फटे तथा भोंडे गले तीव्रतम होकर स्वरो की गगा बहावेंगे। दगल मे उतरकर उनके गले धार पर चढ जाते हैं और जैसे-जैसे नाटक की रगत वढती जाती है, उनके गले भी तीर की तरह श्रोताओ के मानस पटल पर चुभते जाते हैं। कभी-कभी तो उनकी सगत करनेवाले साज़िदो को भी अपनी असमर्थता प्रकट करनी पडती है क्योकि जिन स्वरो पर उनके गले फिरने लगते हैं उनको वहन करने की सामर्थ्य उनके तारो मे नही होती। जैसे-जैसे रात वीतती जाती है, प्रदर्शक और दर्शक नाटक की उतरागीय सीमा को पार करने लगते हैं। ये स्वर भी अपनी चरम सीमा को छूकर साज़ और साज़िन्दो पर छा जाते हैं। इस विभोरावस्था मे साज हाथो से कव छूट जाते हैं, स्वय वाद्यकारो को भी पता नही रहता। गीतो की गगा वहती ही रहती है, गायक गाता ही चलता है, श्रोता झूमते ही रहते हैं और ऐसा रसरजिन वातावरण वन जाता है कि जैसे विन वजाये ही साज वज रहे हैं।

नाटक के अवसान के साथ साज पुन बजने लगते हैं, गले फिर से चल पड़ते हैं और नाटक की आरती होते-होते गायको के गले अपनी प्रारभिक अवस्था को प्राप्त करने लगते हैं। नाटक ममाप्त हो जाता है, गायको के गले ठडे पड जाते हैं और सुवह होते-होते वे फूटे ढोल की तरह वोलने लगते हैं। दिन मे इन गायको से वोला भी नही जाता, इशारो से वातें करनी पडती हैं। पुन शाम होते-होते वे घार पर चढने लगते है और पुन रगमच पर चढने-चढते उनमे तेजी आने लगती है।

इस विशिष्ट प्रकार की गायकी तथा गले के इस विशिष्ट तत्व मे मवाद वहन करने तथा अभिनय को उत्तेजित करने की अद्वितीय शक्ति होती है। इनमे एक विशिष्ट लहजा होता है जो शरीर की अभिनय मुद्राओ को सुस्पष्ट तथा विभिन्न भाव-मुद्राओ की सृष्टि करता है। यही कारण है कि नाट्य-अभिनेता एक विशिष्ट व्यक्ति होता है जो अभिनय भी करता है और स्वय गाता भी है। लोकनाट्यो मे पृष्ठ-गायकी को कोई स्थान नही है। वह अपनी शैली का सफल गायक है। अन्य गीत उसके गले पर फवते ही नही हैं। यह गायकी की शैलीगत विशेषता उसे परम्परा और नित्य के रगमचीय व्यवहार से प्राप्त हुई है।

ऐसी ही ध्वनिगत विशेषता याचक गीतकारो मे भी होती है। ये गीतकार भी वशानुक्रम से गीतकार हैं। अपने यजमानो के यहाँ गाकर ही वे अपनी आजीविका उपार्जन करते हैं। इनकी आवाजो मे एक विचित्र सा मचकीलापन होता है जो स्वरो को चवाने तथा उन्हे विचित्र प्रकार का घुमाव देने मे निहित रहता है। वे सर्वविदित और सर्वप्रयुक्त गीतो ही मे एक प्रकार की विशेपता प्रकट करते हैं। ये याचक जव अपने यजमानो की ड्योढी पर माँगने जाते हैं तो साधारणत यजमानो की उनके प्रति अवहेलना की दृष्टि रहती है। उनकी आतरिक चेष्टा यही रहती है कि वे याचक उनमे विना कुछ पाये ही उनकी ड्योढ़ी से हट जावें। याचक अपने दाताओ की इस प्रवृत्ति को खूब समझता है, अत उन्हे अपने प्रचलित गीतो की धुनो मे ऐसी ध्वनिगत हरकतें पैदा करनी पडती हैं जो यजमान का ध्यान उनकी ओर आकर्षित कर सकें। वे गीतो की प्रचलित वन्दिशो मे रहते हुए भी स्वरो मे एक प्रकार का खिंचाव, किलकारीयुक्त विकार तथा नासिकी प्रभाव उत्पन्न करते हैं जो गीतो मे मनोरजनकारी शक्ति पैदा करते हैं और उनका मनोरथ पूरा होता है।

यही युक्ति घूम-घूमकर वेचनेवाले गायक भी काम मे लेते हैं। ये लोग चूर्ण, दैनिक घरेलू दवाइयाँ, दैनिक उपयोग की सामग्री, वच्चो के लिये चटपटी

चीजें, खिलौने आदि वेचनेवाले घुमक्कड व्यापारी होते हैं जो अपने व्यवसाय सबधी गीत-परम्परा से गाते चलते हैं। विशिष्ट विक्रय सवधी सामग्री के साथ परम्परा से जुडे हुए ये गीत अत्यत लोकप्रिय गीत होते हैं और दूर से ही उन्हे सुनकर यह पता लगाना कठिन नही होता कि कौनसी सामग्री विकने के लिये आई है। अपने ग्राहको का ध्यान आकर्षित करने के लिये ये अपने गीतो मे इतना अद्भुत मोड देते हैं कि अनायास ही लोग उनकी तरफ खिचे चले आते हैं। इन विक्रेताओ को प्राय गद्य का उपयोग करना ही नही पडता। इनके गीत स्वय मे अर्थ और स्वरो के वैचित्र्य की दृष्टि से परिपक्व होते हैं।

मेहनत के साथ जो गीत जुडे हुए हैं, उनमे भी एक ध्वनिगत विशेषता रहती है। ये वहुधा वे ही प्रचलित गीत होते हैं जो विविध प्रसगो पर गाये जाते हैं, परन्तु श्रम के विविध प्रकारो की शारीरिक हरकतो के साथ उनके स्वरो मे भी एक विशिष्ट हरकत पैदा होती है। सडक कूटनेवाले, छत दवाने वाले तथा वजन उठाकर ढोनेवाले लोग अपनी श्रमसाध्य थकान को दूर करने के लिये गीत गाते हैं। श्रम के विशिष्ट धक्को पर वे अपने गीत की धुन और लय मे भी विशिष्ट धक्के लगाते चलते हैं।

ततु वाद्यो पर गानेवाले घुमक्कड गायको मे भी ध्वनिगत एक ऐसी विशेषता रहती है जो उन्हे निरतर व्यवहार और परम्परा से प्राप्त होती है। वे अपनी आवाजों को वाद्यो से स्फुरित होनेवाली झकार के अनुरूप ही वना लेते हैं, जैसे – सारगी, कमाचा तथा रावणहत्था पर गानेवाला अपने गीत को अजाने ही इस तरह घिसता है कि उसकी स्वय की आवाज़ भी तारो की तरह ही घिसने लगती है। तालवाद्य के साथ गानेवाले गायक की आवाज निरतर व्यवहार के कारण वाद्य की तरह ठुमक-ठुमक करती रहती है। उसमे एक विचित्र सी गूंज गूंजती रहती है। चुटकवाद्य पर गानेवाले गायक के स्वरो मे टुकड़े-टुकडे करके धुन निकलती है और स्वर चुटकियाँ भरने लगते हैं। गजवाद्यो के साथ गानेवाले गायक की आवाज लम्वी-लम्वी खिचती है। उसमे तारो की सी झकार निकलती रहती है।

अतिशय मेहनत के साथ नृत्य करते हुए व्यावसायिक नर्तक की आवाज मे भी एक विशेषता रहती है। उसका गला मर्राया हुआ तथा आवाज अत्यंत दुर्वल रहती है। लोकनाट्य-गीत-गायको की तरह उसकी आवाज़ नाट्य की अभिवृद्धि के साथ तेज़ी पर नहीं आती, न उसमे कोई निखार उत्पन्न होता है। जैसे-जैसे उसका नृत्य वुलदी पर आता जाता है वैसे-वैसे उसकी आवाज़

बैठ्ती जाती है तथा उसमे भौडापन आजाता है। परन्तु ऐसे नृत्य-प्रदर्शनो मे, नृत्यो की प्रधानता होने के कारण, गीत की दुर्बलता पर कोई ध्यान नही देता, परन्तु यदि नाट्य-प्रदर्शन मे नाचते समय गीत दुर्बल होजाते हैं तो यह गायक की सबसे बडी कमजोरी समझी जाती है। क्योकि इन नाट्यो मे नाट्य-नृत्य मे भी अधिक गीतो की प्रधानता रहती है। यही कारण है कि नाट्य-अभिनेताओ की यह विशेषता एक बहुत बडा वरदान समझी जाती है। तीव्रतम नृत्य के साथ गीत गानेवाले नर्तक गायन मे पारगत होते हुए भी कभी-कभी बेसुरे गाने लगते हैं, फिर भी उनके नृत्य-चातुर्य के कारण वह बेसुरापन भी सबको सह्य हो जाता है।

पेशेवर लोकगायको की कुछ जातियाँ ऐसी भी होती हैं जिनकी आवाजें सस्कारवत् ही पतली, मोटी तथा सुरीली होती हैं। उन्हे अपनी आवाजो को तैयार करने की आवश्यकता नही रहती। वे जन्म से ही गाने लगते हैं तथा उनके गले स्वभाव से ही सुरीले होते हैं। कुछ जातियाँ ऐसी होती है जिनका स्वर-सचरण खरज के स्वरो मे अच्छा होता है, टीप के स्वरो मे प्रभावशाली नही होता। उनकी आवाज का खरज पक्ष अत्यत सशक्त, सुरीला और गभीर होता है। उनका श्रव्यपक्ष भी टीप पर गाये हुए गीतो की तरह ही प्रभावशाली होता है। इन जातियो मे आदिम जातियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं। राजस्थान की कजर, सासी कालवेलिया, भोपा तथा नट आदि जातियो की स्त्रियो के गायन मे भी एक विचित्रता रहती है। वे अपनी आवाजो में विशेष प्रकार का मरोड देती हैं। वे प्रत्येक गीत की पक्ति के अतिम शब्द को मरोडकर गाती हैं और पुन ताल ही के साथ मूल धुन को पकड लेती हैं। प्रचलित सभी लोकगीतो को वे इसी तरह गाती हैं। इन जातियों द्वारा गाये हुए सभी प्रचलित गीतो पर गायकी की दृष्टि से इन जातियो की विशेष छाप रहती है।

उक्त सभी प्रकार के ध्वनि-तत्त्वो मे अपनी-अपनी विशेषता रहते हुए भी एक सामान्य तत्त्व यह है कि ये आवाजें ठेठ लोकपरक आवाजे हैं। उनको सुसस्कृत बनाने की चेष्टा लोकगीतो के लिये अत्यन्त घातक चेष्टा है। लोक-गीतो का प्रसारक्षेत्र, उनका अतीत, वर्तमान और भविष्य लबा होता है। यह अमरत्व उन्हे इन्ही ध्वनि-तत्त्वो के कारण प्राप्त होता है। ये ही तत्त्व प्रयोक्ताओ और श्रोताओ को प्रभावित करते हैं तथा उन्हे लोकगीतो का विशिष्ट स्वभाव प्रदान करते हैं।

लोकसंगीत एवं सुगम-संगीत

सगीत के ये दोनो ही पक्ष बहुधा एक दूसरे का रूप धारण करके अवतरित होते हैं और अबोध तथा अनुभवहीन जनता मे भ्राति उत्पन्न करते रहते हैं। लोकसगीत सुगम-सगीत की पहिचान उतनी ही मुश्किल है जितनी हीरे-जवाहरात की पहिचान। सुगम-सगीत वह सगीत है जो गाने, सुनने तथा सराहने मे सुगम है। लोकसगीत का भी प्राय यही गुण है। फिर इन दोनो मे वह कौनसा सूक्ष्म भेद है, जो इनको एक दूसरे से अलग करता है। सुगम-सगीत का अवतरण वैयक्तिक है। वह भी मधुर काव्य तथा मधुर स्वर-चयन से सयुक्त होता है। उसमे भी उत्कृष्ट रचना-कौशल के दर्शन होते हैं। फिल्मी सगीत भी एक तरह से सुगम-सगीत ही मे शुमार होता है। फिल्मी गीत कभी-कभी लोकगीतो से भी अधिक लोकप्रिय बन जाते हैं। बच्चा-बच्चा उन्हे गाने लगता है। जन-समुदाय उनमे रस लेता है, परन्तु फिर भी वे सुगम-सगीत, फिल्मी सगीत तथा लोकगीतो का दर्जा नही पाते। ये गीत जितने ही मधुर हैं, उतने ही अल्पजीवी भी हैं, वे लोकगीतो की तरह दीर्घायु नही होते, न वे मर्म ही को छूते हैं। उनकी स्वर तथा शब्द-रचना कुछ ऐसे तत्त्वो से होती हैं कि वे तत्काल ही हमारा ध्यान आकर्षित कर लेते हैं और हम उनकी गायकी पर मुग्ध हो जाते हैं। उनका प्रभाव उस नशे के समान है जो मनुष्य को एक विचित्र लोक का अनुभव कराता है, परन्तु अततोगत्वा वह (मनुष्य) जहाँ का तहाँ ही रहता है। ये सुगमगीत रस की निष्पत्ति से पूर्व ही मरणासन्न हो जाते हैं। मोटे तौर पर हम यह कह सकते हैं कि सुगमगीत गानेवाले के कठ और सुननेवाले के कानो तक ही मर्यादित रहते हैं, हृदयगम नही होते, परन्तु लोकगीतो का प्रभाव अक्षुण्ण है। उनका असर गहरा इसलिये होता है कि उनकी रचनाओ मे असख्य प्रतिभाओ का परिपाक रहता है, जो समय, स्थान और स्थिति की मर्यादाओ को तोडकर सर्वदा ही नवीन और ताजा रहता है।

लोकगीतो की रचना अनंतकाल से होरही है। इनका क्रम कभी टूटता नही है। सहस्रो रचनाएँ अज्ञात रूप से लोकगीत बनने की प्रक्रिया के बीच गुजर रही हैं, सामाजिक कसौटियो पर कस रही हैं, कुछ लडखडा रही हैं, कुछ पिछड रही हैं, कुछ पानी के बुद्बुदो की तरह पैदा होते ही नष्ट होरही हैं, कुछ सघर्षों के बीच अबाध गति से गुजर रही हैं और कुछ लोकगीतो के परिवार मे प्रविष्ट होकर सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त कर रही हैं। ये प्रक्रियाएँ

ऐसी हैं, जो न देखी जा सकती हैं, न उनका अनुभव ही किया जा सकता है। कोई स्थूल वस्तु कारखाने मे बनती हुई देखी जा सकती है, उसके विकासक्रम का निरीक्षण किया जा सकता है, परन्तु लोकगीत का रचनाक्रम अलक्षित है। यहाँ यह भी मानकर चलना चाहिये कि सभी रचनाएँ इस प्रक्रिया मे प्रवेश नही करती। हजारो गीतो मे विरले ही गीत ऐसे हैं, जो यह दिशा पकडते हैं। इसका तात्पर्य यह भी नही है कि जो गीत यह दिशा नही पकडता वह गेय तथा काव्य-गुणो से हीन है। सहस्रों गीत ऐसे हैं, जो अपनी वैयक्तिक परिधि ही मे कई वर्ष तक जीवित रहते हैं। उनके काव्य तथा गेय गुण लोक-गीतो से भी ऊँचे होते हैं तथा उनकी आयु लोकगीतो से किसी भी तरह कम नही होती। उनका सामाजिक विस्तार-क्षेत्र भी लोकगीतो से किसी भी तरह कम नही होता। अतर केवल इतना ही रहता है कि वे अपने रचयिताओ के व्यक्तित्व के साथ देदीप्यमान रहते हैं और समाज के साथ पारिवारिक जन की तरह सास्कारिक रूप से सवद्ध नही होते। मीरा, सूर, तुलसी, कबीर, रैदास, दादू, ज्ञानेश्वर, जयदेव, तुकाराम, विद्यापति द्वारा रचित गीत ऐसे ही गीतो की गणना मे आते हैं।

यह वात अवश्य ही तर्कसगत है कि लोकगीतो की प्रक्रिया मे प्रविष्ट करने के लिए किसी रचना मे जो तत्त्व सर्वाधिक उत्तरदायी है वह उसका गेय तत्त्व ही है। उस गेय तत्त्व मे भी वह तत्त्व सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है, जो सामाजिक हृदय को स्पर्श करसके। अनेक सुगम रचनाओ मे गेय तत्त्व सर्वाधिक आकर्षक और मनोरम होते हुए भी वे सामाजिक मर्म को स्पर्श नहीं करते। इस मर्म-स्पर्श के लिये गीतो की स्वर-रचनाओ मे कुछ ही रचनाएँ ऐसी होती हैं, जो समाज के रागात्मक पक्ष को प्रभावित करती हैं, तथा जो लौकिक कठो पर सरस्वती की तरह विराज जाती हैं। इस तर्क के पीछे कौनसा विज्ञान है, यह वैज्ञानिक विश्लेषण का विषय नही है, उसका सवध केवल सामाजिक अनुभूतियो से है।

लोकसंगीत की विशिष्ट शैलियाँ

लोकसगीत के कुछ ऐसे पक्ष हैं, जो अपने विशिष्ट सामाजिक तथा गेय तत्वो के कारण कुछ विशिष्ट प्रकारो मे वर्गीकृत हो सकते हैं। वे प्रकार हैं – लोकभजन, लोककीर्तन, पारिवारिक तथा शृगारिक गीत, नृत्यगीत, इतिवृत्यात्मक गीत, व्यवसायिक गीत तथा नाट्यगीत। शास्त्रीय सगीत की ध्रुपद, धमार, ठुमरी, टप्पा, ख्याल, गज़ल आदि विशिष्ट शैलियो की तरह

वे विशुद्ध गायन-शैलियां नही हैं, फिर भी उनकी प्रकृति-निर्धारण मे गेय तत्त्व का बडा हाथ है। शास्त्रीय सगीत की शैलियो के निर्धारण मे स्वर तथा गायन तत्त्व के साथ गीतो का अर्थ और शब्द-कलेवर साधारणत कोई स्थान नही रखता। यह बात लोकगीतो मे नही है। शास्त्रीय सगीत मे स्वर की ही प्रधानता है, शब्द अत्यन्त गौण है। परन्तु लोकसगीत मे स्वर की प्रधानता रहते हुए भी शब्द अपेक्षाकृत इतना गौण नही है। लोकसगीत की इन शैलियो मे गेय तत्त्व की विशेपता अवश्य है, परन्तु यह तत्त्व गीत के शब्द-कलेवर पर भी काफी मात्रा मे अवलम्बित रहता है। शब्द और स्वरो की रचना का जितना सुन्दर सामजस्य लोकगीतो मे मिलता है, उतना किसी मे नही। गीत के विषय को स्वर चार चांद लगा देता है। इसी तरह लोकसगीत का ताल-पक्ष भी गीत की प्रकृति पर अवलम्बित है। यह ताल-पक्ष भी इन गीतो के वर्गीकरण मे बहुत अधिक सहायक होता है। गीत की प्रकृति के अनुसार ही उसकी लय की बदिश होती है। यह स्वर, शब्द तथा लय की त्रिवेणी जितनी वैज्ञानिक ढग से लोकसगीत मे प्रवाहित होती है, उतनी अन्यत्र कहीं नही। लोकसगीत की इन विशिष्ट शैलियो की चर्चा मे इस तत्त्व पर अधिक प्रकाश डाला जायेगा।

लोकभजन और उनकी पृष्ठभूमि

भजन का सबध भगवान् की स्तुति से है। ये भजन लोकसगीत के विशेप अग है। इन भजनो का काव्य-पक्ष विशेप प्रबल नही होता, क्योकि भगवान् हमारी श्रद्धा और भक्ति के पात्र होने के कारण हम उनके प्रति अपनी कल्पना को अधिक स्वतन्त्रता नही दे सकते। स्तुत्य वस्तु के प्रति आदर और सम्मान की मात्रा रहती है। उसके सौन्दर्य-वर्णन मे भी अनेक मर्यादाओ का पालन करना पडता है तथा भावनाओ को सीमा मे रहना होता है। स्तुत्य वस्तु की प्रशंसा ही मे हमारे शब्द प्रयुक्त होते हैं, अत इन भजनो मे काव्य-तत्त्व कमजोर रहता है। स्तुति मे भावना की प्रधानता है, जो स्वर-सचरण मे शब्द से कही अधिक सहायक होती है। इन गीतो की स्वर-रचना मे गभीरता तथा प्रौढता के तत्त्व विशेष होते हैं, क्योकि स्तुत्य विषय कल्पनातीत तथा हमारी अनुभूति से बाहर होने के कारण बौद्धिक तत्त्व गौण होजाता है और भावना तत्त्व प्रधानता प्राप्त करता है। इसीलिये शब्द की अपेक्षा स्वर ही भजनो का प्रधान तत्त्व है, जो स्तुत्य विपय की गभीरता और प्रौढता के साथ स्वय भी गभीरता और प्रौढता प्राप्त किये हुए होता है। इसीलिये भजन प्राय ध्वनि-प्रधान होते है। कभी-

कभी तो शब्दों को छोडकर स्वरो के साथ ही केवल गूँज मात्र से भजन को निभाया जाता है। लोकभजन की गायन-शैली शास्त्रीय सगीत की ध्रुपद-शैली के समकक्ष है। लोकभजन सामान्य लोकगीतो की तरह स्वर-लालित्य, काव्य-सौंदर्य तथा माधुर्य की सृष्टि नही करते। जीवन का बहुत ही निराशाजनक पक्ष उनमे अभिव्यक्त होने के नाते ये गीत आनन्द के द्योतक नहीं होकर शान्ति के प्रदाता होते हैं। इन गीतो की प्रकृति गभीर और चाल धीमी होती है। ये भजन मदिरो, सार्वजनिक स्थानो, उत्सवो, पर्वों तथा अनुष्ठानो पर विशेष रूप से गाये जाते हैं। ऐसे गीतो का प्रचलन घोर सामाजिक सकटो, पारिवारिक सघर्षों तथा आन्तरिक उथल-पुथल के समय अधिक होता है। चूँकि इन गीतो मे हृदय की सहज आनदानुभूति नही होती, इसलिये इनकी स्वर-रचना भी लालित्य की दृष्टि से श्लथ ही होती है। हृदय का स्वाभाविक उल्लास उनमे व्यक्त नही होता। अत उनका स्वर-सौष्ठव भी साधारण ही होता है। स्वरो के सचार मे हृदय को मुखरित करनेवाली व्यजनाएँ नही होती। कहीं-कही स्वर एक ही जगह टिक जाते हैं और लयबद्ध आलाप के रूप मे फैल जाते हैं।

भजन की परम्परा सभी समाज में प्रचलित है। व्यक्तिगत रूप से भी भजन गाये जाते हैं और सामूहिक रूप से भी। व्यक्तिगत भजनो मे व्यक्ति के सासारिक विषाद और सताप की छाया प्रमुख रहती है। वह अपनी सासारिक पराजय को भगवान् के सन्मुख अभिव्यक्त करके अपना मन हलका करता है और परमात्मा से इस ससार से छुटकारा पाने की कामना करता है। सामूहिक गीतों मे विषाद की अभिव्यक्ति इतनी तीव्र नही होती। उनमे ईश्वर की महिमा और उसकी अपार शक्तियो के वर्णन-विशेष होते हैं। विषाद की भावना तनिक व्यापक रूप लेकर सामाजिक अभावो तथा जातीय वेदनाओ से ओतप्रोत होती है।

भजनो की व्यवस्था पारिवारिक, वैयक्तिक, सामुदायिक तथा मानवीय अभावो के क्षणों मे होती है। चूँकि लोकभजन एक सामाजिक प्रक्रिया है, इसलिये व्यक्ति के आह्लाद-विषाद से उसका कोई सरोकार नही रहता। वही आह्लाद और विषाद जब सामाजिक स्वरूप ग्रहण करता है, तभी लोकसगीत और लोकभजनो की सृष्टि होती है। व्यक्तिगत दैनिक अभावो और भौतिक आह्लादो के कारण उत्पन्न गीत अपनी प्राथमिक भावात्मक स्थिति के कारण उपजकर समाप्त भी हो जाते हैं। वे अधिक समय तक जीवित भी नही रहते। परन्तु यही आह्लाद और विषाद जब समाज के गहन अतराल मे पैठकर गभीर

सामाजिक आह्लाद-विषाद का स्वरूप ग्रहण कर लेते हैं, तब लोकगीत और लोकभजनो की सृष्टि होती है। समाज का सारा रुख जब भजनो की तरफ उन्मुख होता है तो निश्चय ही यह समझ लेना चाहिये कि पारिवारिक तथा सामाजिक विषाद पराकाष्ठा तक पहुँच चुका है। आत्मग्लानि, मानसिक पराजय, पारिवारिक दुःख और राष्ट्रीय आपत्ति के समय जब मनुष्य धैर्य और साहस छोड देता है तो किसी परम शक्ति की ओर मुँह ताकते हुए वह अपने आपको समर्पित कर देता है। सब ओर से जब उसे विषाद ही का मुँह ताकना पडता है तो वह उस परम शक्ति से शक्ति ग्रहण करने की कोशिश करता है जिससे वह उन बाधाओ का मुकाबला कर सके, परन्तु जब उसे यह अज्ञात शक्ति भी शक्ति प्रदान नही करती तो उसका स्वयं का पुरुषार्थ भी अयोग्य सिद्ध होता है। उसे यह समस्त ससार ही असार, जजाल और सपना नजर आता है और वह शीघ्र ही उससे मुक्त होने की कामना करता है। निराशा की इस चरम स्थिति मे भजनो का आविर्भाव सर्वाधिक होता है। पग-पग पर वे मनुष्य को पलायनवादी बनाते रहते हैं। ये विषाद जीवन मे इतने समा जाते है कि आह्लाद और आनन्द के क्षणो मे भी ये भजन लोकगीतो का स्थान ले लेते हैं और सारे समाज पर छा जाते हैं।

लोकभजनो की आयु लोकगीतो की अपेक्षा अल्प होती है। आनद और उल्लास की व्यजनाएँ स्थायी, सुखकारी और अधिक प्रभावशाली होती हैं। वे मर्म को सर्वाधिक छूती हैं। मनुष्य उनके प्रवाह मे बहकर नाना प्रकार के रागात्मक और भावात्मक जाल गूँथता रहता है और सपूर्ण व्यक्तित्व को उनमे अभिव्यक्त करता है। उसे एक सृजनात्मक आनद उपलब्ध होता है। वह अपने दुःख मे भी सुख का अनुभव करता है, तथा भावलोक मे अभिव्यजित होकर वह अपने आपको पूर्ण वैभवशाली अनुभव करने लगता है। उसकी भावनाएँ व्यापक और सपन्न होती हैं, उनमे गहराई आती है और उसके जीवन का परिष्कार होने लगता है। इन्हीं भावात्मक परिस्थितियो के परिणाम लोकगीत होते है। वे आनद और उल्लास के प्रतिनिधि होने के कारण समाज की सृजनात्मक शक्तियो के लिये खुराक होते हैं। वे जितने ही पुराने पडते जाते हैं, उनमे समाज की अभिव्यजनाएँ मिलकर, गभीरता और स्थायित्व के तत्त्व बढते रहते हैं, परन्तु भजनो की आयु अल्प और उनका प्रभाव तात्कालिक होता है। जिस तीव्र गति से वे बनते हैं, उतनी ही तीव्र गति से वे मिटते भी हैं। मनुष्य आनद की अभिव्यक्ति चाहता है। विषाद विवशता से आता है। आनद स्वाभाविक प्रवृत्ति है। साधारणत आनद की चाह विषाद को दूर रखती है, पास नही फटकने

देती, परन्तु जब उसकी पराकाष्ठा होती है तो आनद को विषाद के सामने दब जाना पडता है। विषाद उस पर हावी होजाता है। उसी विवशता और अभाव-ग्रस्त स्थिति मे भजनो का आविर्भाव होता है। मनुष्य की अभिव्यजनाएँ कुठित होजाती हैं। रूखे-सूखे और मर्यादित स्वर तथा शब्दो मे भजनो की सृष्टि होती है। यही कारण है कि भजनो मे भावो की बारीकी, कल्पना की उडान तथा स्वरो की रजकता नही होती। सीधी और सरल व्यजनाओ मे याचना, आत्म-निवेदन तथा मानसिक घुटन के कारण जीवन से मुक्ति की भावना प्रमुख रहती है। ये गीत जब किसी देवी-देवताओ, सस्कारो तथा अधविश्वासो और अध-परम्पराओ के साथ जुड जाते हैं तो वे स्थायी अवश्य होजाते हैं, परन्तु उनमे गीतो के गुण नही होते। उनमे केवल लकीर ही पीटी जाती है। ऐसे लोकभजन बहुधा अशिक्षित और पिछडे हुए समाज मे ही अधिक प्रचलित होते है, इसलिये उनका घुमाव-फिराव उन्ही मे हुआ करता है। अनुभवशील, परिमार्जित तथा भावनाशील समाज के पास वे नही जाते, इसलिये उनमे अनुरजकता और व्यापकता के गुण प्राय नही होते। गभीर और सुसंस्कृत समाज अपने अभावो और विषादो को धैर्य और पुरुषार्थ से झेलता है और उन्हे आनद और उल्लास से परिमार्जित कर देता है। वह उन पर रोता नही, परास्त नही होता, सकीर्ण, क्षुद्र आवेगो से द्रवीभूत होकर क्षुद्र व्यंजनाओ मे प्रकट नही होता। अत ऐसे समुदाय के पास भजन प्राय फटकते ही नही।

यह विवेचन उन भजनो का है, जो लोकभजन की परिभाषा मे आते हैं, जिनका व्यक्तित्व समाज मे निहित रहता है और रचयिता के व्यक्तित्व की छाप जिन पर अकित नही होती परन्तु वे भजन जो साधु-सतो और सुलझे हुए महात्माओ द्वारा रचे हुए तथा गाये हुए होते हैं, इन लोकभजनो से भिन्न होते हैं। वे यद्यपि लोकभजनो मे शुमार नही होते, परन्तु उनके प्रचार और प्रसार को देखते हुए वे किसी भी तरह लोकभजनो से कम नही। ये भजन बहुधा ससार से विमुक्त, पूर्ण ज्ञानी तथा महान् आत्माओ द्वारा रचित होते है, जो ससार के क्षुद्र अभावो, विषादो और उलझनो से दूर रहते हैं। उनके द्वारा रचित गीतो मे भावो की उच्चता, विचारो की गहनता तथा जीवन की गहन अनुभूति निहित रहती है। उनका जीवन सासारिक अभावो से दूर रहता है। वे विशिष्ट मानव के रूप मे ससार को कुछ सदेश देने तथा अधकार मे भूले-भटको का मार्गदर्शन करने के लिये अवतरित होते हैं। उनके कण्ठ से जो वाणी निकलती है, उसमे समस्त जीवन का सार रहता है और उसमे एक आध्यात्मिक आनन्द की अभिव्यक्ति होती है। ऐसे गीत बहुधा वर्णनात्मक नही

होते, न उनमे छिछली याचना या निराशा की अभिव्यक्ति ही होती है। ये जीवन के विश्लेषण के रूप मे जनता के सामने आते हैं और जीवन, जगत्, आत्मा, परमात्मा की गहन गुत्थियो को सुलझाने मे समर्थ होते हैं। ये गीत बहुधा वैयक्तिक दायरे मे ही रहते हैं। सामाजिक बुद्धि इन महापुरुषों की गहन अभिव्यजना और अलौकिक आध्यात्म-बुद्धि को नही पहुँच सकती, इसलिये ये अपने सृजनकाल से ही सैंकडो वर्षो तक प्राय अक्षुण्ण रहते हैं, शब्दो मे तथा धुनो मे हेरफेर अवश्य हो जाता है, परन्तु उनका मूल विश्लेषणात्मक आध्यात्मिक तत्त्व ज्यो का त्यो रहता है, क्योकि उनमे परिमार्जन, परिवर्तन तथा सशोधन साधारण लोक-बुद्धि के बूते से बाहर हैं। ये भजन अपनी गूढ आध्यात्मिकता और तात्त्विक सामग्री के कारण साहित्य और आध्यात्म की अमर धरोहर बन जाते हैं। ये राष्ट्रीय धरोहर के समान हैं और लोकभजनो से भी इनका दर्जा बहुत ऊचा है।

ये भजन जब जीवन मे लोकगीतो की तरह ही व्याप्त हो जाते हैं और सैंकडो वर्षो तक जनता इन्हे गाती है, तो उनका स्वरूप कभीकभी बदल भी जाता है, परन्तु उनके गहन तात्त्विक विचार अक्षुण्ण रहते हैं। ऐसे गीत जीवन मे व्याप्त होकर प्राय लोकभजन का स्वरूप ग्रहण करते है। आम जनता उन्हें गाती है, परन्तु कभी-कभी उनका अर्थ भी नहीं समझती, पर महापुरुषों की वाणी होने के कारण वे प्रत्येक व्यक्ति के कठ पर आदर और श्रद्धा के साथ विराज जाते हैं। उन्हें गाते समय वे स्वरों को आत्मसात् करके उनके गूढार्थ को छोड देते हैं। परिणाम यह होता है कि ऐसे गीतों की धुनें लोकसगीत की तरह सामाजिक धरातल प्राप्त करती हैं और उनके साथ प्रयोक्ताओ की स्वय की धुनो का भी मिश्रण होने लगता है। उनके मूल रचयिताओ के मौलिक विचारो की वास्तविकता ज्यो की त्यो रहती है। रचयिता का नाम भी अक्षुण्ण रहता है। केवल धुन ही समाज की धरोहर बन जाती है। कबीर, तुलसी, सूर तथा मीरा के सैंकडो गीत सामाजिक कसौटी पर चढकर अपनी अत्यन्त मधुर धुनो के कारण लोकभजन बन गये हैं। इन भजनो की मूल धुनें अत्यन्त ही प्राथमिक और एकागी होती हैं, परन्तु जनता के कठो पर चढकर उनमे अपूर्व रगो का निखार आता है, बल्कि यो कहे कि ये भक्ति-गीत उक्त प्रक्रिया के अनुसार लोकभजनो का दर्जा प्राप्त नही करते तो उनकी आयु कदाचित् इतनी लम्बी होती भी नही। ये भजन निराशा, निरुत्साह तथा आत्मग्लानि के रूप मे जनता के कठो पर नही चढते हैं। इनका धरातल बहुत ही गहन होता है। वे वैयक्तिक

अभावो से कोसो दूर रहते हैं। उन पर इनके मूल सृजको के सधेहुए उन्नत और आध्यात्मिक जीवन की छाप रहती है, जो वास्तव मे पूर्ण ज्ञान, अलौकिक बुद्धि और जीवन की साधना के फलस्वरूप ही अंकित होती है। वे अन्ततोगत्वा पूर्णानन्द, पूर्ण प्रकाश और अलौकिक ज्ञान की ही सृष्टि करते हैं। यह अनुभूति निराशा और अभावो की उपज नही, वह पूर्णानन्द और पूर्ण ज्ञान की ही देन है। इसलिए ये भजन भी लोकसगीत की आनन्दप्रदायिनी श्रेणी मे ही आते हैं तथा जीवन और जगत् के बीच बहुत ही सुन्दर सामजस्य पैदा करते हैं। इन गीतो में आत्मग्लानि, आत्म-प्रवचना तथा ससार का कुरूप पक्ष अतर्हित नही होता। उनमे जीवन का सागर लहलहाता है और ससार का अत्यन्त सृजनात्मक और आनन्दमय पक्ष निहित रहता है। जग और जीवन की अनेक गुत्थियो का अत्यन्त सुन्दर और विश्लेषणात्मक समाधान उनमे अतर्हित रहता है। समाज का बुद्धिजीवी पक्ष उनके शब्द, कवित्त तथा अर्थ से प्रेरणा ग्रहण करता है तो समाज का भावात्मक लोकपक्ष उनकी धुनो से प्रेरणा प्राप्त करता रहता है। सही माने मे इन भजनो का स्वर-पक्ष ही इन्हे लोकधर्मी गीतो का दर्जा देता है। लोकमानस स्वरो को पहले पकड़ता है और इन्हे सतत रूप-रग देता रहता है। इन भजनो की लोकपक्षी स्वर-रचना के वैविध्य से इन गीतो को चार चाँद लग गये हैं। ऐसे अनेक गीत जनता के कंठो पर विराजमान हैं, जो रात को इकतारे पर गांव के चौराहे तथा चौपाल मे सार्वजनिक रूप से गाये जाते हैं। ये गीत किसी व्यक्ति, जाति, धर्म तथा समाज-विशेष की धरोहर नही होते। उनका दायरा बहुत ही विस्तृत हो जाता है और अत्यन्त जीवनोपयोगी गीतो का दर्जा प्राप्त कर लेता है।

इन भजनो की भी कई श्रेणियां हैं। कुछ भजन किसी सम्प्रदाय-विशेष के लगाव के कारण अनेक मर्यादाओ मे बँध जाते हैं, परन्तु जो तात्त्विक और विश्लेषणात्मक भजन होते हैं, उनका दायरा बहुत ही विस्तृत होता है। सगुण भक्ति के भजनो में मन्दिर, मठ तथा विशिष्ट सम्प्रदाय की ममता चिपक जाती है, इसलिये उनका दायरा कुछ छोटा रहता है। निर्गुणी तथा ज्ञानपक्षी भजनो का दायरा बहुत बडा होता है। उनकी पहुँच किसी व्यक्ति, समाज, धर्म तथा सम्प्रदाय तक ही नही होती बल्कि वे सबकी धरोहर होते हैं। उनसे प्रयोक्ताओं को सर्वदा ही जीवन सम्बन्धी प्रेरणा मिलती रहती है। इस प्रकार के निर्गुणी, सगुणी दो राजस्थानी भजनो के उदाहरण स्वरलिपि सहित प्रस्तुत हैं :—

निर्गुणी भजन

(स्थाई)

यां को भेद वतावो ब्रम्मचारी
या मे कोन पुरस कोन नारी ।

(अंतरा)

ना म्हैं परणी ना म्हैं कवारी, टावर जण जण हारी ।
काळी मुडी रो एक नी छोड्यो, तो ई अकन कवारी ॥
सुसरो म्हारो अस्सी वरस रो, सासू अकन कवारी ।
पति हमारो हीदे पालणे, हीदा दे दे हारी ॥
ब्राह्मण के घर भई रे ब्राह्मणी, साधा के घर चेरी ।
काजी के घर भई रे तुरकडी, कलमा पढ-पढ हारी ॥
कहत कमाल कवीरा की वेटी, सुणज्यो सिरजनहारी ।
अणी भजन री करे खोजना, वो नर चतर सुजाणी ॥ या मे

स्वरलिपि (ताल दीपचदी)
स्थाई

										सा	–	सा	–
										या	ऽ	को	ऽ
म	रे	–	म	–	म	–	प	प	–	ध	–	प	–
भे	ऽ	ऽ	द	ऽ	व	ऽ	ता	वो	ऽ	ब्र	ऽ	म्म	ऽ
ध	–	–	प	–	–	ध	म	–	–	म	–	प	–
चा	ऽ	ऽ	री	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	या	ऽ	मे	ऽ
प	ध	–	प	–	म	–	ग	ग	सा	रे	–	रे	सा
को	ऽ	ऽ	न	ऽ	पु	ऽ	र	स	ऽ	को	ऽ	न	ऽ
ग	रे	सा	सा	–	–	–	–	–	–,	सा	–	सा	–
ना	ऽ	ऽ	री	ऽ	ऽ	ऽ,	ऽ	ऽ	ऽ,	या	ऽ	को	ऽ
×			२				०			३			

अंतरा

ग	–	–	ग	–	–	म	रे	ग	–	सा	–	–	–
ना	ऽ	ऽ	म्हैं	ऽ	ऽ	ऽ	प	र	ऽ	णी	ऽ	ऽ	ऽ
रे	–	–	म	–	–	म	प	–	–	प	ध	नी	प
ना	ऽ	ऽ	म्हैं	ऽ	ऽ	क	वा	ऽ	ऽ	री	ऽ	ऽ	ऽ
प	ध	–	ध	–	ध	–	प	ध	–	प	म	म	–
टा	ऽ	ऽ	व	ऽ	र	ऽ	ज	ण	ऽ	ज	ऽ	ण	ऽ
म	प	–	प	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–
हा	ऽ	ऽ	री	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ
प	–	–	प	–	ध	–	सा	–	–	सा	–	–	–
का	ऽ	ऽ	ळी	ऽ	मु	ऽ	डी	ऽ	ऽ	रो	ऽ	ऽ	ऽ
रें	–	–	रें	–	रें	सा	गं	रें	सा	सा	–	–	–
अे	ऽ	ऽ	क	ऽ	नी	ऽ	छो	ऽ	ऽ	ब्यो	ऽ	ऽ	ऽ
सा	–	–	सा	–	–	–	नी	नी	प	ध	–	–	प
तो	ऽ	ऽ	ई	ऽ	ऽ	ऽ	अ	क	ऽ	न	ऽ	ऽ	क
नी	ध	प	प	–	–	–	ध	म	–,	रे	म	म	प
वा	ऽ	ऽ	री	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ,	या	ऽ	मे	ऽ
प	ध	–	प	–	म	–	ग	ग	सा	रे	–	रे	सा
कौ	ऽ	ऽ	न	ऽ	पु	ऽ	र	स	ऽ	कौ	ऽ	न	ऽ
ग	रे	सा	सा	–	–	–	–	–	–,	सा	–	सा	–
ना	ऽ	ऽ	री	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ,	या	ऽ	को	ऽ
×			२				०			३			

शेष अतरे मी इसी धुन मे गावें ।

यह राजस्थानी निर्गुणी भजन गहन रहस्यो से परिपूर्ण है। इसके गूढार्थ जिसको प्राप्त हो जाते हैं, वही जीव जगत् के इस रहस्य को समझ सकता है।

सगुणी भजन

(स्थाई)

गोविन्दो तो प्राण हमारो रे, भजन विन एळो जमारो रे ।।

(अंतरा)

साध हमारे सिरधणी श्रो राम, मैं साधां री दास।
नूत जिमाऊँ माणक चौक मे कई ढळहळ ढोलूंगी वाय।
सांवरियो तो प्राण हमारो रे, यो झूठो जुग लागे खारो रे ।।

कुंवा बावडी सूं म्हारे काम नही श्रो राम नाडूले कुण जाय।
समुन्द्र से म्हारे अरथ नही मैं तो जा पूगूं दरियाव।
गोविन्दो तो प्राण हमारो रे, भजन विन एळो जमारो रे ।।

कांसी पीतल सूं म्हारे काम नही श्रो राम लोह लेवा कुण जाय।
सोना रूपा सूं म्हारे अरथ नही, म्हारे हीरा रो वैपार।
सांवरियो तो प्राण हमारो रे, भजन विन एळो जमारो रे ।।

सेना कोतवाळ सूं म्हारे काम नही श्रो राम कचेडी कुण जाय।
कामदारी से म्हारे अरथ नही, मै तो जाय पूगूं दरबार।
गोविन्दो तो प्राण हमारो रे, भजन विन एळो जमारो रे ।।

मीराबाई हरजी रे लाडला श्रो राम, बाध्यो भजन रो मोड़।
मीरा ने गिरधर मिल्या कई नागर नन्दकिशोर।
सांवरियो तो प्राण हमारो रे, यो झूठो जुग लागे खारो रे ।।

स्वरलिपि (ताल दीपचदी)

					ग	प	म	ग	–	सा	रे	सा	–
					गो	ऽ	वि	ऽ	ऽ	दो	ऽ	तो	ऽ
नी	–	–	सा	–	–	रे	ग	प	–	म	–	ग	रे
प्रा	ऽ	ऽ	ण	ऽ	ऽ	ह	मा	ऽ	ऽ	रो	ऽ	ऽ	ऽ
रे	ग	–	–	–	ग	म	प	पध	सानी	ध	–	प	–
रे	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	भ	ऽ	ज	नऽ	ऽऽ	वि	ऽ	न	ऽ
(ग)	–	–	म	–	–	प	ग	–	–	सा	रे	ग	सा
ए	ऽ	ऽ	छो	ऽ	ऽ	ज	मा	ऽ	ऽ	रो	ऽ	ऽ	ऽ
सा	–	–	–	–,	ग	प	म	ग	–	सा	रे	सा	–
रे	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ,	गो	ऽ	वि	ऽ	ऽ	दो	ऽ	तो	ऽ
×			२				०			३			

अंतरा

नी	प	–	नी	–	–	नी	सा	–	–	रे	ग	सा	रे
सा	ऽ	ऽ	ध	ऽ	ऽ	ह	मा	ऽ	ऽ	रे	ऽ	ऽ	ऽ
नी	–	–	नी	नी	–	नी	सा	सा	–	रेग	पम	गरे	ग
ऽ	ऽ	ऽ	सि	र	ऽ	ध	णी	ओ	ऽ	राऽ	ऽऽ	ऽऽ	म
(प)	–	–	म	–	–	–	ग	–	–	सा	रे	ग	सा
मैं	ऽ	ऽ	सा	ऽ	ऽ	ऽ	धा	ऽ	ऽ	री	ऽ	ऽ	ऽ
सा	–	सा	ग	–	ग	म	प	पध	सानी	ध	–	प	प
दा	ऽ	स	नू	ऽ	त	जि	मा	ऊऽ	ऽऽ	मा	ऽ	ण	क
×			२				०			३			

—	—	—	ध	प	ध	म	प	—	—	ग	म	पध	नीसा
ऽ	ऽ	ऽ	चौ	ऽ	ऽ	क	मे	ऽ	ऽ	क	ऽ	ईऽ	ऽऽ
सा	सा	—	नी	—	ध	नी	प	ध	—	प	—	म	—
ढ	ळ	ऽ	ह	ऽ	ळ	ऽ	ढो	ऽ	ऽ	लूं	ऽ	गी	ऽ
(ग)	—	—	प	—	म	—	ग	ग	सा	रे	—	सा	—
वा	ऽ	ऽ	य	ऽ	सा	ऽ	व	रि	ऽ	यो	ऽ	तो	ऽ
नी	—	—	सा	—	—	रे	ग	प	—	म	—	ग	रे
प्रा	ऽ	ऽ	ण	ऽ	ऽ	ह	मा	ऽ	ऽ	रो	ऽ	ऽ	ऽ
रे	ग	—	—	—	ग	म	प	पध	सानी	ध	—	प	—
रे	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	यो	ऽ	भू	ठोऽ	ऽऽ	जु	ऽ	ग	ऽ
ग	—	—	म	—	—	—	मप	ग	—	सा	रे	ग	सा
ला	ऽ	ऽ	गे	ऽ	ऽ	ऽ	खाऽ	ऽ	ऽ	रो	ऽ	ऽ	ऽ
सा	—	—	—	—,	ग	प							
रे	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ,	गो	ऽ	विंदो	तो	प्राण	हमारो रे ..			
×			२				०			३			

इस राजस्थानी भजन मे भक्तिमति मीरा इस जग को भूठा वतलाकर भगवान् के चरणो मे पहुँचने की कामना करती है। आत्मशाति के लिये वह छोटे-छोटे स्थानो पर जाने की अपेक्षा सीधे प्रभु के दरवार मे पहुँचना चाहती है। यह कामना साधु-सतो की सगति से पूरी हो सकती है। उनको वह माणक-चौक मे भक्तिपूर्वक भोजन कराना चाहती है।

लोककीर्तन

लोकभजन और लोककीर्तन की पृष्ठभूमि मे विशेष अतर नही। भजन मे आध्यात्मिक तत्त्वो का आधिक्य होता है तो कीर्तन मे लय और गेय तत्त्व अधिक प्रवल होते हैं। कीर्तन वहुधा नृत्य-प्रधान होते हैं, अत उनकी चालें भजनो की अपेक्षा अधिक द्रुत होती हैं तथा उनमे स्वर-लालित्य भी भजनो से

अधिक होता है। शब्दो मे व्यंजनात्मक शक्ति की कमी तथा वर्णन की प्रधानता होती है। कीर्तन की तालें सरल होती हैं। भजनो मे कीर्तन की अपेक्षा आध्यात्मिक तत्त्व अधिक प्रबल होता है। कीर्तन आराध्य देव के सन्मुख ही होता है, इसलिये उनमे सौन्दर्य-वर्णन अधिक होता है। भजनो मे आराध्य देव की उपस्थिति आवश्यक नही, इसलिये अनुपस्थित विषय के लिये अनेक रहस्यमयी बातें उन्हे आध्यात्मिकता प्रदान करतीं है।

पारिवारिक एवं शृंगारिक गीत

लोकगीतो मे इन गीतो की सख्या सबसे अधिक है। ये गीत लोक-जीवन के प्रत्येक पक्ष के साथ जुड़े हुए होते हैं। शादी-विवाह, विरह-मिलन, भाई-भौजाई, सास-बहू, वर-वधू सबधी अनत कल्पनाओ से युक्त ये गीत नाना प्रकार की व्यजनाओ की सृष्टि करते हैं। इस प्रकार के गीतकाव्य-तत्त्व तथा शब्द-सौष्ठव की दृष्टि से सर्वांगपूर्ण, मनोरजक, मधुर तथा सर्वाधिक लोकप्रिय भी होते हैं। इनका सचार-क्षेत्र तथा जीवनकाल सर्वाधिक विस्तृत और विपद होता है। इन गीतो का स्वर-सौष्ठव तथा स्वर-सौन्दर्य भी अपूर्व होता है तथा उनकी अभिव्यजनाएँ अधिक निखरी हुई और मुखरित होती हैं। उनमे हृदय के भावो के साथ ही स्वर-लहरियो का फैलाव और गुथाव होता है। इन गीतो मे मनुष्य के हास, लास, उच्छ्वास, आनन्द, विरह, सताप, सवेदना, स्नेह, सहानुभूति और सौहार्द के भाव विशेष रूप से निहित रहते हैं, अत उनमे काव्य-सौन्दर्य के साथ स्वर-सौन्दर्य की अपूर्व छटा दृष्टिगत होती है। लोकसगीत की यह ऐसी शैली है, जिसमे मानव-मन को सर्वाधिक अनुरजित और अभिव्यक्त होने का अवसर मिलता है। वह भावो की निष्पत्ति के साथ ही उपयुक्त स्वरो की सृष्टि करता है तथा अपने भावभीने स्वरो को शब्दो से सवारता है। यही कारण है कि लोकसगीत का यह विशिष्ट पक्ष अत्यन्त समृद्ध और रसपूर्ण पक्ष है। इन गीतो की रचनाओ मे लालित्य के साथ वैविध्य तथा कमनीयता और मृदुता भी है। कला की दृष्टि से भी ये गीत सर्वोपरि हैं। साधारणत. लोकसगीत मे भाव-पक्ष प्रधान तथा कला-पक्ष गौण रहता है, परन्तु इस विशिष्ट शैली के गीतो मे कला-पक्ष भाव-पक्ष के समकक्ष ही रहता है।

ये गीत उत्सव, त्यौहार तथा जीवन के शून्य क्षणो को रस-प्लावित करने के निमित्त विशेष रूप से गाये जाते हैं। उनमे साहित्य की दृष्टि से भी नाना प्रकार की अद्भुत व्यजनाओ के दर्शन होते हैं तथा भावो के उतार-चढाव के साथ ही स्वरो मे भी विलक्षण उतार-चढाव निहित रहता है, जो उन्हे

अद्वितीय सौन्दर्य प्रदान करता है। ये ही ऐसे गीत हैं जो चिरकाल तक मनुष्य के दु ख-सुख मे सच्चे जीवनसगी का काम करते हैं। इन गीतो मे मानवीय जीवन की मूलभूत अभिव्यजनाओ तथा समष्टिगत जीवन का सुन्दर चित्रण रहता है। मानव-मन की विविध स्थितियो मे जो अभिव्यजनाएँ स्वाभाविक होती हैं, उन्ही का उनमे चित्रण होता है। वे सम्पूर्ण समाज को मान्य होती हैं, सबके मन को भाती हैं, सबकी भाव-स्थितियो मे रम जाती हैं। प्रत्येक व्यक्ति उनमे अपनापन अनुभव करने लगता है तथा उनकी स्वर-लहरियो मे रमता हुआ सराबोर हो जाता है। पारिवारिक जीवन की इन मूलभूत अभिव्यजनाओ को चित्रित करनेवाला एक राजस्थानी लोकगीत स्वरलिपि सहित प्रस्तुत है :—

पारिवारिक गीत

छप्पर पुराणो पिया पडगयो जी तिडकन लागा बाँस
तिडकन लागा बाँस ओ जी पिया बाँस
अब घर आय जावो बरखा मोकळी हो जी।

बादल मे चमके ढोला बीजली जी, मेळाँ मे डरपे घर री नार
मेळाँ मे डरपे घर री नार, ओ जी पिया नार
अब घर आय जावो म्हारा बालमा हो जी।

गोरी तो भीजे ढोला गोखडे जी, आलीजो भीजे परदेस
आलीजो भीजे परदेस, हो जी पिया देस
अब घर आय जावो गोरी रा बालमा हो जी।

कुवो व्है तो ढोला थागलूँ जी, समन्दर थाग्यो नी जाय
समन्दर थाग्यो नी जाय, हो जी ढोला जाय
अब घर आय जावो फूल गुलाब रा हो जी।

टाबर व्है तो आलीजा राखलूँ जी, जोबन राख्यो नी जाय
जोबन राख्यो नी जाय, हो जी ढोला जाय
अब घर आय जावो बरखा मोकळी हो जी।

तिनको व्है तो पिया तोडलूँ जी, प्रीत न तोडी जाय
प्रीत न तोडी जाय, हो जी ढोला जाय
अब घर आय जावो बरखा मोकळी हो जी।

अस्सी ने टका री पिया चाकरी जी, लाख मोहर री घर री नार
लाख मोहर री घर री नार, हो जी पिया नार,
अब घर आयजावो बरखा मोकळी हो जी ॥

स्वरलिपि (ताल कहरवा)

सा मा सा रे छ प्प र पु	ग म ग म रा णो पि या	– गम प प ऽ पऽ ड़ ग	मप धप म ग योऽ ऽऽ जी ऽ
म रेग ग रे ऽ तिड क न	सा – रेग पम ला ऽ गाऽ ऽऽ	ग रे – – वा ऽ ऽ ऽ	– – – रे ऽ ऽ ऽ स
– मारे रे रे ऽ तिड क न	रेग गरे गम मग लाऽ ऽऽ गाऽ ऽऽ	म रेग ग सा ऽ वांऽ ऽ स	प प मग म हो जी ढोऽ ला
रे रेग ग सा ऽ वाऽ ऽ स	सा रे सा नी अ व घ र	– पप नी नी ऽ आय जा वो	सा सा रेग पम व र खाऽ ऽऽ
गम रेग ग रे ऽऽ मोऽ ऽ क	मा – गरे नी ळी ऽ होऽ ऽ	सा – – – जी ऽ ऽ ऽ	– – – – ऽ ऽ ऽ ऽ
×	२	×	२

शेष गीत भी इसी धुन मे गावें।

इस राजस्थानी लोकगीत मे एक विरहिणी स्त्री अपने बिछुडे हुए प्रीतम से कहती है कि इस घर के छप्पर भी पुराने पड गये हैं, उसके वास तिडकने लगे हैं, अत्यधिक वर्षा से समस्त छत भी टपकने लगी है, अब तुम शीघ्र ही घर आजाओ। बादलो मे बिजली चमक रही है, जिससे तुम्हारी प्रियतमा भयभीत होरही है। तुम्हारी गोरी घर के गवाक्ष मे भीज रही है और तुम परदेश मे भींज रहे हो। हे प्रियतम ! यदि कोई साधारण कुआ होता तो उसकी गहराई का पता लगा लेती, परन्तु इस प्रेम के गहन समुद्र की गहराई मुझसे नापी नही जारही है। अगर बच्चा होता तो उसे मैं समझा बुझाकर सँभाल लेती, परन्तु यह मेरा यौवन मुझसे सँभाला नही जा रहा है। यदि पत्र होता तो मैं पढकर सतोष कर लेती, परन्तु मेरा यह भाग्य मुझसे वाचा नही

जारहा है। हे प्रियतम! तुम्हारी यह परदेस की नौकरी तो अस्सी टके (पैसे) की भी नही होगी, परन्तु तुम्हारी स्त्री तो एक लाख मोहर की है। अब शीघ्र ही उसकी सुध लो और तुरत घर आजाओ। मुझसे तुम्हारा वियोग सहा नही जाता है।

इन गीतो की लय मध्यम दर्जे की होती है, न बहुत अधिक द्रुत और न विलम्बित। लय का यह क्रम गीतो मे अभिव्यजित काव्य की व्यंजनाओ पर भी अवलम्बित रहता है। यदि अत्यधिक हर्ष-उल्लास का गीत है तो उस गीत की लय कुछ तेज़ और स्पष्ट होती है। यदि गीत का भाव-पक्ष विषाद की अभिव्यजना करता है तो उसकी लय अपेक्षाकृत धीमी और गुथी हुई होती है। ऐसे गीतो की सख्या भी सर्वाधिक होती है तथा लोकगीतो की अधिकाश श्रेणियाँ इसी एक विशिष्ट श्रेणी मे समाविष्ट होजाती हैं।

नृत्यगीत

ये गीत अन्य गीतों की तुलना में अपनी विशेषता रखते हैं। लोकनृत्य तथा लोकसगीत दोनो ही अपने जन्मकाल से ही एक दूसरे से जुडे हुए हैं। जहाँ नृत्य है वहाँ गीत अवश्य है। क्योंकि बिना गीत के लोकनृत्य की कल्पना ही नही की जा सकती। नृत्य और गीत की उत्पत्ति के कारण प्राय एक ही हैं। आन्तरिक उच्छ्वास के समय मानव-मन एक ही साथ शरीर मे उमग तथा हृदय मे स्वर की निष्पत्ति करता है। ऐसे समय जो गीत उच्चरित होते हैं, वे अत्यधिक गतिशील होते हैं। नृत्यगीतो मे स्वर-सौष्ठव शब्द-सौष्ठव से कही अधिक शक्तिशाली होता है। इन गीतो मे बहुधा स्वरो की सीमा सक्षिप्त तथा रचना सरल होती है। कहीं-कही तो शब्दो का लोप ही होजाता है, केवल स्वर ही स्वर रह जाते हैं। इन गीतो का काव्य-पक्ष प्राय दुर्बल ही होता है। कुछ गीत ऐसे भी हैं, जिनकी रचना केवल नृत्य के प्रयोजन से होने के कारण तालवाद्य की ताल के समान मालूम होते हैं। आदिवासियो के अधिकाश गीत इसी प्रकार के हैं। नृत्य की भाव-भगिमाओ और गतिविधियो के समानान्तर ही इन गीतो की रचना होती है। इन गीतो मे स्वरो की उछलकूद अधिक मात्रा मे रहती है। नृत्य की एक चाल से दूसरी चाल पर फुदकने के लिये स्वर भी फुदकते रहते हैं और किसी मन्द्र स्वर से तुरन्त तीन-चार स्वर छोडकर अन्य सप्तक के स्वरो की यात्रा करते हैं।

इन गीतो की रचनाएँ बहुधा नृत्य करते समय ही होती हैं। नृत्यनिरत मन की उमग नृत्यानुकूल ही स्वरो की निष्पत्ति करती है, जो धीरे-धीरे रूढ़

हो जाते हैं, उन्हे शब्द का जामा बाद मे पहिनाया जाता है । नृत्यगीत सामूहिक और सामुदायिक होने के नाते उनकी स्वर-रचना भी विशिष्ट प्रकार की होती है । इन गीतो मे स्वरो की पेचीदगिया नही के बराबर होती हैं । ऐसे गीत अधिकाश लयप्रधान होते हैं, जिन पर अनायास ही पाँव चल पडते हैं । ऐसे नृत्यगीत जब सामूहिक नृत्यो मे प्रयुक्त होते हैं तो दर्शको पर उनका विचित्र सा प्रभाव पडता है । नृत्य जब अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है तो ऐसा प्रतीत होता है कि वह गतिहीन बन गया है और उसके साथ चलनेवाला गीत उसकी ताल मे परिवर्तित होगया है । ऐसे नृत्यगीतो मे बहुधा ताल-वाद्य की जरूरत नहीं पड़ती, क्योकि वे स्वय ही ताल-वाद्य बन जाते हैं । इस प्रकार के एक राजस्थानी नृत्यगीत का नमूना स्वरलिपि सहित प्रस्तुत है —

नृत्यगीत

हालोनी डमराणी म्हारा माथा ना मोडीला राज
मोडीला बाधी ने मरवा तम्मैं कियां जाता राज
मोडीला बाधी ने हम्मैं खेता रा रखवाळी राज
बारा बारा बरसाऊ मरवा तम्मैं कियां जाता राज
बारा बारा बरसाऊ हम्मैं चाकरिया ने ग्याता राज
बारा बारा बरसाऊ म्हारी बाडिया सूनी रई ओ राज

स्वरलिपि (ताल खेमटा)

प	—	प	नी	नी̣	नी	सा	—	सा	नी	सा	—
हा	ऽ	लो	नी	ड	म	रा	ऽ	णी	म्हा	रा	ऽ
रे	—	रे	रे	सा	ग̱	रे	सा	सा	सा	—	सा
मा	ऽ	था	ना	मो	ऽ	डी	ऽ	ला	रा	ऽ	ज
×			०			×			०		

(शेष गीत भी इसी धुन मे गाया जायगा ।)

यह राजस्थानी भीलो का एक नृत्यगीत है, जो उनके प्रत्येक नृत्य प्रसग पर नाच के साथ गाया जाता है । इसकी स्वर-रचना मे जो लय के विशिष्ट खटके हैं, जिनसे नृत्यनिरत-स्त्री पुरुषो के पद-सचालन मे स्फुरणा उत्पन्न होती है, विशेपरूप से अध्ययन योग्य है ।

नृत्यगीत भी नानाप्रकार के होते हैं। वे गीत जो धार्मिक नृत्यों मे प्रयुक्त होते हैं, उनकी प्रकृति वैसी ही होती है, जैसी धार्मिक गीतो के सबंध मे वर्णित की गई है। कुछ गीत वे हैं, जो उत्सव, त्योहार सम्बन्धी नृत्यो मे प्रयुक्त होते हैं। इन गीतो का ताल-अग धार्मिक नृत्यो से भी अधिक प्रधानता प्राप्त होता है। उनमे शब्द का महत्त्व धार्मिक नृत्यो मे प्रयुक्त होनेवाले गीतो से कुछ अधिक होता है। कुछ विशिष्ट प्रकार के नृत्यगीत वे हैं, जो सख्या मे अपेक्षाकृत कम होते है और मोद-मंगल के समय छोटे समूह तथा कभी-कभी वैयक्तिक नृत्यो मे प्रयुक्त होते हैं। ऐसे गीतों का ताल-पक्ष गौण तथा शब्द और स्वर-पक्ष अपेक्षाकृत प्रबल होता है। इन गीतो की लय प्राय. धीमी होती है। एक प्रकार के नृत्यगीत वे हैं, जिनमे शब्दो का कतई लोप हो जाता है, केवल स्वर ही स्वर रह जाते हैं और नृत्यो मे उन स्वरो की केवल गूंज ही गूंज प्रयुक्त होती है। आदिवासियो के अनेक नृत्यो मे इस प्रकार के गीत प्रयुक्त होते हैं, विशेष करके मणिपुर तथा त्रिपुरा की आदिमजातियों मे ऐसे गीत अत्यत विलम्बित गति मे सचरित होते हैं, जिनकी लय बहुत ही धीमी होती है, क्योकि बिना शब्द-चयन के केवल स्वरो की बदिशें नगी सी लगती हैं और कुछ हद तक निष्प्राण भी। इन गीतो की रचनाएँ दो या चार स्वरो से अधिक की नही होती और वे केवल स्वरो के निरर्थक जोड-तोड सी प्रतीत होती हैं। एक प्रकार का नृत्यगीत वह है, जो नृत्यो के साथ प्रयुक्त तो होता है, परन्तु जिसे नृत्यकार स्वय नही गाकर दर्शकगण गाते हैं और नृत्यकार उस पर नृत्य करते हैं। नृत्यकारो को स्वय ये गीत गाने नही पडते, अत इनकी लय अन्य गीतो से सर्वाधिक तीव्र तथा द्रुतगामिनी होती है। अन्य नृत्यगीतो मे जहाँ नृत्य के निमित्त द्रुतलय की आवश्यकता होती है, वहाँ वह नृत्यकारो को थका देनेवाली भी होती है, क्योकि उन्हे स्वयं को गाना भी पडता है और नाचना भी।

इन क्रियाशील गीतो के सबध मे एक अत्यत महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जो गीत स्त्रियो द्वारा गाये जाते हैं उनकी लय धीमी तथा उनकी गति चक्राकार होती है। उन्हे सुनते समय यह पता नही लग सकता कि वे कहाँ से शुरू होते है और कहाँ खत्म होते है। उनकी एक पक्ति से दूसरी पक्ति का विलगाव बहुत कठिन होता है। स्त्रियाँ नाचते समय अपनी धुन मे ऐसी रम जाती हैं कि वे प्रत्येक पक्ति को एक ही धुन मे घुमाती जाती हैं। इन गीतो की अपेक्षा पुरुषो के गीत अधिक गतिशील और लयप्रधान होते है। उनमे कमनीयता कम और सजीवता अधिक होती है। नृत्यगीतो मे एक महत्त्वपूर्ण भेद और है, वह

है एक ही जगह बैठकर गाये जानेवाले और चलते-फिरते गाये जानेवाले गीतो का। राजस्थान के शादी, विवाह, माँडे, फेरे, पूर्वज, रातीजगे आदि के गीत, जो स्त्रियों द्वारा एक ही जगह बैठकर गाये जाते हैं, लय और स्वर-रचना की दृष्टि से अत्यत श्लथ होते हैं और मंदगति मे गाये जाते हैं, परन्तु मेलो-ठेलो मे जाते समय गाये जानेवाले गीतो की लय अति तीव्र तथा वन्दिशें अत्यत चुस्त होती हैं।

इतिवृत्त्यात्मक गीत

इन गीतो का गेय पक्ष अत्यत दुर्बल और वर्ण्य पक्ष बहुत ही प्रवल होता है। उनमे केवल शब्दो का जाल विछा रहता है तथा उनकी स्वर-रचना बहुत ही प्राथमिक और शिथिल होती है। उनकी स्वर-सीमा सक्षिप्त और रचना सुनने मे बहुत ही ढीली होती है। इन गीतो मे राजस्थान के पड-गीत, महाराष्ट्र के पवाड़े तथा राव-भाटो के विरुदावली-गीत शुमार होते हैं। ये गीत विशिष्ट याचक जातियो द्वारा अपने यजमानो की प्रशसा मे गाये जाते हैं। कई गीतो मे केवल वशो के नाम होते हैं जो थोथे स्वरो मे पुश्त-दर-पुश्त गिनाये जाते हैं। कुछ मे केवल प्रशसासूचक शब्दो का जाल विछा रहता है। कुछ गीतों मे किसी देवता का शुष्क और नीरस गुणगान मात्र रहता है। कुछ मे केवल वस्तुओ, पोशाको तथा अलंकरणो की सूचियाँ गिनाई जाती हैं। ये गीत प्राय शब्दप्रधान होते हैं तथा ऐसे स्वरो मे गुये हुए होते हैं, जो गाने में केवल कविता-पाठ से प्रतीत होते हैं। इन गीतों मे एक विशेषता यह है कि गाते समय गीत की पक्ति के अत मे एक ही स्वर पर रुककर काफी मात्राओ तक एक विशिष्ट प्रकार की धुन पैदा करने की चेष्टा की जाती है। महाराप्ट्र के पवाडो मे जैसे जी, जी, जी, राजस्थान के पड-गीतो मे रे रे रे, ए ए ए आदि अक्षरो की गेय दृष्टि से पुनरावृत्ति की जाती है। सच तो यह है कि समस्त गीत मे यही उसका गेय पक्ष है, शेप सव केवल गेय गद्यमात्र है। ये सव गीत प्राय तीन स्वरो मे ही चलते-फिरते हैं। उनमे कोई उतार-चढाव तथा वैविध्य नही होता तथा उनका काव्यपक्ष भी प्राय. कुछ नही के वरावर होता है।

व्यवसायिक लोकगीत

लोकसगीत का यह पक्ष सगीत की दृष्टि से अत्यंत संपन्न तथा महत्त्वपूर्ण पक्ष है। व्यवसायिक जातियो द्वारा गाये जाने के कारण वह सगीत के लोक-पक्षीय तत्त्वों से कुछ विलग अवश्य हो गया है, परन्तु उसकी आत्मा अभी भी

लोकसगीत की ही है। इन गीतो के पीछे आजीविका उपार्जन का उद्देश्य सम्मुख रहने से वे इन जातियो द्वारा विशेषरूप से सजाये-सँवारे जाते हैं। इन की स्वर-रचनाएँ अत्यत परिष्कृत, प्राजल, रसपूर्ण, सर्वगुणसम्पन्न तथा वैविध्यपूर्ण होती हैं। गेय गुणो से ओतप्रोत इन रचनाओ का स्वर-सचार भी अत्यन्त विषद होता है। शास्त्रीय सगीत की तरह ही इनमे स्थाई, अतरे का स्वरूप कुछ-कुछ स्पष्ट होने लगता है। इन गीतो के मूल कलेवर को छोटी-छोटी मुरकियो, तानो तथा विशेष झटको से सजाया-सँवारा जाता है। इनकी तालें भी कुछ हद तक वक्र होती जाती हैं, जैसे झूमरा, चाचर आदि। इन जातियो द्वारा अपने यजमानो के सम्मुख गाये जाने के कारण इन गीतो मे काफी प्रौढता आगई है। इनमे महाराष्ट्र के पवाडे, राजस्थान की माडें, लावणियाँ, उत्तर प्रदेश की कजरी, राजस्थान की ओलूं, पीपली, पोमचो आदि गीत शुमार किये जा सकते हैं। कुछ गीत शास्त्रीय सगीत की ठुमरी शैली के अनुरूप हैं। कुछ का गेय पक्ष इतना प्रबल है कि कतिपय शास्त्रीय सगीतज्ञ भी इन्हे अपनाने लगे हैं। इन गीतो मे स्वर-सौन्दर्य के साथ ही काव्य-सौन्दर्य भी प्रचुर मात्रा मे है। कुछ गीतो की चलत फिरत शास्त्रीय सगीत की ख्याल शैली के अनुरूप है, स्वरो की बदिश मे रहकर भी उनमे इधर-उधर सचरित होने की प्रवृत्ति स्पष्ट परिलक्षित होती है। राजस्थान मे इस प्रकार के सगीत की पोषक और रक्षक जातियो मे ढोली, मिरासी, लघे, भाट, ढाढी, सरगडे, भोपे, राव, वैरागी, कामड, कलावत, बारेठ, भाड, भवाई आदि जातियाँ शुमार हैं। ये गीत विशेपकर सगीत के जलसो, दावतो, विवाह-शादियो तथा मागलिक अवसरो पर सस्कारिक गीतो की तरह कुछ विशिष्टजनो द्वारा गाये जाते है। इनमे साहित्यिक छटा के दर्शन होते हैं और गायक के व्यक्तित्व की छाप भी इन पर अकित रहती है। गानेवाला भी उन्हे अपनी रुचि के अनुकूल बना लेता है। इस प्रकार के गीत के उदाहरणस्वरूप एक राजस्थानी माड स्वरलिपि सहित प्रस्तुत की जाती है –

व्यवसायिक गीत

मांड

म्हारा साचोडा मोती हाले तो ले चालू मुरधर देस
हा हाले तो ले चालू मुरधर देस रे घरण मेगा मोती
हाले तो ले चालू मुरधर देस

दोहा

ए रे मोती सीप का कोन तपस्या कीन
कचन के ढिग बैठ के, सो अधरन को रस लीन
रे घण मेगा मोती हाले तो ले चालू मुरधर देस

स्वरलिपि (ताल दादरा)

									सा	सारे	नी
									म्हा	राऽ	ऽ
सा	ग	ग	गमध	प	–	ग	म	–	पधनीसा	ध	म
सा	चो	डा	मोऽऽ	ती	ऽ	हा	ले	ऽ	तोऽऽऽ	ऽ	ले
मप	म	रेसा	सारे	गरे	गसा	सा	–	सा,	गम	पध	नीसा
चाऽ	लू	ऽऽ	मुर	धऽ	ऽर	दे	ऽ	स,	हाऽ	ऽऽ	ऽऽ
नी	सां	–	नी	सा	–	सारें	नी	धप	पध	नीध	नीप
हा	ले	ऽ	तो	ले	ऽ	चाऽ	लू	ऽऽ	मुर	धऽ	ऽर
पध	सानी	ध	प	म	गम	गरे	ग	–	गमध	प	–
देऽ	ऽऽ	स	रे	घ	णऽ	मेऽ	गा	ऽ	मोऽऽ	ती	ऽ
ग	म	–	पधनीसा	ध	म	मप	ग	रेसा	सारे	गरे	गसा
हा	ले	ऽ	तोऽऽऽ	ऽ	ले	चाऽ	लू	ऽऽ	मुर	धऽ	ऽर
सा	–	सा,	सा	सारे	नी						
दे	ऽ	स,	म्हा	राऽ	ऽ	साचोडा मोती			.. ....		
×			०			×			०		

दोहा (बिना ताल के)

गमपधनीसानी नी – नी – नी – नी – नी – रें सारें नीसा धनी – – ध
हा ऽऽऽऽऽऽ ए ऽ रे ऽ मो ऽ ती ऽ सी ऽ प काऽ ऽऽ ऽऽ ऽ ऽ ऽ

सा – सा सा सा – नी रें सा – – – – – – – सा
को ऽ न त प ऽ स्या ऽ की ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ न,

नी – नी नी नी – नी नी नी – नी सानी धनी – – ध
क ऽ च न के ऽ ढि ग बै ऽ ठ केऽ ऽऽ ऽ ऽ ऽ

सा सा सा सा सा – नी रें
अ ध र न को ऽ र स

(ठेका शुरू)

सानी	रेंसा	नी	ध	पध	प	म	गम	रेग	म	प	–
लीऽ	ऽऽ	न	रे	धऽ	ण	मे	गाऽ	ऽऽ	मो	ती	ऽ
ग	म	–	पधनीसा	ध	म	मप	ग	सा	सारे	गरे	गसा
हा	ले	ऽ	तोऽऽऽ	ऽ	ले	चाऽ	लू	ऽ	मुर	धऽ	ऽर
सा	–	सा,	सा	सारे	नी						
दे	ऽ	स,	म्हा	राऽ	ऽ,	साचोड़ा मोती			..	....	.....
×			०			×			०		

इस लोकगीत की स्वर-रचना शास्त्रीय सगीत की ठुमरी-रचना के समान है। व्यवसायिक जातियो द्वारा प्रयुक्त होने के कारण इसे अत्यन्त अलकृत ढग से गाया जाता है।

नाट्यगीत

इस शैली के गीत कुछ अशो मे नृत्यगीतो की श्रेणी मे आ जाते हैं, फिर भी उनकी अपनी प्रकृति तथा उनका अपना व्यक्तित्व है। ये गीत नाटक

के साथ गाये जाते हैं, इसलिए इन्हे नाट्यसगीत की सज्ञा प्राप्त हुई। लोक-जीवन मे जो अनेक नाट्य बिखरे हुए हैं, उनके मुख्य माध्यम ये ही गीत हैं। भारतीय परम्परा मे लगभग सभी लोकनाट्य पद्यो मे खेले जाते है। ये पद्य अत्यधिक ऊचे स्वर एव विविध धुनो मे इसलिए गाये जाते हैं, क्योकि अभिनेताओ को बिना ध्वनि-विस्तारक यन्त्र के स्वय गाकर अपने सहपात्रो के साथ वार्तालाप द्वारा अपना वाणी-लालित्य दर्शाना पड़ता है। इन नाट्यगीतो मे गेय तत्त्वो का अभाव रहता है, क्योकि वे नाट्य के कथोपकथन के रूप मे प्रयुक्त होते हैं, स्वतन्त्र गीतो के रूप मे नही। यदि अभिनेता गीतो की बारीकियो मे ही फँसजावें तो निश्चय ही कथोपकथन अपने मूल उद्देश्य से गिर जाय। इन गेय सवादो के साथ अभिनेताओ को अपने अगो का नाट्योचित सचालन भी करना पडता है, इसलिए नाट्यगीतो की स्वर-रचना भी विशेष प्रकार की होती है। गाते-गाते कही भी गीत को तोड़ना पडता है, अत लय की दृष्टि से जो जगह बीच मे पैदा हो जाती है उसे अभिनेता लय-तालयुक्त अंगभगिमाओं के सचालन से भरता है। चू कि ये गीत अभिनय आदि के साथ स्वय सवाद बनकर अवतरित होते हैं, इसलिए उनमे प्राय ताल की वक्रता तथा लय का टेढ़ापन रहता है। प्रत्येक अभिनेता अपने व्यक्तित्व का चमत्कार दर्शाने के लिए इन गीतो को अत्यन्त अलकृत ढग से प्रस्तुत करने की कोशिश करता हैं।

ये नाट्य विशाल जनसमूह के समक्ष खुले मे प्रदर्शित होते हैं, इसलिए पात्रो को अपना वाणी-चमत्कार दर्शाना जरूरी होता है। यही कारण हैं कि उनके गीत-सवाद आलापप्रधान होते हैं तथा ऊचे स्वरो मे गाये जाते हैं। प्रत्येक गीत की अन्तिम पक्ति को लम्बी आलाप के साथ गाना पडता है, जिससे उसकी आवाज़ दूर तक फैल सके और लोगो का ध्यान उसकी ओर आकर्षित हो सके। घटो तक नाट्य-पात्रो को रगमञ्च पर अनेक भूमिकाएँ अदा करनी पडती हैं, इसलिए उनके गीतो को उठाने के लिए रगमच पर अनेक सह-गायक भी होते हैं। पात्र जब गाते-गाते थक जाते हैं तो सह-गायक उनके गीत-सवादो को स्वय गाने लगते हैं और उन्हे (पात्रो को) अपना अग तथा पद-सचालन अत्यत चमत्कारिक ढग से प्रस्तुत करने का अवसर मिल जाता है। उस समय सह-गायक भी अपनी प्रतिभा का परिचय देने लगते है। यही कारण है कि नाट्य-गीत स्वतन्त्र गायेजानेवाले गीतो से अत्यन्त भिन्न होते हैं, उनकी बदिशें ही ऐसी होती हैं कि वे बैठे-बैठे गाये ही नहीं जा सकते, उनके साथ क्रियाओं का मेल होना ही चाहिए। इसलिए ये गीत उच्च स्वरो मे सीधी लय के साथ रचे जाते हैं, तथा उनका स्वर-सचालन मध्य और तार सप्तक ही मे होता है

ताकि अधिक से अधिक जनता को उनका लाभ मिल सके। ये गीतसवाद वार्तालाप के रूप मे धाराप्रवाह प्रयुक्त होते है इसलिए उनकी धुन बहुधा एक समान ही होती है तथा छोटे-छोटे पदो मे उनका विभाजन होता है। नाट्यसगीत लोकसगीत का बहुत ही महत्त्वपूर्ण पक्ष है। यद्यपि गेय पक्ष का वैविध्य उसमे नही है फिर भी लय का चमत्कार उसमे चरम सीमा तक पहुँच गया है। व्यवसायिक नाट्यगीत का उत्कृष्ट उदाहरण राजस्थान के इस ख्याल-गीत मे देखिये—

ख्यालगीत

(स्थाई)

वडी छै निरमागण तू राणी
वडी छै निरमागण तू राणी ..
पारस भेटा होय ॥ वडी छै०
उतर जाये मुखडा रो पाणी
उतर जाये मुखडा रो पाणी
पारस पीक न होय ॥ वडी छै०

(अतरा)

बणजारो बोतल भर बैठ्यो, माडी छै मतवाळ
मिरगानैणी सनमुख आवो, चोपड दीनी डाल
वडी छै निरमागण तू राणी ....

(शेष गीत यहाँ उद्धृत नही किया गया है।)

स्वरलिपि (ताल कहरवा)

स्थाई

		सा	सा ग ग म
		व	डी छै नि र
– गप म ग	सारे नी सा रे	ग – –, सा	
ऽ माऽ ग ण	तूऽ ऽ रा ऽ	णी ऽ ऽ, व	डी छै निरमागण
– नी नी नी	सानी साध पध म	मप ग ग, सा	सा ग ग म
ँ पा र स	भेंऽ ऽऽ टाऽ ऽ	होऽ ऽ य, उ	त र जा ये
×	०	×	०

– गप म ग	सारे नी सा रे	ग – –, सा	– – – –
ऽ मुख डा ऽ	रोऽ ऽ पा ऽ	णी ऽ ऽ, ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ
– नी नी नी	सानी साध पध म	मप ग ग, सा	सा ग ग म
* पा र स	पीऽ ऽऽ कऽ न	होऽ ऽ य, उ	त र जा ये
			मुखडा रो पाणी

अतरा

सासा सा ग गम	पप पप प प	– पध ध धप	पध सानी ध प
वण जा रो वोऽ	तल मर वै छ्यो	ऽ माडी छै मत	वाऽ ऽऽ ऽ ळ
साग ग ग ग	गम मप मग म	– नी नी नी	सानी साध पध म
मिर गा नै णी	सन मुख आऽ वो	ऽ चो प ड	दीऽ ऽऽ नीऽ ऽ
मप ग ग, सा	सा ग ग म		
डाऽ ऽ ल, व	डी छै नि र	मागण तूं राणी	....
×	०	×	०

इस गीत की स्वर-रचना मे लयकारी पद-सचालन के अत्यन्त अनुरूप है तथा समस्त गीत को गाते समय समापण-परिपाटी का पूर्णरूप से पालन किया गया है।

लोकसंगीत का तालपक्ष

शास्त्रीय सगीत का ताल-पक्ष जितना जटिल होता है उतना लोक-सगीत का नही होता। साधारणत लोकसगीत की समस्त तालें ७, ८, ६ या १० मात्रा मे होती हैं और उसकी लय क्रम से सरलता को लिए हुए होती है। जिस तरह लोकसगीत की सृष्टि मे शब्द तथा स्वर अनायास ही उद्भूत होते हैं उसी तरह उसके साथ ताल भी गीत की प्रकृति के अनुकूल गठित होती जाती है। जैसे-जैसे गीत-रचयिता के मन मे स्वरो की निष्पत्ति होती है, वैसे-वैसे उसके मन मे अनेक तरगें उठती रहती हैं। यदि उसके भावों की

निष्पत्ति वक्र है तथा उसका मन अतिशय उद्विग्न तथा अनेक गुत्थियो से उलझा हुआ है तो उसके अनुरूप ही उसके स्वर अत्यन्त गु फित तथा जटिल होते जाते हैं। ऐसी विषम स्थिति मे गीत की ताल भी वक्र होती है। यही कारण है कि हर्षोल्लास के गीत जितने सरल, सुगम तथा प्रच्छन्न लय मे होते हैं, उतने विषाद के गीत नही होते। यहां यह भी समझना असगत नही कि भावो और स्वरो का जितना सामंजस्य लोकगीतो मे होता है, उतना कही नहीं। यदि रचयिता का मन किसी विषाद से उद्विग्न है तो उम गीत की स्वर-रचना भी उस विषाद को उद्दीप्त करने वाली होगी। इसी तरह जब उसकी हृदय-तन्त्रियां उल्लास के अतिरेक से थिरकने लगती हैं तो उस समय की स्वर-रचनाएँ भी उस उल्लास के उद्दीपन मे मदद करती हैं। इस उद्देश्य की पूर्ति गीत की लय भी करती है। साधारणत. लोकगीतों की लय मे वक्रता नही होती और जो भी वक्रता कही-कही परिलक्षित होती है, वह भावावेग के कारण ही होती है।

लोकगीतो की तालें सीधी, खटकेदार, लयप्रधान तथा चक्राकार होती हैं। प्रत्येक गीत मे एक स्थान पर मान होता है, जो शास्त्रीय सगीत की भाषा मे सम कहलाता है, परन्तु सम और मान मे बडा अन्तर है। शास्त्रीय सगीत के सम मे अन्य मात्राओ का परिमाण निहित रहता है। उससे सगीत-कार को अपनी मात्राओ की सीमा का पता लगता रहता है, जिससे वह अपनी स्वर-विस्तार-योजना का नियोजन करता है। यह उसके लिए वह मील का पत्थर है, जिससे वह अपनी गायन-सचरण-यात्रा का सही अनुमान लगाता है, वही उसकी दिशा-निर्देश करता है और सही गलत का भान कराता है। मान और सम लय के वे स्थान हैं, जो सभी रचनाओ में होते हैं, चाहे वह शास्त्रीय सगीत की रचना हो, चाहे लोकसगीत की। वे सगीत के मेरुदड हैं, जहाँ से लय का चक्र शुरू होता है, और पुन वही पर समाप्त होता है। यदि यह मेरुदड नही हो तो लय विना उद्देश्य के चक्कर लगाती रहे और सगीतकार को उस चक्र मे बुरी तरह उलझा दे। शास्त्रीय सगीत के सम मे अन्य घटको के फासले निश्चित रहते हैं, परन्तु लोकसगीत का मान इस प्रयोजन से नहीं होता। लोकसगीत की लगभग सभी तालें उनके खटको की दृष्टि से मान से वरावर फासले पर होती है और चाचर, दीपचदी आदि तालो की तरह, लय के स्थान वरावर फासले पर होते हुए भी उनमे स्थानो का अन्तर रहता है, परन्तु उनका सम अर्थ एक ही होता है। परन्तु जव वे सचरण के समय क्रियाशील होती हैं तो उनमे अनिवार्य रूप से वक्रता का आभास मिलता है। झूमरा, चाचर, दीपचदी आदि तालो मे यही विशेषता है।

वहुवा लोकसगीत के मान के साथ जो तीया लगाने की परम्परा है, उससे कभी-कभी शास्त्रीय तालो का भ्रम होता है। शास्त्रीय सगीत के तीये सभी तालो के साथ प्रयुक्त किये जाते हैं तथा प्रत्येक ताल मे तीये के अलग-अलग स्थान नियत हैं। दुगुन, चौगुन तथा साधारण लय के तीयो के उठान के स्थान शास्त्रीय सगीत मे अलग-अलग होते हैं, परन्तु लोकसगीत के तीयो मे कोई पूर्व नियोजन नही होता। लोकसगीतकार को यह भी मालूम नही कि मान कहाँ पर है, उसका अमुक गीत मे कहाँ से उठाव होता है, कहाँ से उठने पर तीया मान पर सही आ सकता है। परन्तु फिर भी वह गाते समय सही मान का अनुमान कर ही लेता है और वजाने वाला अनजाने ही मान पर अत्यन्त सही जगह तीया लगा देता है। जिस तरह लोकसगीत का वाद्य-कार अपने तारो के वाद्य विना स्वर-ज्ञान के सही और शुद्ध तरीके से मिला लेता है, उसी तरह गाने-वजानेवाला मान के माने मे जगह का भान नही होते हुए भी कभी गलती नही करता। राजस्थान के भवाई कलाकार की ढोलक सुनकर हम आश्चर्यचकित इसलिए हो जाते हैं कि वह अनजान ही मे विना किसी शास्त्रीय ज्ञान के ढोलक पर अत्यन्त वक्रगति की चालें वजाकर अपना चमत्कार प्रदर्शित करता है। भवाई नृत्यकार भी उसके साथ अत्यन्त वक्रगति से नाचकर विलक्षण चमत्कार दर्शाते हुए उसे आसमान के तारे दिखला देता है। भवाई की ढोलक-वादन-कला लोकशैली की होकर भी शास्त्रीय वादको को एक वार तो आश्चर्य मे डाल ही देती है।

लोकसगीत मे ऐसे अनेक लोकगीत हैं, जिनका ताल-पक्ष विल्कुल स्पष्ट नहीं होता, केवल लयमात्र से ही उसका काम चल जाता है। यहाँ लय और ताल का भेद भी समझ लेना आवश्यक है। लय गीत की वह स्वाभाविक चाल है, जिस पर गीत की मूलरचना का आधार होता है। हवा मे जो वृक्ष के पत्ते हिलते हैं वे भी लय में हिलते हैं, कोयल जव कुहुकती है तव भी वह लय ही मे कुहुकती है, वादल जव गरजते हैं तो वे भी लय ही मे गरजते हैं, हम जव खाते हैं तो लय ही मे हमारे होठ हिलते हैं, हम चलते हैं तव भी लय पर ही हमारे पाँव उठते हैं। लय वह अज्ञात और स्वाभाविक प्रक्रिया है, जिस पर समस्त ब्रह्माण्ड टिका हुआ है तथा विश्व की समस्त क्रियाएँ अवलम्वित रहती हैं। लय सचार-क्रियाओ की आत्मा है तो ताल उसका शरीर-पक्ष है। लय के विविध भागो, विभागो तथा अनुभागो के विविध समूह को ताल कहते हैं। सच पूछिये तो लोकसगीत मे ताल शब्द का प्रयोग ही गलत है, उसमे सव कुछ लय ही है, ताल जैसी कोई चीज़ ही नही है। शास्त्रीय संगीत मे

नी	–	सा	–	सा	–	सा	–	–	नी	नी	–
था	ऽ	ने	ऽ	पू	ऽ	जा	ऽ	ऽ	भै	रू	ऽ
नी	–	सा	सा	सा	–	सा	–	रे	सा	नी	–
मा	ऽ	द	ळ	नो	ऽ	ड	ऽ	को	वा	गे	ऽ
नी	–	सा	–	सा	–	सा	–	–,	नी	नी	–
था	ऽ	ने	ऽ	पू	ऽ	जा	ऽ	ऽ,	भै	रूं	ऽ
×						०					

(शेष पक्तियां भी इन्ही स्वरो मे गावें।)

राजस्थान के इस भीलीगीत मे शब्द-चयन प्राय नही के वरावर है। स्वरो की सीमा भी वहुत छोटी है। केवल दो-चार स्वरो मे ही इसका सचरण होता है तथा शब्दो की इसमे पुनरावृत्ति मात्र है।

लोकवाद्य और वाद्यसंगीत

लोकसगीत मे वाद्यसगीत का वहुत वडा महत्त्व है। दो वस्तुओ के सघर्षण से जो आवाज़ निकली उसी मे वाद्यसगीत की कल्पना साकार हुई। उसी के आधार पर नानाप्रकार के प्रयोग हुए, जिनसे लोक और शास्त्रीय वाद्यो के अनेक स्वरूप हमे दृष्टिगत हुए। कठ-सगीत की तरह ही वाद्य-सगीत का भी प्रादुर्भाव हुआ है। सर्वप्रथम निष्पत्ति लोकसगीत की हुई, उसके वाद कुछ विशिष्ट जनो ने वाद्यो मे प्रयोग किये और अपने कठ-सगीत को उसमे उतारा। वाद्य-सगीत कठ-सगीत की तरह लोकप्रिय नही वना, क्योकि कठ-सगीत मे स्वाभाविक भावात्मक अभिव्यजना विना अभ्यास तथा पूर्व प्रयास के ही होती है। यह प्रक्रिया लोकवाद्यो मे उतनी ही सच्चाई के साथ लागू नही होती, क्योकि वाद्य वजाने मे हस्तलाघव तथा वौद्धिक चातुर्य की आवश्यकता होती है। यदि वाद्य-वादन उतना ही सरल और स्वाभाविक होता तो आज प्रत्येक मानव के पास कोई न कोई वाद्य अवश्य होता। कठ-सगीत मे किसी प्रकार के वाह्य उपकरण की आवश्यकता नही होती, जवकि वाद्य-सगीत मे स्वय वाद्य को ही उपलव्ध करना होता है। वाद्य यदि घर मे पहले से उपलव्ध भी हो तो भी कुछ तो पूर्वाभ्यास तथा प्रशिक्षण की आवश्यकता होती

ही है। सभी ऐसी प्रतिमाएँ नही हुआ करती जो अपने हाथ मे वाद्य आते ही वजाने लगजाती हो।

वाद्यो मे ताल-वाद्यो की उत्पत्ति सवसे पहले हुई, क्योकि एक तो वह आसानी से उपलब्ध हो सकता है, दूसरा उसे वजाना भी सवसे आसान है। यदि कोई व्यवस्थित साज़ उपलब्ध नहीं भी हो सके तो भी दो चीज़ो को ताल में टकराने से सरल ताल की निष्पत्ति हो सकती है। यदि कुछ भी नही मिले तो भी दोनो हाथो से ताली तो वजाई ही जा सकती है। आदिकाल मे मनुष्य को अपने गीत-नृत्यो के साथ जब ताल की आवश्यकता हुई तो मरे हुए पशुओं की खाल को मिट्टी के वर्तनो पर चढाकर ताल-वाद्य वना लिया जाता था। उसके साथ ही थाली, लकडी आदि वजाने की भी प्रथा प्रारम्भ हुई। ये दोनो ही प्रकार के ताल-वाद्य आदि ताल-वाद्य है, जिनका प्रादुर्भाव आदिम सस्कृति के साथ ही हुआ, ऐसा प्रतीत होता है। ढोलक, तवला, पखावज, खोल, चग, ढोल, नक्काडे, डफ, खजरी आदि वाद्य वाद मे विकसित हुए। जगल मे कटे हुए वांसो मे आंधी-तूफानो से जव वायु का संचार हुआ और उससे जो भाँति-भाँति की आवाजें मुखरित हुईं, उनसे फूक-वाद्य की कल्पना साकार हुई। सर्वप्रथम एक ही छेद को फूककर स्वर निकाला जाता था और उसी को मूल स्वर (Basic note) मानकर हमारे आदिम भाइयो ने अपने गीतो का सृजन किया। ये ही प्राथमिक वाद्य वाद मे वासुरी, अलगोजे तथा नानाप्रकार के फूंक-वाद्यो मे विकसित हुए। मृत जानवरो की खालें खीचने मे जो तनाव उत्पन्न होता था और उसकी आतो का नाना प्रकार की रस्सियो के रूप मे प्रयोग किया जाता था, उस समय उनके तनाव मे जो तुनतुनाहट पैदा होती थी, उससे नाना प्रकार की ध्वनियो का सृजन हुआ तथा उनसे तन्तु-वाद्यो की कल्पना साकार हुई। इस ततु-वादन के परिणामस्वरूप सवसे पहले वना हुआ वाद्य इकतारा है। इसी इकतारे के तार को कुछ-कुछ अन्तर से दवाकर वजाने से जो विविध स्वरो की सृष्टि हुई उससे अन्य तन्तु-वाद्यों का विकास हुआ। इन तन्तु-वाद्यों मे भी चुटकी चुटकाकर वजानेवाले वाद्य और वाद में गज़ से वजनेवाले वाद्यो का निर्माण हुआ। वाद्यो की यह अल्प कथा उसके सपूर्ण विकास और भाँति-भाँति के विकसित वाद्यो की ओर सकेत करती है।

यह सिद्ध हो चुका है कि अधिकाश वाद्यो की कल्पना कण्ठ-सगीत के वाद की कल्पना है जो कठ सगीत को अधिक प्रभावशाली वनाने के प्रयोजन से ही प्रादुर्भूत हुई है। लोकवाद्यो का विकास मूलत कठ-सगीत की सगत के लिए

ही हुआ है। उनके स्वतन्त्र प्रयोग की कल्पना वास्तव मे बाद की कल्पना है। लोकवाद्यो मे कोई ऐसा वाद्य नही है जो केवल बजाने के उद्देश्य से ही बजाया जाता हो। ताल, मजीरे, खजरी, ढोल, नक्काडे, नफीरी, बासुरी, चग, ढफ, अपग, बीन, इकतारा, दुतारा, धतूरा, सारगी, रबाब, कमाचा, जतर, रावण हत्ता आदि सभी वाद्यो का, स्वतन्त्ररूप से बजाने की दृष्टि से कोई मूल्य नही है। वे सब गीतो की सगति हेतु ही निर्मित होते हैं। इन सब साज़ो को मिलाकर एक साथ एक ही धुन मे सामूहिक रूप से बजाने की प्रवृत्ति भी आधुनिक ही है। लोकसगीत मे वृन्द-वादन जैसी कोई चीज़ ही नही है। कुछ पेशेवर कला-जातियाँ आजीविका उपार्जन के लिए यजमानो के यहाँ तथा विवाह-शादियो मे जुलूस के साथ जो साज़ बजाती हैं, वह वास्तव मे वृन्द-वादन की परम्परा नही है।

लोकवाद्यो मे कुछ वाद्यो की सृष्टि गायन की कुछ विशिष्ट शैलियो मे प्रयुक्त होने के लिए ही हुई है, जैसे कीर्तन, भजन के साथ इकतारा, तम्बूरा, धतूरा, खडताल, मजीरा, खजरी आदि का प्रयोग। इस विशिष्ट शैली के लिए ये ही साज़ सर्वाधिक उपयुक्त हैं। इस शैली की गभीरता को निभाने तथा कीर्तन को सात्विक आभास देने के लिए ही ये साज़ उपयुक्त समझे गये हैं। पारिवारिक तथा शृगारिक गीतो मे तो किसी प्रकार के साज़ ही की आवश्यकता नही समझी गई है, क्योकि ये शौकिया जन-जीवन की शैलियाँ हैं और मन की मौज तथा उत्सव समारोह के लिए ही प्रयुक्त होती हैं। इनके द्वारा किसी का मनोरजन नही किया जाता, न इनका उपयोग व्यवसायिक दृष्टि से होता है, अत कोई साज़ इनके साथ नही बजता। केवल व्यवसायिक गीतो के लिए साज़ बजाने की नितान्त आवश्यकता होती है, क्योकि वे किसी वर्गविशेष को रिझाने के लिए होते हैं तथा इन्हे प्रयुक्त करनेवाले स्वय सगीतपटु होते हैं और जिनकी सगीतपटुता ही जीवन का व्यवसाय है। इन विशिष्ट गीतो के साथ सारगी, तबला, ढोलक, रबाब, कमाचा, रावणहत्ता, नफीरी, बासुरी आदि वाद्य बडी खूबी के साथ बजाये जाते हैं।

नृत्य तथा नाट्य-सगीत के साथ नफीरी, नक्काड़े, शहनाई, सारगी, तबला, ढोलक, मजीरे आदि बखूबी बजते हैं। ये साज इन गीतो को प्रभावशाली तथा अधिक रगीन बनाने के लिए अत्यन्त आवश्यक होते हैं, इनके बिना ये नृत्य-नाट्य निरर्थक साबित होते हैं। आदिवासी नृत्यो के साथ अलगोजे, थाली, मादल, खोल, ढोल आदि साज इसलिए बजते हैं, क्योकि उनके नृत्य लयप्रधान होते हैं और इन साज़ो की लय से उनके पाँव स्फूर्ति के साथ उठते हैं।

इतिवृत्यात्मक गीतो के चिरसगी सारगी, रावणहत्ता, अपग, इकतारा, चौतारा, रवाव, कमाचा आदि वाद्य होते हैं, जो इन गीतो के साथ वजाये जानेवाले सर्वाधिक उपयुक्त वाद्य हैं। इनके साथ एक विशिष्ट परम्परा ही जुड़ी हुई है। ताल-वाद्य प्राय इनके साथ नही वजते, क्योकि ये उपर्युक्त साज ही इन्हे ताल का स्पष्ट भान करा देते हैं। ये झटके के साथ वजाये जाते हैं, जिनसे ताल का प्रादुर्भाव अत्यन्त स्वभाविक ढग से हो जाता है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, स्वतन्त्ररूप से वाद्य-वादन लोकसगीत की विशुद्ध परम्परा नहीं है। केवल कठ-सगीत की सगत के लिए ही उनकी सृष्टि हुई, ऐसी वात भी नही है।

लोकसगीत शास्त्रीय सगीत का अविकसित स्वरूप नही है, न शास्त्रीय सगीत ही लोकसगीत का विकसित स्वरूप है। यह सिद्धान्त वाद्य-सगीत पर लागू नही होता। लोकवाद्यो के लिए हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि वे शास्त्रीय वाद्यो के अविकसित स्वरूप हैं। क्योकि शास्त्रीय सगीत मे वाद्यो का विकास ही लोकवाद्यो से हुआ है। यह सिद्धान्त इसलिए सत्य सिद्ध होगया क्योंकि लोकवाद्यो की कल्पना वहुत प्राचीन नही है तथा उनके साथ कोई अन्योन्याश्रित सवध भी नही हैं। उन्हे लोकवाद्य कहने की अपेक्षा केवल वाद्य ही कहना चाहिए। साथ मे यह भी नही भूलना चाहिए कि वे शास्त्रीय तथा उन्नत वाद्यो के प्राथमिक रूप हैं।

लोकसंगीत-शास्त्रीय संगीत : दिशाभ्रम

लोकसगीत जव शास्त्रीय सगीतज्ञो के पल्ले पड जाता है तो उसका रूपान्तर होने लगता है। वह शास्त्रीय सगीत मे वदलता इसलिए नही है कि उसमे वदलने की कोई वात ही नही है। विशिष्ट राग-रागिनियो मे वँधी हुई जो विशुद्ध वंदिशें होती हैं वे अत्यन्त सरल होती है। उनके साथ तान, आलाप, मुर्कियाँ, श्रुतियाँ आदि जोडकर ही उन्हे शास्त्रीय स्वरूप दिया जाता है। उनके साथ गायक की गायनपटुता, घराने की गायकी तथा रागविशेष की विशिष्ट परम्पराएँ शैली के रूप मे जव जुड जाती हैं तव उनका रूप निखरता है। तापर्य यह है कि शास्त्रीय संगीत की कृतियो मे अनेक तत्त्व मिलकर ही इन्हे शास्त्रीय गीतो का स्वरूप प्रदान करते हैं। परन्तु लोकसगीत की कृतियाँ अपने मे सम्पूर्ण होती हैं। गीत की स्वर तथा शव्द-रचना ही मे समस्त लोक-सगीत का स्वरूप निहित रहता है। गायक केवल अपनी गायकी तथा अपने व्यक्तित्व के कुछ तत्त्वो की छाप उस पर लगा देता है। लोकगीतो मे ही

स्वर-रचना तथा गीत के विशेप खटको का चमत्कार सूक्ष्म रूप मे निहित रहता है। अत शास्त्रीय संगीत की रचना मे और लोकसंगीत की रचना मे कोई मेल सभव नही है। शास्त्रीय संगीत की रचना सगीतशास्त्र के विशिष्ट नियमो के अनुसार ही होती है। उसमें अनेक सगीताचार्यों का कौशल तथा वुद्धि-तत्त्व निहित रहता है। लोकसंगीत मे जो रचना-कौशल निहित है वह किसी और ही शास्त्र से प्रतिपादित होता है। उसमे वैयक्तिक वुद्धि-तत्त्व से कही अधिक सामाजिक मनोविज्ञान से परिपुष्ट भाव-तत्त्वों का समावेश होता है। दोनों शैलियो का मनोवैज्ञानिक धरातल, उनका शास्त्र, उनकी परम्परा तथा प्रकृति विल्कुल भिन्न होती है। अत दोनो के मिलने तथा एक दूसरे मे विलीन होने की कोई भी गुंजाइश नही है। यदि कही कोई मेल सभव भी है तो उनके ताने-वाने मे है जो कि उनका शरीर मात्र है, आत्मा नही है। वैसे यदि कोई शास्त्रीय सगीतकार किसी लोककृति को शास्त्रीय पद्धति से गाना चाहे तो वखूवी गा सकता है। लोकसगीत की अपनी मूल स्वर-रचना तो होती ही है। किसी-किसी सगीत मे तो स्थायी अन्तर भी होते हैं। उस विशिष्ट संगीत मे जो राग का परम्परागत स्वरूप विद्यमान है, उसको पकडकर उसके राग का रूप-विधान निर्धारित करके शास्त्रीय सगीत की विस्तार-पद्धति से आलाप, तान आदि का सृजन करते हुए सगीतकार अत्यन्त प्रभावशाली ढग से गा सकता है तथा उसमे विशिष्ट ताल-लय के चमत्कार वतला सकता है। तदुपरान्त गीत के स्वरो के अनुमार मन्द्र से तार सप्तको के क्रम से स्वरो पर रुकता हुआ उनमे तालवद्ध स्वर-सचार के चमत्कार दिखला सकता है। स्थाई के सचार के उपरान्त वह अन्तरे की चहल-पहल मे इसी क्रम से प्रविष्ट कर सकता है। तदुपरान्त वह तान-पक्ष को मुखरित करने के लिए मूलगीत की स्वर-रचना का आभास देते हुए विविध तानो एव पलटो की सृष्टि करता है। इस तरह वह सम्पूर्ण लोकसगीत को शास्त्रीय ताना-वाना पहिनाने मे समर्थ हो सकता है, परन्तु 'वह शास्त्रीय सगीत नही वन जाता, क्योकि वह तो जहाँ का तहाँ ही रहता है। किसी व्यक्ति को कपडे, अलकरण आदि पहना देने से ही कोई विशिष्ट व्यक्ति नही वन जाता। उसी तरह शास्त्रीय सगीत के ताने-वाने से किसी गीत को सजा देने से वह शास्त्रीय नही वन जाता। लोकसगीत मे तो सगीत की रचना ही सारा गीत है, परन्तु शास्त्रीय सगीत मे मूल गीत-रचना के साथ उसका समस्त ताना-वाना मिलकर ही शास्त्रीय सगीत वनता है। अत यह स्पष्ट है कि इन दोनो प्रकारो के मिलने की कल्पना ही एक भ्रामक कल्पना है।

इस तरह अनेक ऐसे लोकगीत हैं, जो कुछ पेशेवर लोकगायकों द्वारा अलकृत शैली मे गाये जाते हैं। उनमे लयकारी तथा शास्त्रीय स्वरूप का कुछ आभास देखकर कुछ लोग यह समझ लेते हैं कि वे शास्त्रीय सगीत की ड्योढी मे प्रवेश करके उसके अचल को छू रहे हैं। परन्तु बात यह नही है। वह भेद तो गायक के गायनचातुर्य के कारण आगया है, मूलगीत तो वही का वही है।

लोकसगीत की कुछ बंदिशें निरन्तर व्यवहार तथा पेशेवर जातियो द्वारा प्रयोग के कारण कुछ क्लिष्ट अवश्य बन जाती हैं। उनके द्वारा लाई हुई यह कलात्मक वक्रता शास्त्रीय सगीत का आभास देने लगती है। राजस्थान मे गाई जाने वाली मांडें इसका एक ज्वलन्त उदाहरण है। इस वक्रता का यदि विश्लेषण किया जाय तो यह ज्ञात हो सकता है कि यह वक्रता गीत के रचना-विधान मे नहीं है। वह उसकी गायनशैली ही मे निहित है। इन व्यवसायिक लोकगीतो का यह पक्ष निश्चय ही लोकपक्ष से कुछ दूर है तथा कुछ ही लोगो की अभिरुचि तथा उनके मानसिक धरातल के अनुकूल पडता है। यह बात बिल्कुल सही है कि लोकसगीत की शास्त्रीय सगीत मे और शास्त्रीय सगीत की लोकसगीत मे परिवर्तित होने की प्रक्रिया बिल्कुल असभव है, क्योकि शास्त्रीय सगीत उसके शरीरपक्ष मे तथा लोकसगीत उसके आत्म-पक्ष मे निहित रहता है। यदि यह लोकसगीत अपने आत्मपक्ष को त्यागकर अपने शरीर-पक्ष के निखार पर उतर आये तथा पेशेवर कलाकार प्रचलित लोकगीतो को सजा सँवारकर उनके शरीर को निखारते रहे तो वह निखार केवल कला-कौशल का निखार समझा जायेगा और वह गीत अपनी गायन शैली की दृष्टि से निश्चय ही लोकपक्ष से नीचे उतर जायेगा, परन्तु वह शास्त्रीय गीत नही बनेगा। शास्त्रीय गीत बनने के लिए शास्त्रोक्त ताने बाने की आवश्यकता होती है और जैसे ही वह किसी विशेष अवस्था मे उस स्थिति को प्राप्त करने की चेष्टा करता है वैसे ही उसका आत्मपक्ष तिरोहित होने लगता है और वह प्राय मर ही जाता है। व्यवसायिक लोकगीतकारो की कृतियाँ इस स्थिति तक कभी नही पहुँच सकती हैं, क्योकि उनके शरीर-पक्ष के निखार के साथ उनका आत्मपक्ष तो फिर भी विद्यमान रहता है, क्योकि शास्त्रोक्त ज्ञान से वे सगीतज्ञ बिल्कुल अनभिज्ञ रहते हैं।

लोकसंगीत और उसका निर्देश

शास्त्रीय सगीत को दिशा निर्देश की आवश्यकता इसलिए होती है कि वह बहुत अधिक शास्त्रीय और तकनीकी (technical) होता जा रहा है।

उसका भावपक्ष गौण और उसका कलापक्ष प्रधानता पा रहा है, जिसका परिणाम यह हुआ है कि उसका व्यवहार कुछ ही आचार्यों तक सीमित रह गया है, तथा लोकव्यवहार से वह कोसों दूर हो गया है। परन्तु प्रश्न यह है कि क्या लोकसगीत को भी इस दिशा-निर्देश की आवश्यकता है। वास्तव मे दिशा-निर्देश की तो नही परन्तु इस बात की अवश्य आवश्यकता है कि नवीन रचनाकार अपने नवरचित गीतो मे लोकगीतो के कुछ बाह्य तत्त्व लेकर मौलिक गीतों की भ्रांति उत्पन्न नही करे। वे लोकगीतो को लोकगीत ही रहने दें और स्वरचित गीतो को स्वरचित ही। नवरचित गीतो मे लोक-गीतो की धुनो का सहारा अवश्य लिया जाता है, परन्तु उनमें लोकगीतो की भ्रांति उत्पन्न करने की चेष्टा अत्यन्त घातक चेष्टा है। यह भ्रांति भी अधिक समय तक नही चल सकती, क्योकि लोकगीतो के सचार, प्रसार तथा व्यवहार-क्षेत्र बिल्कुल निश्चित रहते हैं। उन क्षेत्रो मे वे खूब जाने पहिचाने होते हैं। वहाँ किसी प्रकार की चतुराई नही चल सकती। भ्रांति तो वहाँ होती है, जब वे किसी विजातीय क्षेत्र मे पहुँच जाते हैं तथा जहाँ उनकी जान-पहिचान किसी से नही होती। ऐसे क्षेत्रो मे वास्तविक, अवास्तविक का भेद करना बहुत कठिन होता है।

लोकगीतो मे अन्य किसी प्रकार के दिशा-निर्देश की आवश्यकता नही होती। दिशा-निर्देश तो वहाँ जरूरी होता है जहाँ दिशाभ्रम हो जाए। वह तो लोकगीतो के सराहको मे हो सकता है, उनके प्रयोक्ताओ मे नही। लोक-गीत सीखने सिखाने की चीज नही होती। उनके प्रयोक्ताओ को परम्परा से ही यह धरोहर मिली हुई होती है। जैसे वे बिना सिखाये ही खा लेते हैं, सो लेते हैं तथा उठ बैठ जाते हैं, वैसे ही वे गा भी लेते हैं। जो गीत उनके जीवन मे रमे हुए है तथा जिस शैली मे वे उन्हे गाते हैं, उनमे कभी भी उन्हें दिशा-भ्रम नही हो सकता।

दिशा-निर्देश केवल व्यवसायिक लोकगीतकारो को तथा लोकगीतो के शौकिया प्रयोक्ताओ को इस बात के लिए आवश्यक है कि वे कही अपनी कृतियो को इतना सजाये सँवारे नही तथा उनका रचनागत स्वाभाविक सागी-तिक सौंदर्य निर्बाध बना रहे। दूसरा निर्देश उन्हे आवश्यक है जो लोक-गीतो के प्रमुख तथा परम्परागत प्रयुक्ता हैं, वे आधुनिक प्रभाव तथा सगीत की अन्य धाराओ मे इतने नही उलझ जायें कि वे लोकसगीत के शाश्वत सौंदर्य से ही विमुख हो जायें। उन्हे ऐसी उचित सामाजिक जागरूकता तथा

मार्गदर्शन की आवश्यकता है। यहाँ एक तथ्य की ओर सकेत करना अति-आवश्यक है कि लोकगीत लोकगीत ही से प्रेरणा प्राप्त करता है, अन्य किसी गीत से नही। वैज्ञानिक तथ्य भी यही है कि समना समता ही को ग्रहण करती है, विपमता को नही। अत विरले ही ऐसे लोकगीत होंगे, जिन पर गायन-विधि की दृष्टि से फिल्मी प्रभाव नज़र आया हो। फिल्मी गीत लोकगीतो से प्रभाव प्राप्त करते हैं, परन्तु लोकगीत फिल्मी गीतो से नही। अनेक फिल्मीगीत-रचनाकार ऐसे हैं जो अपनी रचनाओ मे लोकधुनों का सहारा लेते हैं। एक विलक्षण बात और है कि एक क्षेत्र के लोकगीत दूसरे क्षेत्र के लोकगीतो की धुनो तथा गायकी से प्रभावित होते रहते हैं और एक दूसरे की धुनो को आत्मसात् करते हैं। राजस्थान और गुजरात की सीमा के लोकगीत तथा पजाब और राजस्थान की सीमा के गीत स्वर तथा शब्द-रचना की दृष्टि से एक दूसरे से गले मिलते नज़र आते हैं।

यहाँ इस बात की ओर सकेत करना भी आवश्यक है कि स्वरविज्ञान के नियमो के अनुसार स्वरों का मेल शब्दो से कही अधिक जल्दी होता है। स्वर पहले गले मिलते हैं और शब्द बाद मे। राजस्थान के डाडिया गीतो में तथा गुजरात के गरबा नृत्यो मे जो सांगितिक लालित्य है, वह इसी मिलन का द्योतक है। जब किसी व्यक्ति के मन पर किसी गीत का प्रभाव पडता है तो उसके मन पर भावनाप्रधान स्वर का असर पहले और अर्थप्रधान शब्द का असर बाद मे पडता है। हृदय की ग्राह्य तथा सवेदन शक्ति मस्तिष्क से कही अधिक शक्तिशाली होती है, अत मनुष्य गीतो की धुनें पहले पकडता है, शब्द बाद मे। यही कारण है कि हमे पसद आनेवाले लोकगीतो की धुनें हम पहले गुनगुनाते हैं, उनके शब्द बाद मे रटते हैं। उन गीतो के स्वर स्मृतिपटल पर अधिक अकित रहते हैं जो स्वरो के साथ समरस होते हैं, या यो कहिये कि जिन स्वरों को समरस शब्दो का योग प्राप्त हुआ होता है, वे ही समरस होते हैं। यह शब्द स्वर-समरसता लोकगीतो मे सर्वाधिक मात्रा मे विद्यमान रहती है। यही कारण है कि लोकगीत सामाजिक हृद्-पट पर जितने समय तक अकित रहते हैं, उतने कोई नही। यही शब्द-स्वर-समरसता लोकगीत का रचना-सौदर्य है। आदिम गीतो मे यह सामञ्जस्य प्राय. नही के बराबर है। इसीलिए वे इतने रूखे और नीरस होते हैं। आदिवासी सदा ही एकान्तप्रिय तथा सभ्यता और नवीनता से दूर रहे हैं, इसीलिए उनके जीवन की निरीहता के साथ उनकी कला भी निरीह रह गई।

लोकसंगीतो की प्रांजलता

उन क्षेत्रो मे जहाँ विभिन्न क्षेत्रो के मनुष्य मिलते हो, जहाँ अनेक मेले उत्सव, समारोह आदि होते हो, जहाँ सास्कृतिक आदान-प्रदान अधिक होता हो, वहाँ के प्रचलित लोकगीत अधिक प्राजल तथा उनमे रचना-सौन्दर्य की अनुपम छटा दृष्टिगत होती है। केवल प्राकृतिक सौन्दर्य तथा भौगोलिक विशेषताओ से ही गीतो मे प्राजलता नही आती बल्कि मानव के सास्कृतिक आदान-प्रदान का उनकी प्राजलता मे अधिक योगदान रहता है। जहाँ मनुष्य का सास्कृतिक तथा सामाजिक आदान-प्रदान तथा मेलजोल होता है, वहाँ के लोकगीतो मे भाषा, भाव तथा स्वरसौष्ठव की दृष्टि से अद्वितीय लालित्य होता है। सौराष्ट्र, गुजरात, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश आदि के सन्धि-स्थलो पर इन गीतो का लालित्य चरमसीमा पर होता है। जो क्षेत्र इस प्रकार के आदान-प्रदान तथा मानवी लीलाओ से हीन होते हैं तथा जहाँ मनुष्य की रगीनियो को चमत्कृत होने के लिये आवश्यक सघर्षण नही मिलता है, वहाँ के लोकगीत अपेक्षाकृत शिथिल और रचनाकौशल से विहीन होते हैं। यहाँ यह भी जान लेना जरूरी है कि यह सास्कृतिक सघर्षण समता की स्थितियो मे ही होता है। जो राजस्थानी सैकडो वर्षों से आन्ध्र, तामिल, बगाल तथा आसाम के सुदूर क्षेत्रो मे स्थानीय जनता के साथ घुलमिल गये हैं, उनके दु ख-सुख मे काम भी आते हैं, उनकी भाषा मे भी प्रवीण होगये हैं, परन्तु वहाँ के सगीत से लेशमात्र भी उन्होंने प्रेरणा ग्रहण नही की। अत यदि किसी क्षेत्रविशेष का सास्कृतिक साम्य दूसरे क्षेत्र से नही है तो यह उक्त प्रक्रिया निष्प्राण ही रहती है। यही कारण है कि राजस्थान के गीत बगाल के गीतो से प्रेरणा नहीं पाते। विहार के गीतो का कोई वास्ता राजस्थान के गीतो से नही होता। ये सब प्रक्रियाएँ इतनी सूक्ष्म और अज्ञातरूप से अपना काम करती हैं कि कहाँ कुछ हो रहा है, उसका कोई पता नही लग सकता। लोकगीतो का यह सास्कृतिक आदान-प्रदान उनकी सबसे बडी धरोहर है।

लोकसगीत का लोकपक्ष-क्रम

भाषा मे सरलीकरण की प्रवृत्ति अनतकाल से चली आरही है। भाषा जैसे-जैसे क्लिष्ट और पाडित्यपूर्ण बनाई जाती है, वैसे-वैसे वह लोक-प्रयोग से दूर हटती जाती है। उसे पाडित्यपूर्ण बनाने की प्रवृत्ति अत्यन्त स्वाभाविक प्रवृत्ति है। जैसे-जैसे साहित्य मे प्रौढता आती रहती है, शास्त्र भाषा पर हावी हो जाता है। उसका एक अत्यन्त क्लिष्ट स्वरूप समाज मे प्रचारित होने लगता है

और धीरे-धीरे उनका स्वरूप पुस्तको तक ही सीमित रहता है। लोक प्रचलन के लिये उसके किसी सरल स्वरूप का आधार ग्रहण किया जाता है। इस तरह सरलता से क्लिष्टता तथा क्लिष्टता से सरलता का चक्र अनतकाल से चलता आरहा है। इस क्रम के अनुसार भाषा का स्वरूप ही बदलता रहता है। यह पक्ष लोकगीतो के साथ जुडा हुआ अवश्य है, परन्तु उसके शब्दपक्ष के साथ नहीं। अत. लोकगीतो का शब्दपक्ष क्लिष्टता से सरलता और सरलता से क्लिष्टता की ओर अग्रसर होता है तथा समाज की सांस्कृतिक स्थितियो के अनुसार घटता बढ़ता रहता है। लोकगीत पहले भाषा की दृष्टि से क्लिष्ट रहता है, निष्पत्ति के समय उसमे शब्दो का जाल गुफित रहता है, परन्तु सामाजिक भावना की कसौटी पर उतरते-उतरते उसका सरलीकरण होने लगता है। वह इतना सरल हो जाता है कि उसकी सरलता मे ही उसका सौन्दर्य निहित रहता है तथा वे ही शब्द उसमे रह जाते हैं जो थोड़े ही मे अधिक प्रभाव उत्पन्न करते हैं। इस सरलीकरण की क्रिया के साथ स्वर-रचना अधिक गुफित होती जाती है। उसमे प्रौढ़ता, वैचित्र्य, विविधता तथा प्राजलता की मात्रा बढती है, जिसके कारण रसनिष्पत्ति अधिक प्रभावशाली हो जाती है और शब्द और स्वर की व्यजनाशक्ति बढ जाती है।

स्वर-गुंफन से तात्पर्य उसकी भावाभिव्यजना से है। शास्त्रीय सगीत की तरह स्वरो के तोड़ मरोड़ से मतलब नही। इस क्रिया मे बौद्धिक तत्व गौण और भाव-तत्व प्रधान हैं। अत. कहने का तात्पर्य यह है कि इधर शब्द सरलता की ओर बढ़ता है, जो कि बौद्धिक तत्वो पर भाव तत्वो के प्रभुत्व के बाद ही सभव है, उधर स्वर-तत्व की प्राजलता भी भावो के निखार और परिमार्जन से ही सम्बन्धित है। जब ये दोनों ही तत्व समकक्ष और समरूप हो जाते हैं, तभी लोकगीतो की आत्मा निखार को प्राप्त होती है। यह लोकगीतो की चरमोत्कर्ष ही की स्थिति है, जो उसे सर्वाधिक लोकप्रिय और सर्वग्राह्य बनाती है। उसीसे उसको सामाजिक तथा क्षेत्रीय सीमा-विस्तार भी प्राप्त होता है तथा वह छोटे दायरे से बड़े दायरे मे प्रवेश करता है। इसी स्थिति मे व्यवसायिक लोककलाकार इन गीतो को पकड़कर उन्हें अपनी आजीविका का आधार बनाते है। इन गीतो का लोकपक्ष इसमे निहित नही है कि लोगो को वे कितने पसन्द हैं, परन्तु इसमें है कि उन्हें कितने लोग गाते हैं और व्यवहार मे लेते हैं। पेशेवर कलाकार उन्हें सजाते हैं, सँवारते हैं, तथा हर तरह से क्लिष्ट बनाते हैं। परिणाम यह होता है कि उनका लोकपक्ष दुर्बल पड जाता है तथा वे लोकव्यवहार से उतर जाते हैं। उस स्थिति मे ऐसे गीत प्रचार

और विस्तार पाते हैं, जिनका लोकपक्ष प्रवल होता है और धीरे-धीरे उक्त सीढियाँ पार करके निखार पाते हैं, अन्तिम सीढी क्लिष्टता की ओर ही होती है। यह क्रम अनतकाल तक चलता रहता है। लोकगीत वनते हैं, विकसित होते हैं, निखरते हैं, लोकव्यवहार की चरमसीमा तक पहुँच जाते हैं, फिर क्लिष्टता की ओर प्रवृत्त होते है और धीरे-धीरे प्रचार से वाहर होकर विलीन होजाते हैं। इस तरह यह क्रम अनतकाल तक चलता ही रहता है। यही चक्र शास्त्रीय सगीत मे भी चलता रहता है। परन्तु इन दोनो ही प्रक्रियाओ का एक दूसरे से कोई सम्वन्ध नहीं है। लोगो की गलत धारणा भी वन गई है कि लोकगीत क्लिष्ट वनकर शास्त्रीय वनते हैं और शास्त्रीय गीत सरल वनकर लोकगीत वन जाते है।

लोकधुनो मे ऋतुसाम्य

शास्त्रीय सगीत मे मेघमल्हार गाने से वर्षा होने और दीपक राग गाने से दीपक जलने की परम्परा वहुत पुरानी है। पता नही मेघमल्लार राग से कभी वर्षा हुई या नही और दीपक राग से दीपक जले या नही। परन्तु उनमे इतना सत्य अवश्य है कि मेघमल्हार की रचना मे वर्षाऋतु का आभास अवश्य मिलता है तथा दरवारी कानडा की स्वर-सगति से राजदरवार की गम्भीरता का प्रभाव मालूम पडता है। शास्त्रीय सगीत मे प्रभाव उत्पन्न करने के लिये स्वरो का ही प्रवल आधार है, शव्द का प्रभाव प्राय· नही के वरावर है। लोकगीतो मे भी स्वर-सगति का प्रभाव सर्वोपरि है, परन्तु शव्द इतना गौण नही जितना शास्त्रीय सगीत मे। इसका मूल कारण यही है कि विशिष्ट भाव-निष्पत्ति के समय जो स्वर-चयन स्वभाव से ही रचनाकार के हृदय मे उपजता है, वह उसके विशेष मूड (Mood) का ही द्योतक है। उसके वाद जिन शव्दो की व्युत्पत्ति होती है, वे भी उसी मूड (Mood) को उद्दीप्त करते हैं। यह वात लोकगीतो की व्युत्पत्ति के विवेचन के समय पूर्व-पृष्ठो मे भली प्रकार अनुमोदित हुई है, परन्तु इसके साथ ही एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वात की ओर सकेत मिलता है। वीकानेर की तरफ गायेजानेवाले राजस्थानी चौमासे वीकानेर क्षेत्र के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा लोकप्रिय लोकगीत हैं। इन गीतो मे चतुर्मास की विविध अवस्थाओ का शाब्दिक वर्णन तो होता ही है परन्तु उनकी स्वर-रचना भी अत्यन्त विलक्षण है। वर्षा के अभाव मे गायेजानेवाले चौमासो की शव्द तथा स्वर-रचना मे एक विशेष उदासी का आभास होता है। जव वर्षा की प्रथम वूंदो का आविर्भाव होता है, उस समय के विशिष्ट चौमासो मे

शब्द-स्वर-रचना की एक विचित्र सी रगत होती है और जब वर्षा की पूर्ण कृपा होजाती है, उस समय गायेजानेवाले चौमासो का तो कहना ही क्या है। विभिन्न परिस्थितियो को प्रकट करने मे कोई विशेषता नही हो सकती, क्योकि शब्द स्वय अपने लाक्षणिक और व्यजनात्मक गुणो से वाछित प्रभाव उत्पन्न करने की शक्ति रखते हैं। परन्तु यही वात जब स्वर-सगति से प्रकट होती है तो हमारे मस्तक उन असख्य रचयिताओ के चरणो पर झुक जाते हैं। इन विभिन्न स्थितियो मे गायेजानेवाले गीतो की स्वर-सगति मे यह विलक्षणता क्यो है इसका विश्लेषण अत्यन्त अपेक्षित है। वर्षाभाव की स्थिति मे स्वर-सगति की रगत एक विशेष प्रकार की निराशा उत्पन्न करती है। उनके स्वरो के लूवन मे तृप्त वायु का सा आभास मिलता है। वे गीत जो बूंदा-वांदी के वाद गाये जाते हैं, उनमे एक प्रकार की हर्ष की रेखा है जो स्वत. ही स्वर-सगति से प्रकट होती है। इसी तरह इन गीतो की अखिरी मन्ज़िल वह है जो मूसलधार वर्षा के समय प्राप्त होती है। ऐसे गीतो की स्वर-सगति मे एक अपूर्व गम्भीरता तथा हर्षमिश्रित तन्मयता का आभास मिलता है। इस अति सूक्ष्म प्रभाव की अनुभूति निरन्तर ऐसे गीत सुनकर ही हो सकती है। स्वर-शब्द की सगति का यह अपूर्व प्रभाव सिवाय लोकगीतो के अन्य गीतो मे बहुत कम परिलक्षित होता है। शास्त्रीय संगीत मे यह साम्य प्राय होता ही नही है क्योकि उसमे स्वर ही की प्रधानता है, शब्द बिल्कुल गौण है, बल्कि कही-कही तो यह भी देखा गया है कि स्वर जो प्रभाव उत्पन्न करता है उससे बिल्कुल विपरीत प्रभाव शब्द का होता है। लोकगीतो मे यह विषमता प्राय होती ही नही है। क्योकि उनमे स्वर-शब्द-संगति का मूलाधार भाव है, बुद्धि नही। राजस्थान के बारहमासो मे उक्त स्वर-शब्द-साम्य का निभाव अतिशय प्रभाव-शाली ढग से हुआ है। इन लोकगीतो मे बारह महीनो का ऋतु-प्रभाव जिस विलक्षण ढग से स्वर-शब्द-सगति द्वारा प्रकट हुआ है वह विद्वानो के लिये गहन अध्ययन का विषय है।

स्वर-शब्द-सगति का यह चमत्कार विरहजन्य शृ गारिक लोकगीतो मे सर्वाधिक निभाया गया है। कही-कही तो यह निभाव इतना मार्मिक बन पडा है कि अचम्भे के सिवाय कल्पना काम ही नही करती। राजस्थान मे जब वधू को विवाह के बाद विदाई दी जाती है, उस समय गायेजानेवाले विदाई-गीतो की मार्मिकता पराकाष्ठा तक पहुँच गई हैं। इसी तरह जब नवविवाहिता स्त्री का पति विवाह के बाद ही परदेश चला जाता है, उस समय गायेजानेवाले

विरहगीत न केवल काव्य की दृष्टि से ही बल्कि स्वर-रचना की दृष्टि से भी अत्यन्त मार्मिक हैं। साहित्यकारो ने ऐसे गीतो की बडी मार्मिक व्याख्या की है, परन्तु दुर्भाग्य से सगीतकारो ने उनका स्वर-सौन्दर्य कदाचित् अभी तक भी नही पहचाना है जबकि गीत का समस्त शास्त्र मौजूद है। इस प्रकार के मर्म को स्पर्श करनेवाले स्वर-चयन युक्त राजस्थानी गीत का अवलोकन कीजिये–

विरहगीत

ऊटे चढ आवजो रे घोडे चढ आवजो रे।
वाई सा रा वीरा जीवडलो घवराय छै रा।
नणदी रा वीरा जीवडलो घवराय छै रा।

(शेष गीत यहाँ उद्धृत नही किया गया है।)

स्वरलिपि (ताल कहरवा)

सा – ग –	सा – नी –	सा म ग ग	म – पम ग
ऊ ऽ टे ऽ	च ऽ ढ ऽ	आ ऽ ऽ व	जो ऽ ऽऽ ऽ
म प – –	मग मपम ग –	म प प –	म – म ग
रे ऽ ऽ ऽ	ऽऽ ऽऽऽ ऽ ऽ	घो ऽ ड़े ऽ	च ऽ ढ ऽ
ग प म ग	सा ग सा नी	सा – – –	– – सा नी
आ ऽ ऽ व	जो ऽ ऽ ऽ	रे ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ वा ई
सा ग ग –	ग म (प)म ग	म प प प	म – ग प
सा ऽ रा ऽ	वी ऽ रा ऽ	जी ऽ व ड	लो ऽ घ व
म ग म ग	सा ग सा नी	सा – – –	– – सा नी
रा ऽ ऽ य	छै ऽ ऽ ऽ	रा ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ न ण
सा ग ग –	म – पम ग	म प प प	म – ग प
दी ऽ रा ऽ	वी ऽ राऽ ऽ	जी ऽ व ड	लो ऽ घ व
म ग म ग	सा ग सा नी	सा – – –	– – – –
रा ऽ ऽ य	छै ऽ ऽ ऽ	रा ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ
×	२	×	२

यह एक राजस्थानी विरहगीत है, जिसमे एक विरहिणी स्त्री अपने बिछुडे हुए पति को याद करती हुई कहती है कि हे प्रियतम ! तुम घोडे पर चढकर आओ, तुम ऊँट पर चढकर आओ, अब मैं तुम्हारे बिना नही रह सकती।

लोकगीतों में शारीरिक क्रियाओ की प्रधानता

लोकगीतो की एक बहुत बड़ी विशेषता यह है कि वे अधिकाश सार्थक शारीरिक क्रियाओ के साथ जुड़े हुए हैं। उनकी धुनें ही इस तरह रची हुई होती हैं कि उनके साथ स्वाभाविक क्रियाएँ जुड जाती हैं जिनका स्वरूप बहुधा सामाजिक होता है। क्योकि लोकगीत स्वय ही समाज ही की उपज है, किसी व्यक्तिविशेष की नही। प्रारम्भ से ही ये शारीरिक क्रियाएँ इन गीतो के साथ जुडी रहती हैं। नृत्य उनमे एक ऐसी क्रिया है, जो अत्यन्त स्वाभाविक रूप से आनन्दोल्लास के रूप मे उनके साथ जुड गई है। यही एकमात्र क्रिया है जो गीत की ही तरह व्यजनात्मक शक्ति से ओतप्रोत है। इन गीतो के साथ जो अन्य क्रियाएँ जुड गई हैं वे स्वय मे कला नही हैं। उनसे यदि सगीत की सगति निकाल दी जाय तो वे क्रियाएँ अत्यन्त नीरस और सिरदर्द पैदा करनेवाली बन जावें।

प्रत्येक क्षेत्र के लोकगीतो में इन क्रियाओ के नानारूप परिलक्षित होते हैं। सभी जगह पनघट पर स्त्रियाँ गीत गाती हुई पानी भरने जाती हैं। सुबह उठकर गाते हुए चक्कियाँ पीसती हैं। खेतो पर काम करते हुए किसान गीत गाते हैं। लम्बी यात्रा करते समय अपनी थकान मिटाने के लिये लोग गीत गाते हुए जाते हैं। लकडहारा लकडी काटते समय गीत गाता है। गडरिया भेड चराते समय गीत गुनगुनाता है। इसी तरह कुए से पानी भरते हुए, छाछ बिलोते हुए, मकान की छतें कूटते हुए, बच्चो को झूला झुलाते हुए, गोदी मे सुलाते हुए, नाज साफ करते हुए, शादियो मे दूल्हे के हल्दी चढाते हुए तथा वर-वधू को फेरे फिराते हुए आदि-आदि नानाप्रसगो पर स्त्रियाँ नानाप्रकार के गीतो की सृष्टि करती हैं। इनमे अनेक क्रियाएँ ऐसी हैं, जो निरन्तर व्यवहार से सस्कार तथा रूढियो की शक्ल पकड गई है। तात्पर्य यह है कि इन क्रियाओ का सगीत के साथ प्रयोग कुछ इतना लोकप्रिय और आनन्दप्रद होगया है कि उन्होने एक सार्वजनिक और सास्कारिक रूप धारण कर लिया है। यह स्थिति तब उत्पन्न होती है जबकि वे क्रियाएँ जीवन मे मागलिक और अनिवार्य रूप धारण कर कोई सामाजिक तथा राष्ट्रीय महत्त्व प्राप्त कर लेती हैं। इन सामाजिक तथा राष्ट्रीय महत्त्व प्राप्त करनेवाली क्रियाओ के कुछ उदाहरण इस प्रकार है—

चढे हुए होते हैं, उनमे भी थकान मिटाने की एक अद्‌भुत क्षमता रहती है। बच्चो को सुलाने के लिए राजस्थानी स्त्रियाँ जिन मधुर लोकगीतो को प्रयुक्त करती हैं, उनमे से एक सुमधुर रचना यहाँ स्वरलिपि सहित प्रस्तुत की जाती है। इस रचना मे बच्चो को सुलाने योग्य कोमलता एव कमनीयता दर्शनीय है –

लोरीगीत

नान्या अणी रे गावा रे गोर मे
नान्या पालणो वकाऊ जावे रे
म्हारो रायमल हीदे पालणे।
नान्या कुणी जो मोलावे पालणो
नान्या कुणी जो खरचे दाम रे
म्हारो रायमल हीदे पालणे।
नान्या भुवाबाई मोलावे पालणो
फू फाजी खरचे दाम रे
म्हारो रायमल हीदे पालणे।
नान्या काम करू तो चित पालणे
नान्या फरती मचोलो देऊ रे
म्हारो रायमल हीदे पालणे।

स्वरलिपि (ताल दीपचदो)

										सा	–	सा	–
										ना	ऽ	न्या	ऽ
नी	नी	–	सा	–	रे	–	रे	–	–	सा	–	–	–
अ	णी	ऽ	रे	ऽ	गा	ऽ	वा	ऽ	ऽ	रे	ऽ	ऽ	ऽ
नी (‿)	प	–	प	–	–	–	प	–	–	प	सा	सा	–
गो	ऽ	ऽ	र	ऽ	ऽ	ऽ	मे	ऽ	ऽ	ना	ऽ	न्या	ऽ
सा	रे	–	रे	–	रे	–	रे	–	–	सा	–	सा	–
पा	ऽ	ऽ	ल	ऽ	णो	ऽ	व	ऽ	ऽ	का	ऽ	ऊ	ऽ

नी़	—	—	सा	—	रे	—	रे	—	—	सा	—	सा	—
जा	ऽ	ऽ	वे	ऽ	ऽ	ऽ	रे	ऽ	ऽ	म्हा	ऽ	रो	ऽ
सा	सा	—	सा	—	सा	रे	रे	—	—	सा	—	—	—
रा	य	ऽ	व	ऽ	र	ऽ	हीं	ऽ	ऽ	दे	ऽ	ऽ	ऽ
नी़	प़	—	प़	—	—	—	प़	—	—	सा	—	सा	—
पा	ऽ	ऽ	ल	ऽ	ऽ	ऽ	णे	ऽ	ऽ	ना	ऽ	न्या	ऽ
x			२				०			३			

(शेष गीत भी इसी धुन मे गावें ।)

इस राजस्थानी लोरीगीत मे शब्दों से कही अधिक स्वरो की कमनीयता की विशेषता है । शब्दार्थ की दृष्टि से तो केवल माता पालने मे झूलने वाले बच्चे से यही कहती है कि तुम्हारी भुवा ने यह पालना खरीदकर भेजा है और मैं काम करती हुई झूला दे रही हूँ । स्वरो की रचना इस मनोवैज्ञानिक ढंग से हुई है कि उसे सुनकर बच्चा अनायास ही सो जाय ।

लोकगीतो की अबाध कार्य-संवर्धक शक्ति

लोकगीतो की रचना में एक आश्चर्यजनक बात और देखने को मिलती है, वह है उसकी कार्य-सवर्धक शक्ति । वह शिथिल धमनियो मे रक्त-सचार करती है, अनिद्रित को निद्रा प्रदान करती है । अकर्मण्य को कार्यनिरत करती है । अश्रद्धालु को श्रद्धावान् बनाती है । प्रेम विहीन मे प्रेम की लौ जागृत करती है । थके हुए को चलने की शक्ति प्रदान करती है । सोतो को जगाती है तथा कायरो को वीर बनाती है । यहाँ तक कि राजस्थान के नाथपथी साधुओ को अग्नि मे कूदकर भयकर नृत्य मे निरत कराती है । अग्नि मे कूदने से पूर्व ये साधु एक विशिष्ट धुन को घटों गुनगुनाते हैं तथा जब वे उसमे पूर्णरूप से समरस हो जाते हैं तो साथ मे बजनेवाले विशिष्ट साजो के घोर निनाद के साथ ये लोग धधकती आग मे कूदकर नाचने लगते हैं । राजपूती जौहर के समय भी स्त्रियां ऐसे ही गीतो के वातावरण मे धधकती हुई ज्वाला मे कूद पडती थी । राजपूती युद्धो में रणककरण नामक बाजे की धुन पर कई क्षत्रिय वीर युद्ध में जूझ जाते थे । भील युवक अपने बासुरी-वादन मे अनेक भील बालाओ को अपनी ओर आकर्षित करते थे । विरहविदग्ध स्त्रियाँ इन विरहजन्य लोकगीतो

से अपनी विरहाग्नि बुझाने मे समर्थ होती थी। इन्ही कीर्तन-भजनो से अनेक भक्तजनो को आध्यात्मिक आनन्द उपलब्ध होता है। ऐसे ही गीतो से सोये हुए समाज को जगाया जाता है और पथ-भूले-हुए राष्ट्र को अपने कर्तव्य का भान कराना पडता है। लोकगीतो की अनेक धुनें ऐसी है जो बीमारो को अच्छा करती है। आदिवासियो के गीतो मे अनेक गीत ऐसे हैं जिनसे अनेक मानवी रोगो का सफल उपचार किया जाता है। इन गीतो की विशिष्ट स्वर-रचनाएँ एक विशेष प्रकार का मनोवैज्ञानिक प्रभाव उत्पन्न करती हैं और रोगी निश्चय ही रोगमुक्त हो जाता है। अनेक लोकगीत ऐसे भी हैं, जो पशु-पक्षियो को भी प्रभावित कर देते हैं तथा कभी-कभी वशीकरण मत्र का काम करते हैं। उनसे वाछित इच्छाओ की पूर्ति तो होती ही है बल्कि उनसे शत्रु भी वश मे हो सकता है।

लोकसंगीत की प्रेरकशक्ति : प्राकृतिक ध्वनियाँ

लोकसगीत का यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण पक्ष है, जो बहुधा सगीत के विद्वानो के ध्यान से ओझल ही रहता है। यह पहले कहा जा चुका है कि हृदय के उद्गारो के साथ अनायास ही जो मन मे गुनगुनाहट उत्पन्न होती है, वही स्वर की निष्पत्ति है। इस गुनगुनाहट की जो अज्ञात प्रेरक-शक्ति है वह प्रकृति से उपलब्ध होती है। लोकसगीत की गोद प्रकृति ही मानी गई है। बच्चा जब माँ की गोद मे पलता है तो नानाप्रकार की ध्वनियों का उसके मन पर असर पडता है। पहाड टूटते हैं, चट्टाने टकराती हैं तो उनके सघर्षों का निनाद उसके कानो मे पडता है। जब बादल गरजते हैं और बिजलियाँ चमकती हैं तो उनकी कड़कडाहट का असर उस पर हुए बिना नही रहता। इसी तरह हवा, तूफान तथा आँधियो की प्रलयकारी आवाजें प्राकृतिक मानव को अवश्य ही आन्दोलित करती हैं। पहाड़ी झरनो, वृक्षो, पत्तो तथा मलय समीर की मर्मर ध्वनि, कोयल की कूक, मयूर के बोल, झींगुर की झिगुरन मानव के अज्ञात मन पर न जाने कितने समय से आघात कर रही है। प्राकृतिक मानव इनसे कैसे अछूता रह सकता है। ये ध्वनियाँ किसी प्रकार के सगीत का आभास नही देती, क्योकि केवल ध्वनियो के सयोग से ही सगीत नही बनता। सगीत तो स्वरो के उस नियोजित और सार्थक योग को कहते हैं, जिससे माधुर्य और रस की निष्पत्ति होती हो। उक्त सभी प्राकृतिक ध्वनियो का यह स्वरूप नही है। वे केवल कुछ विशिष्ट वैज्ञानिक तत्त्वो के आधार पर अनायास ही सघर्ष उत्पन्न होने के परिणामस्वरूप जन्म लेती हैं और

अनेक बेमेल और अनियोजित स्वर समूह का सा आभास देती हैं। उनसे संगीत रचनाओ के लिए प्रेरणा प्राप्त करने तथा उन्हे ज्यो-का-त्यो उनमे प्रतिष्ठापित करने की सभावना लेश मात्र भी नही है। वे किसी गीत-प्रणेता की स्वाभाविक स्वर-निष्पत्ति को प्रभावित करके उसमे गर्जन, सघर्षण, झकार, मर्मरता आदि का आभास अवश्य पैदा करती हैं।

इन ध्वनियों का आभास अधिकतर आदिवासियो के गीतो मे मिलता है, क्योकि वही हमारा आदिसंगीत है। उसका पोषण और सर्जन प्रकृति की गोद ही मे हुआ है। वह आदिसगीत ध्वनि-प्रधान होता है, उसमे शब्द अत्यन्त गौण हैं। मणिपुर, त्रिपुरा तथा मध्यप्रदेश आदि के घने जगलो, पहाडो, गुफाओ तथा उपत्यकाओ मे रहनेवाले आदिवासियो के गीतो मे इन प्राकृतिक ध्वनियो की प्रधानता है। उनके कुछ गीत तो ऐसे हैं, विशेषकर मणिपुर और त्रिपुरा के आदिवासियो के, जिनमे इने-गिने शब्द हैं और शेष केवल ध्वनियां मात्र हैं। कही-कही तो केवल ध्वनियां ही हैं, जो भयकर तूफान के समय पहाडो से टकराकर लौटनेवाली हवाओ का आभास देती हैं। कही-कही उन गीतो मे ऐसी किलकारियां हैं, जो पहाड या चट्टान टूटने के समय सुनाई पड़ती हैं। कही-कही गीतो मे ऐसी सीटियो का आभास मिलता है जो एकान्त जगलो मे नीरव शान्ति के समय सुनाई पडती हैं। इन ध्वनियो के साथ ही दो-चार शब्द जोड देने से पूरा गीत बन जाता है। सारे गीत मे कुल मिलाकर दस-पद्रह शब्द भी गिनती के नही होते और उनका मतलब भी बहुधा ऐसा निकलता है 'तुम आओ', 'तुम खाओ', 'तुम नाचो' आदि। ये गीत उस आदिम-समाज के हैं, जो आज भी आदिममानव की प्रारभिक अवस्था मे रहते हैं। यहां एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वही आदिवासी उन अत्यन्त आदिमस्थितियो मे से निकलकर सभ्य भी बन जाता है, अच्छे कपडे भी पहिन लेता है, लिख पढकर होशियार भी हो जाता है, शिष्ट समाज मे विचरण भी करने लगता है, फिर भी जब वह रात को या अपने खाली क्षणो को आनदित करने के लिये अपने अन्य साथियो के साथ जमा होता है, तो वह उन्ही आदिमगीतो, नृत्यो, पोशाको तथा साजो का उपयोग करता है तथा उन्हे ठीक उनकी आदिम-अवस्थाओ मे ही अदा करता है। यहां प्रश्न यह उठता है कि जब उनकी सभी अवस्थाएँ आदिमस्थिति से ऊपर उठ गई हैं तब उनके नृत्य, गीत तथा जीवन के अन्य सास्कृतिक पक्ष ज्यो-के-त्यो क्यो रह गये हैं ? इसका मुख्य वैज्ञानिक कारण यही है कि मनुष्य जब बदलता है तो उसका भौतिक स्वरूप जल्दी

वदलता है और उसका सास्कृतिक स्वरूप काफी विलम्ब करके परिवर्तित होता है। कभी-कभी तो वह पक्ष सदियो तक कायम रहता है। आज हमारे देश मे अनेक परिवर्तन आये, हमने भोपडे छोड दिये, हम महलो तथा वगलो मे रहने लगे, हमने अपनी वेशभूषा छोडकर विदेशी कपडे पहिन लिये तथा रहने के विदेशी तौर-तरीके अपना लिये, परन्तु फिर भी हमने विदेशी मगीत नही अपनाया, विदेशी नृत्य से कोई नाता नही जोडा। हमारी संस्कृति की मूलभूत वातें, जैसे पूजा, पाठ, सास्कृतिक पर्व, नृत्य, गीत, समारोह तथा सस्कार, हमसे छूटे नही। यही वात आदिमसगीत पर भी लागू होती है। कभी हमारे पूर्वज भी आदिम ही थे। अनेक प्राकृतिक और सामाजिक कारणो से हम उन आदिम-अवस्थाओ से वाहर निकल आये, सभ्यता की वृद्धि के साथ हमारी आदिम-अवस्थाएँ वदलती गई। ज्यो-ज्यो चहुँ ओर का जीवनक्रम वढता गया, मानस का विस्तार हुआ, हमारी दृष्टि (Insight) का फैलाव हुआ, जीवन की आवश्यकताएँ वढी, हमारा मानसिक विकास हुआ, हमारे भावो का परिष्कार हुआ, हमारे जीवन के तौर-तरीके बदले, सस्कृति के पोपक तत्त्वो मे वृद्धि हुई, अनेक सस्कृतियो का मेल हुआ, जीवन की अनुभूतियो के साथ साहित्य का आकाश फैला; कला, साहित्य और सस्कृति के नये-नये स्वरूप मुखरित हुए, सगीत के स्वरो मे निखार आया, स्वरो और शब्दो की व्यजना-शक्ति वढी, भावनाएँ परिष्कृत हुई। परिणामस्वरूप आदिमसगीत की आधारशिला पर अवस्थित हमारा सगीत आज कहाँ पहुँच गया ? पहले उसने प्राकृतिक ध्वनियो से शक्ति ग्रहण की परन्तु आज उसके प्रेरणा-स्रोत विस्तृत हो गये। स्वरो के अनेक अनोखे और मृदुल मेलजोल से असख्य हृदयग्राही धुनो की सृष्टि हुई जो आज हमारे लोकगीतो के अतराल मे विराजकर मानव-मन को आह्लादित कर रही है। इन ध्वनियो के विश्लेषण से यह ज्ञात करना कठिन नही है कि आदिमसगीत की मूलभूत प्रेरणाएँ आज भी उनमे विद्यमान हैं। राजस्थान के मरुप्रदेशो के अच्छे से अच्छे उन्नत लोकगीतो मे मरुभूमि पर चलनेवाली उष्ण आँधियो का प्रभाव आज भी विद्यमान है। जैसे जैसलमेर के लघो के कठो पर गायेजानेवाले माण्गीतो मे भी वही गूज, जो उनकी विशिष्ट आलापो से प्रकट होती है, आज भी विद्यमान है। यही प्रभाव वीकानेर तथा वाडमेर की गरम लूओ के बाद चातुर्मास की प्रतीक्षा मे गाये जानेवाले चौमासो मे परिलक्षित होता है। वीकानेर के जसपथी साधुओ के अग्नि-नृत्य के साथ गायेजानेवाले गीतो मे भी एक विशेप प्रकार की ध्वनि

का आभास होता है, जो दबे हुए तूफानो और झंझावातो से प्रकट होती है। अजमेर के आसपास के गूजरो के अलगोज़ो के साथ गायेजानेवाले गीतो मे भी प्राकृतिक किलकारियो तथा सीटियो की बहुत ही विचित्र नकल की जाती है।

यह प्राकृतिक ध्वनियो की प्रतिच्छाया उन सभी गीतो मे पाई जाती है, जो प्राकृतिक वातावरण में अधिक सचरित होते हैं। आधुनिक सभ्यता के यान्त्रिक वातावरण के सपर्क से ये गीत अपनी इस विशेषता को खो बैठते हैं। प्राकृतिक ध्वनियो का यह प्रभाव इन विशिष्ट गीतो की स्वर-रचनाओ में नही होता बल्कि उनके लहजो मे होता है। आदिमगीतों की स्वर-रचना मे तो कही-कही ये ध्वनियाँ स्वर-चयन का अग बन जाती हैं, परन्तु सास्कृतिक गीतो मे ये ध्वनियाँ केवल गाने के लहजो तथा गायकी की शैली ही मे सीमित रहती हैं। गीतो की स्वर-रचना और हो और लहजे कुछ और हो ऐसी बात भी नहीं है। स्वर-रचना और उनके लहजो मे भी साम्य होना अत्यन्त आवश्यक है। स्वर-विज्ञान का यह स्वाभाविक निभाव बिना किसी शास्त्रीय ज्ञान के ही इन गीतों मे हुआ है, यही अचभे की बात है।

शास्त्रीय संगीत की प्रेरकशक्ति लोकसंगीत

यह तो सर्वसिद्ध बात है कि शास्त्रीय सगीत लोकसगीत का विकसित रूप नही है फिर भी शास्त्रीय सगीत को लोकसगीत की अनुपम देन है। वह ऐसा खज़ाना है जो शास्त्रीय सगीत को नये-नये रत्न प्रदान करता है। शास्त्रीय संगीत का शास्त्र सगीत का प्रेरक नही बन सकता, क्योकि शास्त्र कभी प्रेरणा नही देता। वह तो कभी-कभी प्रेरणा देने की अपेक्षा उसकी गति को अवरुद्ध ही करता है। वह उसके उन्मुक्त प्रवाह को रोकने की चेष्टा करता है, उसे सीमाओ मे बाँधता है तथा नियमो मे जकडता है। जब शास्त्र को यह सब कर्तव्य निभाने का काम सौंपा जाता है तो वह प्रेरणा-शक्ति कैसे बन सकता है। अत ससार की कोई भी कला अपनी प्रेरणाएँ शास्त्र से नही लेतीं। वे अपना प्रेरणा-स्थल कही और जगह ही ढूढ़ती हैं। लोकसगीत का प्रवाह, उसका अपरिमित स्वरूप तथा वैविध्य ही शास्त्रीय सगीत के लिए प्रेरणादायिनी शक्तियाँ हैं। लोकसगीत केवल शास्त्रीय सगीत की प्रेरणा-शक्ति ही नही, वह काव्य की आत्मा भी है। शब्द जब अपनी व्यजनाओ मे कमजोर पड जाता है तब वह लोकसंगीत का मुँह ताकता है। लोकसगीत की अनेक ऐसी आलापें तथा मुर्कियाँ हैं जो आसानी से हृदयगम होती है। ये आलापें तथा मुर्कियाँ शास्त्रीय सगीत मे ज्यो-की-त्यो प्रयुक्त हुई हैं। यह तो

पहले ही सिद्ध किया जा चुका है कि लोकसगीत मे शास्त्रीय रागो का मूल स्वरूप आदिकाल से विद्यमान है। शास्त्रकारो ने उनके अनेक जोड-तोड मिला कर अनेक शास्त्रीय रागो का निर्धारण एव नियोजन मात्र किया है। अत यह स्वाभाविक है कि लोकगीतो के अनेक ऐसे आलाप तथा तान-समूह शास्त्रीय सगीत की रजकता तथा मनमोहकता को वढाने के लिए उसमे ज्यो-के-त्यो प्रयुक्त हुए हैं। रचीहुई, वनावटी तथा शास्त्रोक्त नियमो मे जकडी हुई आलाप-तानो मे वह स्वाभाविक भाव-प्रवणता नही होती, जो कभी-कभी दीर्घकाल से असंख्य कठो पर उतरी हुई अनुभूति-सगत लोकतानो तथा लोकधुनो मे विद्यमान होती है। ऐसी आलाप-तानो का सचय इन लोकधुनो मे से किया जाय तो अनेक पोथियाँ ही भर जावेँ।

दूसरी प्रेरणा जो शास्त्रीय संगीत लोकसगीत से लेता है वह है ऐसे विवादास्पद स्वरो के जोड-तोड, जो कुछ सगीतज्ञो को न्याय-सगत लगते हैं और कुछ को नही। इसी विवाद के कारण वडे-वडे विरोधी पक्ष स्थापित हो जाते हैं, वडे-वडे विवाद होते हैं और एक पक्ष को विजयी और दूसरे पक्ष को पराजित होना पडता है। शास्त्र की दृष्टि से ऐसे निर्णय सही हो सकते हैं, परन्तु लोकव्यवहार से वह ठीक नही होते। उस व्यवहार के सच्चे दर्शन लोक-सगीत मे ही मिलते हैं, जिससे ही शास्त्रीय रागो का आभास शास्त्रकारो ने प्राप्त किया है और जिस पर शास्त्रीय सगीत का यह विशाल भवन निर्मित हुआ है। इस विवाद का हल यदि लोकसगीत के व्यवहार से मिल भी जाता है तो शास्त्रीय सगीत के अनेक विद्वान् अपनी हीनता की भावना को दवाने के लिए कभी स्वीकार नही करते। परन्तु यह विवाद शास्त्रीय सगीत स्वय लोकसंगीत के पास जाकर मिटा देता है। अनजाने ही लौकिक व्यवहार मे पारस्परिक मेलजोल, आदानप्रदान, तुलना, सवर्धन आदि से यह विचार अन्दर ही अन्दर वैठ जाता है। इस तुष्टि के मूल मे लोकसगीत ही है, जो उन विवादास्पद वानो को अपने व्यवहार मे शुद्ध रूप से दिखलाकर श्रोताओ तथा प्रयोक्ताओ पर अपनी अमिट छाप छोड देता है। ये विवाद रागो के नियत स्वरो की अवस्थिति के सवध मे नही उठते क्योकि उनका शास्त्र तो सर्वदा ही निर्विवाद रहता है। वे तो स्वरो के वादी-विवादी पक्ष के अल्प तथा अत्यल्प प्रयोग के सबध मे उठते हैं, जो कभी-कभी शास्त्रविरुद्ध होते हुए भी विशिष्ट राग मे माधुर्य उत्पन्न करने के लिए प्रयुक्त होते हैं। उन विवादी स्वरो के अल्प प्रयोग की अनुमति कभी शास्त्रीय सगीत मे मिल भी जाती है

तो उसका मुख्य कारण लोकसगीत ही है, जिसमे ऐसे विवादी स्वरो से प्रभाव उत्पन्न करने के असख्य उदाहरण मिलते है।

लोकसंगीत का दूसरा पक्ष ऐसा है, जिससे शास्त्रीय सगीत अत्यधिक मात्रा में प्रेरणा ग्रहण करता है। एक ही लोकगीत मे बहुधा एक से अधिक रागो की अवस्थिति रहती है, जो कि उसे अतिशय रग और माधुर्य प्रदान करती है। अनेक लोकगीत ऐसे भी होते हैं जिनमे एक ही राग को सभी हद तक निभाया गया है चाहे उनमे शास्त्रीय रागो के सभी नियम न भी निभते हो, फिर भी राग की सच्ची प्रतिच्छाया उनमे विद्यमान रहती है। ऐसे लोकगीत जिनमे एक से अधिक रागो का मिश्रण नही होता, वे गीत के सौन्दर्यपक्ष की दृष्टि से या स्वर-व्यजना की दृष्टि से श्रेष्ठ गीत नहीं समझे जाते, जबकि शास्त्रीय सगीत मे ऐसे ही गीत श्रेष्ठ समझे जाते हैं, जिनमे एक ही राग का भलीप्रकार निभाव होता हो। लोकगीतो को सर्वाधिक सौन्दर्य प्रदान करनेवाली शक्ति यही विविध रागो की स्वाभाविक सगति है जो अनायास ही बिना प्रयास के लोकगीतो की सामाजिक रचना-विधि से हमे उपलब्ध होती है। इन गीतो का चाहे कितना ही वैज्ञानिक विश्लेषण किया जाय, उनके विविध स्वरो के जोड़तोड़ सर्वदा ही रस की निष्पत्ति करनेवाले होते हैं। उनमे उन्हीं रागो की सगति होती है जिनका मिलना स्वाभाविक होता है। ऐसी रागें कभी नही मिलती हैं जो विकृत प्रभाव उत्पन्न करती हैं। शास्त्रीय रागो को लोकगीतो की सबसे बड़ी देन यही है। शास्त्रीय रागो मे राग-मिश्रण के जो विलक्षण नमूने मिलते हैं, उनके पीछे लोकगीतो की प्रेरणा ही प्रधान है।

लोकसगीत की तीसरी सबसे बड़ी देन जो शास्त्रीय सगीत को है वह है उसकी लोकप्रियता। शास्त्रीय संगीत सदा ही शास्त्रो की तरफ झुकता है। शास्त्रीय सगीतकार अन्य सगीतज्ञो के समक्ष अपना वर्चस्व स्थापित करने के लिए शास्त्रो से ही अपने सगीत को संपन्न करता है और उसके प्रदर्शनकारी पक्ष को ही सर्वाधिक महत्त्व देता है। इसीलिए शास्त्रीय सगीत क्लिष्ट से क्लिष्टतर बनता जाता है और जनरुचि से अलग होने लगता है। ऐसी स्थिति मे लोकसगीत ही ऐसा पक्ष है, जो उसकी मदद के लिए आता है। सगीत के अन्य स्वरूप जैसे सुगम सगीत, फिल्मी सगीत आदि तो उनकी प्रेरणा-शक्ति बन ही नही सकते, क्योकि वे सस्कार-सगत सगीत की श्रेणियां नही है। शास्त्रीय सगीत के समकक्ष यदि कोई महत्त्वपूर्ण तथा सस्कारिक श्रेणी है तो वह लोकसगीत ही की है, जिसकी लोकप्रियता से वह पूर्णरूप से प्रभावित

होता है। वह उससे रागो के स्वाभाविक मिश्रण के सकेत लेता है, उनके स्वाभाविक लहजो, आलापो तथा मुर्कियो को आत्मसात् करता है तथा स्वर-सगति के असख्य प्रकारो को अपने मे ग्रहण करके अपने प्राण सँजोता है।

लोकसंगीत की चरम प्रवृत्ति

यह तो पूर्व-पृष्ठो मे भली प्रकार दर्शाया गया है कि लोकगीतो मे उसका सगीतपक्ष प्रधान और शब्दपक्ष गौण होता है। अभी तक शब्दपक्ष की प्रधानता इसलिए समझी गई, क्योकि अब तक लोकगीतो को एक ही पक्ष से देखा गया है तथा उनके समीक्षको ने उनके शब्दपक्ष की ही विवेचना की है। हम यह भूल जाते हैं कि लोकगीत की उत्पत्ति के समय स्वर ही प्रधान था और उसका चरम उद्देश्य ही स्वरपक्ष को प्रधानता प्राप्त कर शब्दो से अधिकाधिक मुक्ति प्राप्त करना है। इसका यह तात्पर्य भी नही कि लोक-सगीत अपनी आदिम-अवस्था को प्राप्त करने की ओर प्रवृत्त है, जिसमे ध्वनियों की ही प्रधानता है तथा स्वर और शब्द दोनो ही गौण हैं। न इससे यह तात्पर्य है कि वह शास्त्रीय पक्ष की ओर प्रवृत्त है, जिसमे स्वर ही स्वर है, शब्द अत्यन्त गौण है। ये दोनो ही पक्ष लोकसगीत की चरम प्रवृत्ति के पक्ष नही हैं। चरम प्रवृत्ति का तात्पर्य यह है कि लोकगीत अपने मूलादर्श को पूर्णरूप से निभाते हुए अपने स्वरपक्ष के सौन्दर्य को पहुँचना चाहता है। यही लोकगीतो का चरम आदर्श है, जहाँ तक विरले ही पहुँचते हैं। अनेक गीत तो ऐसे हैं, जो अपनी प्रारम्भिक अवस्था मे निष्कासित होकर स्वर-शब्द का सामजस्य प्राप्त करते हैं। शब्द के प्राधान्य से मुक्त होते-होते ही स्वरो की अनन्त प्रक्रियाओ मे या तो खो जाते हैं, या शास्त्रीय सगीत के अग बन जाते हैं। स्वर की चरम सीमा तक पहुँचने के लिए जिन पोषक तत्त्वो की आवश्यकता होती है, वे उन्हे समय पर उपलब्ध नही होते। ऐसे गीतो की अवस्थिति निश्चित है जो इस ओर प्रवृत्त नज़र आते हैं। उस चरम सीमा तक पहुँचते हुए गीत लोकजीवन से मुक्त होकर ऐसे कठो पर विराज जाते हैं, जिनकी पहचान करना असाध्य कार्य है। इस चरम सीमा तक पहुँचे हुए गीत या तो साधु-सतो की प्रगाढ साधनाओ के बीच उनकी आन्तरिक गुनगुनाहट या साधना-निरत ध्वनियो मे अन्तर्हित रहते हैं, या कही शास्त्रीय सगीत की आलाप-तानो मे अन्तर्धान हो जाते हैं। वास्तव मे लोकगीतो के रूप मे इन चरमोत्कर्ष तक पहुँचे हुए गीतो की अवस्थिति अधिक सम्भव नही है। ये धुनें अपनी स्वर-रचनाओ की विशेषता के कारण शब्दो से मुक्त होकर अनेक

शौकिया कलाकारो, शौकिया सगीतप्रेमियो के कठो पर विराज जाते हैं। परन्तु उनका यह जीवन भी अत्यन्त अल्पकालीन है, क्योकि बिना शब्द की सगति से मानव-कठ पर वे अधिक समय तक विद्यमान नही रहते। वे यदि शब्दों के कारण प्रभुता प्राप्त होते तो उन्हे कागज़ पर सुरक्षित रखा जा सकता था और वे दीर्घकालीन जीवन पा सकते थे। परन्तु केवल कठ की गुनगुनाहट के रूप मे उनकी अवस्थिति दीर्घकालीन नही हो सकती। उनके दीर्घकालीन होने की एक ही शर्त है कि वे जीवन के लौकिक पक्ष से निकल कर अलौकिक साधनो के साथ जुड जावें और वे ऐसी रूढि मे पड जावें कि उनके बिना आराधना असभव बन जाय। परन्तु यह स्थिति बहुत सभव स्थिति नही है। सहस्रो गीतों मे कुछ ही गीत इस स्थिति मे मिल सकते हैं।

इस चरम अवस्था मे यदि लोकसगीत की कही अवस्थिति मिल सकती है तो वह वाद्यकारो की धुनो मे। यह विशिष्ट दर्जा भी हज़ारो गीतो मे से कुछ ही गीतो को मिलता है, क्योकि लोकगीतो मे स्वर-शब्द-सगति का यह विलगीकरण अत्यन्त असाधारण क्रिया है। यह विलगीकरण भी उन्ही गीतो मे सभव है जिनकी धुनें माधुर्य, लोकग्राह्यता तथा प्रभाव उत्पन्न करनेवाली होती हैं तथा जो शब्दो के लालित्य पर विशेष निर्भर नही रहती। ऐसे गीत अपने स्वर-लालित्य तथा अनुपम हृदयग्राही बदिशो के कारण लोकजीवन के अत्यन्त रगीले गीत बन जाते हैं, जिन्हे जनसाधारण हर परिस्थिति मे गाता है तथा जो उनके कठो का हार बन जाते हैं। उनका प्रचार, व्यवहार तथा प्रभावक्षेत्र अत्यन्त विस्तृत होता है। वे जाति, क्षेत्र, परिवार तथा व्यक्ति की सीमा से बाहर निकलकर दीर्घजीवी तथा दीर्घक्षेत्री गीत बन जाते हैं। उनमे शब्दो का प्राधान्य नही होता इसलिए प्रत्येक प्रयोक्ता उनमे आज़ादी लेता है, अपनी तरफ से उनमे नये शब्द जोडता है, पुरानो से खिलवाड करता है, फिर भी उनका स्वाभाविक सौन्दर्य अक्षुण्ण बना रहता है। विद्वज्जन धुनो का सग्रह करते हैं, ध्वनि-सकलन-यत्र पर उनका सकलन करते हैं, कविगण ऐसे गीतों की धुनो पर अपनी कविताएँ रचते हैं, फिल्मो निर्माता ऐसी धुनो को शब्द देकर अपनी फिल्म-रचनाओ में प्रयुक्त करता है। कई शौकिया लोग ऐसी धुनो को टकसाली धुनें मानकर उन पर आधारित अपने गीत रचकर पुस्तकें प्रकाशित कराते हैं तथा प्रत्येक स्वरचित गीत पर शीर्षकरूप मे "तर्ज फलानी" का सकेत करता है। ऐसे गीतो का यह बहुमुखी प्रचार और प्रसार इसी तथ्य की ओर सकेत करता है कि ये गीत अपने शब्दो की सगति से मुक्त होकर अपनी धुनो के कारण ही अमर बन रहे हैं। उनकी वैज्ञानिक अवस्थिति

वाद्य-संगीत की धुन के रूप में है। शब्दों के प्रभुत्व से मुक्त होकर यदि ये धुनें कहीं दीर्घकाल के लिए सम्मानपूर्वक उच्चासीन हो सकती हैं तो वाद्यों पर ही हो सकती हैं। लोकसंगीत में स्वतन्त्र वाद्यसंगीत बहुत ही असाधारण विशेषता है, क्योंकि वाद्यसंगीत के योग्य वे ही धुनें समझी जाती हैं, जिनके बजाने मात्र से श्रोतागण उन मूल गीतों का अंदाजा लगा सकें। ऐसे गीत वे ही हो सकते हैं जो अपनी धुनों के कारण ही प्रभुता प्राप्त हों और जो उनके शब्दों की प्रभुता से प्राय मुक्त हो चुके हों और जिन्हें श्रोता वाद्यों पर सुनते ही स्वयं गा उठते हों।

यहाँ एक प्रश्न और उठता है कि क्या प्रत्येक लोकगीत इसी उत्कर्ष को प्राप्त करने को लालायित है? इसमें काफ़ी हद तक सच्चाई का अंश है, क्योंकि शब्दों की सर्वग्राह्यता सदा ही स्वर से कम होती है। शब्दों का प्रसार विशिष्ट क्षेत्र तथा समाज तक ही सीमित रहता है। परन्तु स्वरों की प्राय कोई सीमा नहीं होती। वे सर्वक्षेत्रीय, सर्वग्राह्य तथा सर्वप्रिय होते हैं। इसीलिये स्वर संकीर्ण दायरे से बाहर निकलने की चेष्टा में सदा ही शब्दों से मुक्त होने की कोशिश में रहते हैं, चाहे उनकी संगति से कितनी ही रसनिष्पत्ति क्यों न होती हो। वे सदा ही इस कोशिश में रहते हैं कि वह रसनिष्पत्ति उन्हें शब्द-संगति के बिना ही मिल जाय। यह चेष्टा प्रत्येक लोकगीत में सदा ही विद्यमान रहती है, चाहे उसे सफलता मिले या न मिले। अनेक ऐसे लोकगीत हैं जो इस स्थिति तक पहुँच भी जाते हैं, परन्तु अधिक समय तक स्थिर नहीं रहते। अनेक ऐसे सामाजिक और भावात्मक कारण होते हैं, जो उन्हें इस स्थिति तक नहीं पहुँचने देते। अधिकांश धुनें तो शब्दों के साथ चिपकी रहती हैं। कुछ ऐसी भी होती हैं जो इस स्थिति को प्राप्त करने से पूर्व ही समाप्त हो जाती हैं और कुछ ही ऐसी हैं, जो शब्दों के जंजाल से मुक्त होकर आध्यात्मिक लिबास में लिपटकर दीर्घजीवी हो जाती हैं।

लोकसंगीत और सामाजिक परिष्कार

लोकसंगीत केवल मनोरंजन और आत्मानन्द का ही साधन नहीं है, उससे कहीं अधिक उसका सामाजिक महत्त्व है। जिस जाति या समाज में लोकसंगीत का प्रचलन नहीं है, वह राग-द्वेष, पारस्परिक विद्वेष तथा पारिवारिक उलझनों में फँसी रहती है। यह भी अध्ययन से सिद्ध हो चुका है कि जिस जाति में लोकसंगीत का सर्वाधिक प्रचलन है, उसमें मुकदमेबाज़ी तथा लड़ाई झगड़े कम होते हैं। यह ऐसी सांस्कृतिक प्रक्रिया है जो मनुष्य के भावों का संस्कार

करती है, विकृत भावो को सही दिशा देकर उनको मधुर बनाती है। वह मनुष्य जो गाता नही, उसको क्रोध जल्दी आता है और वह लडता-झगडता भी बहुत है। उसके पारिवारिक और सामाजिक सम्बन्ध अच्छे नही होते। लोकसगीत सारे समाज का सगीत है। किसी व्यक्ति, परिवार, गुट या क्षेत्रविशेष का नही। वह सबका है, अत सबके मिलाप के लिये वह एक सामान्य रंगमच है। वहाँ सभी लोग भेदभाव रहित मिलते है, गाते हैं और मिल-बैठकर आनन्द मनाते हैं। यहाँ तक कि यदि कोई पारस्परिक विद्वेष के कारण नही भी बोलते है तो भी सामूहिक गान के समय वे सब मिलकर गाते हैं।

लोकसंगीत के विविध रगमंच हैं, मदिर, गाँव का चौराहा, घर का आँगन, सार्वजनिक मेले, बाजार, हाटबाट, बाग-बगीचे, खेत, खलिहान, देवल, मठ आदि-आदि। वहाँ मनुष्य अकेला नही गाता। वैयक्तिक अभिव्यजना लोकगीतो मे प्राय. नहीं के बराबर है। अत जातीय, सामाजिक तथा राष्ट्रीय सगठन का यह सबसे अधिक शक्तिशाली मच है, जिसके द्वारा बिखरे हुए समाज तथा परिवार पुन जुड जाते हैं, क्रोध शान्त हो जाता है, विद्वेष मिट जाता है और प्रेम, सौहार्द तथा दया के अनत स्रोत बहने लगते हैं। सगीत की इस अथाह शक्ति का कौन मुकाबला कर सकता है ? ये ही लोकगीत विरहिणी स्त्री के विदग्ध हृदय को शान्ति पहुँचाते हैं, माता-पिता, भाई-बहिन, परिवार, सास-बहू, देश, समाज, जाति, धर्म की तरफ कर्तव्यपालन का पाठ पढाते हैं। इन स्नेह-सबधो की पवित्रता सदा ही अक्षुण्ण बनी रहे, इस ओर ये लोकगीत सदा ही सकेत करते रहते हैं। ये ही लोकगीत मानव-कठ के हार बनकर अनन्त सुख का अनुभव कराते हैं, कर्तव्यच्युत को कर्तव्य का रास्ता दिखलाते हैं, संतप्त हृदय को सुख पहुँचाते है, अतीत की मधुर स्मृतियो को ताजा करते हैं तथा वर्तमान और भविष्य के लिये हममे शक्ति का सचार करते हैं। इन्हीं लोकगीतो की स्वर-लहरियाँ नवीन गीतो की ओर हमे प्रेरित करती हैं और इस तरह गीतों की इस अमर परम्परा का चक्र चलता ही रहता है।

लोकसगीत के पोषक तत्त्व

लोकसगीत को पुष्ट करनेवाली सबसे महान् शक्ति सामाजिक प्रतिभा है। सांस्कृतिक धरातल समान होते हुए भी कभी-कभी जातिगत प्रतिभा लोकसगीत को सुसमृद्ध करने मे सहायक होती है। कई जातियाँ स्वभाव से ही सगीत के विशिष्ट तत्त्वों से विभूषित होती हैं। जिस समाज या क्षेत्रविशेष

मे ऐसे तत्त्वो का बाहुल्य है, वहाँ लोकसगीत को विशेषरूप से पोषण प्राप्त होता है और सच पूछिये तो ऐसे ही स्थलो से लोकगीतो की प्रारम्भिक निष्पत्ति भी होती है। ऐसे तत्त्व स्थल-सगत नही, जाति-सगत होते हैं। इन जातियों की वशपरम्परा से ही ये तत्त्व विरासत मे मिलते हैं, जो तनिक अवसर पाकर सामाजिक पोषण पाने लगते हैं। लोकसगीत की दृष्टि से अधिकाश प्रतिभाएँ ऐसी ही जातियो मे छिपी रहती हैं। इन जातियो से तात्पर्य सगीत की व्यवसायिक जातियो से नही है बल्कि उन जातियो से है जिनका सगीत व्यवसाय नहीं है, वरन् जिनमे सगीत की वशानुगत प्रतिभा होती है। जब ये गीत इनमें सचरित होते हैं तो उनको ये जातियाँ अपनी वशानुगत प्रतिभा तथा स्वर-शब्द-सगति से ऐसे मधुर तत्त्व प्रदान करती रहती हैं, जिनसे लोकगीतो की सचरण और प्रभावशक्ति बढजाती है।

इन पोषक तत्त्वो मे समाज के सास्कृतिक धरातल का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यदि समाज हीनावस्था को प्राप्त होता है तो कला के प्रति उसकी जागरूकता नष्ट सी हो जाती है और लोकगीतो को पोषण प्राप्त होने की अपेक्षा उनकी स्वय की प्रतिभा भी घटने लगती है। सुसस्कृत और सभ्य समाज लोकगीतो को अपना अलकार बनाये रखता है और उसके प्रत्येक सास्कृतिक, पारिवारिक और सामाजिक समारोह की वे शोभा बनते हैं।

लोकगीतो के पोषक तत्त्वो मे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व परपरागत सस्कृति के प्रति आस्था है। जिस समाज मे अपनी सस्कृति के प्रति कोई आस्था नही है तथा जो बाह्य प्रभावो से प्रभावित होकर अपनी सास्कृतिक परम्परा को खो बैठा है, वह समाज अपने लोकगीतो के प्रति उदासीन सा रहता है। अपनी अतीत की थाती पर गर्व का अनुभव करनेवाले सुसस्कृत समाज मे ये लोकगीत सर्वाधिक पोषण प्राप्त करते हैं। लोकगीतो के पोषक तत्त्वो मे सामाजिक समता, स्वस्थ सामाजिक मस्तिष्क तथा अयान्त्रिक जीवन अत्यन्त सहायक हैं। कलहपूर्ण समाज, सघर्षमय जीवन, असस्कृत तत्त्वो का प्रभुत्व तथा जातिगत सामाजिक व्यवधान लोकगीतो के शत्रु हैं। ये तत्त्व आज सर्वाधिक वृद्धि पा रहे हैं, इसीलिये लोकगीतो के प्रति सामाजिक उदासीनता भी बढ रही है।

लोकगीतो के पोषण मे स्त्रियो का बहुत बडा हाथ है। उन्होने ही लोकसगीत की अक्षुण्ण धाराएँ सुरक्षित रखी हैं। बालक का जन्म, विवाह, त्यौहार, पर्व, सस्कार, मेले, उत्सव, रात्रि-जागरण, देव-मनौतियाँ आदि अवसरो पर गायेजानेवाले सभी गीत स्त्रियो द्वारा ही गाये जाते है। सच पूछिये तो लोकगीतो को सुरक्षित और पुष्ट करनेवाली स्त्रियाँ ही होती हैं।

लोकगीतो के पोषक तत्त्वो मे सामाजिक भावप्रवणता का प्रमुख स्थान है। यह प्रवणता आज के यांत्रिक जीवन मे कम होती जा रही है। मनुष्य बुद्धिजीवी होता जा रहा है अत. साहित्य, सगीत तथा कला-सर्जन के कार्य मे यह स्थिति घातक सिद्ध हो रही है। जहाँ समाज का भावपक्ष दुर्बल हो जाता है या समाप्त हो जाता है और बुद्धितत्त्वो का बाहुल्य होता है वहाँ कला, लोकानन्द और आत्मानन्द से दूर हो जाती है। ऐसी स्थिति मे मनोरजित और मनोरजक की दो अलग-अलग श्रेणियाँ बन जाती हैं और कला आत्मानन्द की वस्तु न रहकर केवल मनबहलाव की वस्तु बन जाती है। यह मनोरजक का विशिष्ट वर्ग जनता को मनोरजित करता है और सामाजिक तथा सामुदायिक मनोरजन का पक्ष सदा के लिए उठ जाता है।

लोकसगीत के पोषक तत्त्वो मे सगीत का बाह्य आदान-प्रदान भी प्रमुख भाग अदा करता है। जहाँ विविध क्षेत्रीय, जातीय, सामाजिक एव सास्कृतिक तत्त्वो का पारस्परिक मेल होता हो वहाँ मेलजोल, सहयोग-ससर्ग से गीतो को पोषण मिलता है। जहाँ ऐसे अवसर अधिक होते हैं, वहाँ का सगीत एक दूसरे से पोषण-तत्त्व प्राप्त करके सम्पन्न और समृद्ध बनता है। जो समाज आदिवासी समाज की तरह अपने आपको अलगथलग तथा सास्कृतिक आदानप्रदान और सभ्यता के प्रसंगो से बचा-बचाकर रखता है, उसकी सास्कृतिक सम्पत्ति कृपण के धन के समान जहाँ की तहाँ रहती है।

लोकसगीत की निष्पत्ति के लिये सास्कृतिक सघर्षण, भावात्मक उथल-पुथल तथा आध्यात्मिक क्रान्ति का वातावरण अत्यन्त अनुकूल होता है। लोक-गीतो के पौष्टिक सघर्षण से अनेक सास्कृतिक तत्त्व मिलते हैं, एक दूसरे से बिछुडते हैं, नये तत्त्व आते हैं, पुराने लडखड़ाते हैं, नवीन धरातल बनते हैं, जिनसे गीतो की स्वर-शब्द-सगति मे विलक्षण ताज़गी आती है। भावात्मक उथलपुथल, धार्मिक सघर्ष तथा राष्ट्रीय उत्कर्ष-अपकर्ष के वायु-मडल ही मे नवीन रचनाओ के पोषक तत्त्वो का प्रादुर्भाव होता है। जब वैयक्तिक और सामाजिक जीवन मे निराशा उत्पन्न होती है तब आध्यात्म की शरण ली जाती है। ऐसे ही समय धार्मिक लोकगीत, भजन आदि का सृजन होता है।

शब्दसापेक्ष और स्वरसापेक्ष लोकगीत

लोकगीतो को लोककाव्य की सज्ञा न देकर गीत की सज्ञा इसलिये दी गई है कि उनमे गेय गुण विशेष हैं। विशुद्ध साहित्यिक कृतियो मे भी कविता

श्रौर गीत की अवस्थिति अलग-अलग दर्शाई गई है, जैसे तुलसीकृत रामायण महाकाव्य है श्रौर गीतावली गीतिकाव्य। रामचरितमानस मे काव्यतत्त्व विशेष हैं श्रौर गीतावली मे गेय तत्त्व अधिक। ठीक यही स्थिति लोकगीतो की नही है। लोकगीतो का गेय तत्त्व साहित्यिक गीतो के गेय गुणो से बहुत भिन्न है। साहित्यिक गीतो मे कविता को किसी भी धुन मे गा लेने से वह गीत की श्रेणी प्राप्त कर लेती है, परन्तु लोककाव्य अथवा लोककविता को गा लेने से गीत नही बन जाता। साहित्य मे तो छन्दविहीन तथा अतुकान्त गद्य को भी गद्यगीत की सज्ञा दी गई है, परन्तु अतुकान्त श्रौर छन्दहीन लोकगद्यगीत की कल्पना ही नहीं की जा सकती। लोकगीतो की कविता साहित्यिक गीतो की कविता के समान नही है। लोकमानस मे स्वतन्त्ररूप से कवित-रचना की शक्ति कहाँ से आ सकती है, उसके लिये विशिष्ट सस्कार, शिक्षा तथा साहित्यिक स्तर की आवश्यकता होती है। फिर भी यह प्रश्न उठता है कि लोकगीतो मे काव्य की इतनी ऊँची उठान कहाँ से आई ? वे जीवन के ऐसे पहलुओ को स्पर्श करते हैं तथा उनकी अभिव्यजनाएँ इतनी मार्मिक होती हैं कि बुद्धि काम नही करती। लोकगीत मे जिस विषय का प्रतिपादन होता है तथा उसे जितने सुन्दर ढग से निभाया जाता है, उतना कोई महान् आचार्य भी नही कर सकता। विषय श्रौर अभिव्यजनाओ का सुन्दर प्रतिपादन, शब्दो का सुन्दर चुनाव तथा उनकी अद्भुत व्यजनाशक्ति, सामाजिक जीवन की युक्तियुक्त मार्मिक स्थितियाँ, चारित्रिक वर्णन मे स्वाभाविकता तथा सामाजिक मूल्यो का सुमधुर तथा यथातथ्य चित्रण, भावो श्रौर अर्थों की उत्कृष्टता तथा उनका समष्टिगत निभाव, ये सब गुण लोकगीतो के साहित्य मे इतने सुन्दर ढग से निभाये गये हैं कि कभी-कभी यह प्रश्न उठता है कि ऐसी कृतियाँ लौकिक जीवन मे बिना साहित्यिक ज्ञान के कैसे सभव हुईं ? इन सबके पीछे एकमात्र तत्त्व यही है कि इनकी निष्पत्ति मार्मिक स्वरो के साथ हुई है। स्वर–शब्द-सगति के पीछे किसी व्यक्ति, परिवार, प्रतिभा तथा क्षेत्रविशेष का हाथ नही। वे समष्टिगत कृतियाँ हैं, असख्य जनसमुदाय की मिलीजुली योग्यता, अनुभूतियाँ, प्रतिभाएँ उनके पीछे छिपी हुई हैं, तभी यह सौन्दर्य सभव हुआ है। गीतो मे शब्द के अनुरूप ही स्वर-सगति का चमत्कार यदि कही देखना है तो इन गीतों मे ही देखा जा सकता है।

साधारणत· लोकगीतो की स्वर-रचना तथा शब्द-रचना मे सौन्दर्य-सामञ्जस्य रहता है, परन्तु अनेक गीत ऐसे भी हैं, जिनमे इस तथ्य का निभाव पूरी तरह नही हुआ है। कुछ लोकगीत अपनी स्वर-रचना के लिये जाने गये

हैं तथा कुछ अपने साहित्यिक गुणो के कारण ही प्रचलित हुए हैं। अनेक गीत ऐसे भी हैं, जिनको स्वररचना अत्यन्त प्रौढ और समृद्ध है, परन्तु जिनका साहित्यिक पक्ष इतना निखरा हुआ नही है। ऐसे गीत स्वरप्रधान गीत हैं। इनका महत्त्व केवल उनकी सुमधुर धुनो के कारण ही है। ऐसे गीतो की प्रवृत्ति सदा ही शब्दो से मुक्ति पाने की होती है, जिससे स्वर अक्षुण्ण रह जाते हैं और शब्द मौका पाकर बदलते रहते हैं। परन्तु साहित्यिक गीतो मे शब्द-तत्त्व कभी भी स्वर-तत्त्व से अलग होने की चेष्टा नही करते। वे सदा ही एक दूसरे के साथ जुडे रहते हैं। एक स्वरप्रधान राजस्थानी लोकगीत स्वरलिपि सहित उद्धृत किया जाता है।

टिड्डी गीत

आवियो गाजे रे टीडू धरती धूजे रे
धूजे म्हारे टीडूए री पाख – टीडूआ रे लाल
म्हारा टीडूआ रे लाल – टीडूआ रे लाल
आवियो वररे धरती भीजे रे
भीजे म्हारा टीडूए री पाँख – टीडूआ रे लाल
म्हारा टीडूआ रे लाल – टीडूआ रे लाल
मोठ बाजरो सगळो ई खाग्यो रे
खाग्यो म्हारी हर्योडी जवार – टीडूआ रे लाल
काचर्या ई खाग्यो म्हारा मतीरा ई खाग्यो रे
खाग्यो म्हारा सजना रो खेत – टीडूआ रे लाल
म्हारा टीडूआ रे लाल – टीडूआ रे लाल
म्हारोडे खेत मे फेर मती आजे रे टीडू
डोडा करूँ रे जुवार – टीडूआ रे लाल
म्हारा टीडूआ रे लाल – टीडूआ रे लाल

स्वरलिपि (ताल दीपचदी)

ग	ग	–	म	ग	ग	सा	मा	–	सा	सा	–	सा	–
आ	वि	ऽ	यो	ऽ	गा	ऽ	जे	ऽ	रे	टी	ऽ	डू	ऽ
सा	म	–	म	–	म	ग	म	प	–	म	प	ग	–
ध	र	ऽ	ती	ऽ	ऽ	ऽ	धू	जे	ऽ	रे	ऽ	ऽ	ऽ

म	प	–	म	–	ग	–	म	प	–	म	–	ग	रे
घू	जे	ऽ	म्हा	ऽ	रे	ऽ	टी	डू	ऽ	ए	ऽ	री	ऽ
रे	म	ग	–	–	–	ग	ग	म	–	सा	म	ग	सा
पा	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ख	टी	डू	ऽ	आ	ऽ	रे	ऽ
सा	–	सा	सा	–	सा	नी	सा	ग	–	म	प	ग	म
ला	ऽ	ल	म्हा	ऽ	रा	ऽ	टी	डू	ऽ	आ	ऽ	रे	ऽ
म	नी	प	–	–	–	–	–	–	–	म	ग	सा	ग
ला	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ
ग	म	–	–	–	–	–	–	–	–	ग	प	म	ग
ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ
सा	–	–	–	–	–	–	–	–	सा	सा	–	सा	नी
ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ल	म्हा	ऽ	रा	ऽ
सा	ग	–	म	प	ग	म	पम	नीप	–	–	–	–	–
टी	डू	ऽ	आ	ऽ	रे	ऽ	लाऽ	ऽऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ
प	–	–	म	ग	सा	ग	ग	म	–	–	–	म	–
ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ल	ऽ
ग	म	–	सा	म	ग	सा	सा	–	–	–	–	सा	–
टी	डू	ऽ	आ	ऽ	रे	ऽ	ला	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ल	ऽ
×			२				०			३			

(शेष गीत भी इसी धुन मे गावें।)

इस गीत मे एक कृषक टिड्डियो से कहता है कि कृपा करके मेरे खेत मे दुबारा पदार्पण नही करें, क्योकि पहले भी मेरा भारी नुकसान हुआ है। इस अनुनययुक्त कथन की बार-बार आवृत्ति हुई है। समस्त गीत मे शब्दो का

कोई महत्त्व नहीं है, न उनसे कोई कारुण्य की ही अभिव्यक्ति होती है, परन्तु स्वररचना इतनी मधुर और मार्मिक हुई है कि उसे सुनकर किसी का भी हृदय द्रवित हो सकता है। इस गीत मे से यदि शब्दों का लोप भी हो जाय तो भी स्वर अपनी सुदृढ रचना के कारण अक्षुण्ण रह सकते हैं।

लोकगीतो का साहित्यिक पक्ष सरल, स्वाभाविक तथा साहित्यशास्त्र की पेचीदगियो से मुक्त होता है। उसको प्रौढता और व्यजकता प्रदान करने-वाला काव्यशास्त्र नही है, वह उसका स्वर-पक्ष ही है। कुछ लोकगीत तो ऐसे भी हैं, जो केवल धुन मात्र हैं। कुछ ही शब्द असयत रूप से उनके साथ जुडे हुए होते हैं। ऐसे गीतो की धुनें ही इतनी शक्तिशाली होती हैं कि वे स्वभाव से ही शब्द-शक्ति को अपने मे दूर रखती हैं। शब्दों की वाछित शक्ति उन्हे अपने स्वरो से ही प्राप्त होती है। वे इस स्थिति की प्रतीक्षा मे रहते है कि शेष शब्द भी उनसे सदा के लिये मुक्ति पा जावें, परन्तु विपरीत इसके गीतो का शब्दपक्ष सर्वदा ही स्वरो को पकड़े रहना चाहता है, क्योकि जन-मानस भी उन गीतो को उनकी सुमधुर और प्रभावशाली धुनों के कारण ही पकडे रहता है।

लोकगीतो के साहित्यिक पक्ष के सबध मे एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि शृंगारिक और पारिवारिक गीतो का ही साहित्यपक्ष प्रबल होता है। मनुष्य मे पारिवारिक भावनाएँ सर्वाधिक प्रबल होती है, वह प्रतिदिन उन्ही मे विचरता है और नाना प्रकार के कडवे और मीठे अनुभव करता है, उनके प्रति उसकी ममता और वैयक्तिक भावना लिपटी रहती हैं। अपने दु ख-सुख, आनन्द-उल्लास की अभिव्यक्ति का वही एकमात्र साधन है। पारिवारिक जीवन के अनेक पहलुओ के बीच वह गुज़रता है। पति-पत्नी, माता-पिता, ननद-भौजाई, प्रेमी-प्रेमिका आदि अनेक मधुर पारिवारिक सबधो मे वह गुथता है और परिवार की भूमिका मे जीवन के अनेक अनुभव प्राप्त करता है। मानवी भावनाओ मे डूबे हुए ये मधुर सबध मनुष्य को विरह-मिलन, सयोग, मैत्री, स्नेह, प्रेम तथा ममता के अनेक क्षेत्रो मे प्रवेश कराता है और वह इन जीवन-तत्त्वों से परिपूर्ण और भावनाओ से सराबोर अपनी अनुभूतियो के मोतियो को स्वरो के धागे मे पिरोता है। ये अनुभूतियाँ धीरे-धीरे एक से अनेक की तथा व्यक्ति से समष्टि की अनुभूतियाँ बन जाती हैं और सुन्दर, शृंगारिक और पारिवारिक लोकगीतो मे प्रकट होती हैं। इन सब वैविध्यपूर्ण और सारगर्भित अनुभूतियो को व्यक्त करने का सर्वाधिक प्रबल माध्यम शब्द

ही है। यहाँ स्वरशब्द की शक्ति को नही पहुँच सकता। यही कारण है कि पारिवारिक और शृंगारिक गीतो का साहित्यिक पक्ष प्रवल होता है। वे इसी पक्ष के कारण मनुष्य की अत्यन्त मूल्यवान धरोहर बने रहते है।

अन्य स्वरपक्षीय गीतो का सचरण परिवार के साथ सस्काररूप मे परम्परागत परिजन के नाते उत्सव, त्यौहार, विवाह, पर्व आदि के उपयोगार्थ होता है और समाज के साथ उनका सवध समष्टिगत तथा सामुदायिक होता है। क्योकि ये गीत सामाजिक और सामुदायिक धरातल पर विचरते हैं, तथा सहस्रो नर-नारी उन्हे एक साथ गाते हैं अत उनका सचरणक्षेत्र वहुत वड़ा होता है तथा असख्य जन-समुदाय की स्मृतियो मे उनका सदा ही सजीव रहना आवश्यक होता है, इसीलिए वे शब्दों के वोझ से हल्के रहते हैं।

गीत के साहित्य तथा स्वरपक्ष की आदर्श संगति उसकी आदर्श स्थिति मे अवश्य है, परन्तु यह अवस्थिति वहुत कठिन है। जहाँ शब्दपक्ष प्रवल होता है वहाँ स्वर को दवना ही पडता है और जहाँ स्वरपक्ष प्रवल होता है, वहाँ शब्दपक्ष को झुकना ही होता है। अत लोकगीतों का स्वर-शब्द-सतुलन तभी कायम रह सकता है, जव उनके साथ कुछ सस्कारिक परम्पराएँ जुड जाती हैं। ऐसी स्थिति मे कोई भी परिवर्तन अनधिकार चेष्टा और सामाजिक अपराध समझा जाता है। स्वरपक्षीय गीतो का सचरणक्षेत्र सर्वाधिक विशाल, उनका जीवन अधिक लम्वा तथा उनके सामाजिक तथा सामुदायिक गुण अधिक प्रवल होते हैं। साहित्यपक्षीय गीतो का सचरणक्षेत्र अपेक्षाकृत छोटा होता है और वैयक्तिक और पारिवारिक दायरे मे अधिक लिपटा रहता है।

लोकगीतो का रचनाकाल तथा स्थायित्व

किसी भी रचना की आयु का अनुमान वहुधा उसके रचयिता से लगाया जाता है, परन्तु जिस रचना के रचयिता का ही पता नही और जिसका कोई एक रचयिता नही, उसके रचनाकाल का कैसे पता लगाया जाय, यही सवसे वडी कठिनाई है। यदि लोकगीत किसी एक रचनाकार की कृति के रूप में मान्यता प्राप्त है तो निश्चय ही उसे लोकगीत की ग़लत पदवी मिली है। लोकगीत समाज की धरोहर है। अनेक रचनाकारो की प्रतिभा के परिणाम-स्वरूप उसका स्फुरण होता है, अत किस युग की छाप उस पर स्पष्ट है यह जानना वहुत ही कठिन है। एक वहुत ही महत्त्वपूर्ण वात यह है कि किसी भी लोकगीत पर किसी कालविशेष की छाप अकित नही रहती। कभी-कभी

अज्ञानवश कई महानुभाव यह कहते देखे गये है कि अमुक गीत पर डिंगल भाषा का प्रभाव है तथा अमुक पर आज से ५० वर्ष पूर्व की व्रजभाषा की छाप है। कुछ लोग यह भी कहते हैं कि अमुक लोकगीत हिन्दी का है और अमुक उर्दू का तथा अमुक गीत की रचनाविधि १०० वर्ष पहले की है।

उक्त सभी अटकलो के पीछे लोकगीत विषयक सैद्धान्तिक विश्लेषण की कमी है। सर्वप्रथम तो यह मान लेना चाहिये कि लोकगीत एक निर्मल निर्झर की तरह है, जो प्रतिपल वहता रहता है। उसमे अनेक छोटे बड़े झरने मिलते रहते हैं और उसके प्रवाह और गतिशीलता को कायम रखते हैं। यदि यह प्रक्रिया वन्द हो जावे तो लोकगीत की स्वाभाविक प्रकृति विकृत हो जाती है और वह लोकगीतो के दर्जे से गिर जाता है। किसी भी रचयिता के कठ से उद्भाषित हुआ गीत यदि समाज के कंठ पर उतरने की क्षमता रखता है तो वह तत्काल ही उस प्रक्रिया मे संचरित होने लगता है, सहस्रो कंठों पर चढकर उसके स्वरो तथा अभिव्यजनाओ मे प्राजलता और प्रौढता का सचार होने लगता है और उस पर से रचयिता का व्यक्तित्व समाप्त होकर समस्त समाज का व्यक्तित्व अकित हो जाता है। मूल रचयिता के गीत का स्वरूप उसी तरह का होता है, जिस तरह एक सकीर्ण कृषकाय निर्झर का अपने उद्गम स्थल पर होता है और वाद मे जिसके साथ सहस्रो निर्झर मिलकर जिसे एक गभीर तथा भीमकाय नदी का व्यक्तित्व प्रदान करते हैं। किसी भी लोकगीत मे यह प्रक्रिया शाश्वत रहती है। पार्थिव नदी भले ही अपने स्वरूप को अधिक समय तक कायम न रख सके, परन्तु लोकगीत अपने शाश्वत निर्झरी स्वरूप को नही छोडता। यदि कोई लोकगीत किसी कारणवश अपने इस स्वभाव को त्याग देता है तो निश्चय ही वह अपने दर्जे से गिर जाता है और धीरे-धीरे वह प्रचलन से वाहर होकर लुप्त भी हो जाता है। लोकगीतो की यह शाश्वत प्रक्रिया हजारो गीतो को जन्म देती है। उनमे से अनेक अपनी दुर्वलता के कारण आधे रास्ते चलकर वैठ जाते हैं, कुछ समाप्त हो जाते हैं, कुछ लडखडाने लगते हैं और कुछ मेधावी तथा सशक्त गीत चल निकलते हैं और सैंकडो वर्षों तक जीवित रहते हैं।

इस विश्लेषण के अनुसार किसी भी सजीव लोकगीत की भाषा-शैली पुरानी नही पडती, न उसकी अभिव्यजनाएँ, उसके विषय एव सदर्भ ही पुराने पडते हैं, अत किसी भी क्षेत्रीय भाषा के लोकगीत अपनी स्थलीय नवीनतम भाषाशैली में ही जीवित रहते है। उनकी भाषा की प्रकृति कभी पुरानी नही

पडती । यह बात दूसरी है कि किसी क्षेत्र के लोकगीत की भाषा उसी भाषा के सुदूर क्षेत्र के उसी लोकगीत की भाषा से भिन्न है, परन्तु एक ही क्षेत्र मे प्रचलित उसी लोकगीत की भाषा की शैली नवीनतम भाषा-शैली के ही अनुरूप होगी । अन्यथा यह मान लेना चाहिए कि वह लोकगीत मृतप्राय हो चुका है और वह लोकगीतो के दर्जे से गिर गया है । वह केवल इतिहास के पन्नो मे लिखने योग्य गीत है, जो अपनी स्वाभाविक दुर्बलता के कारण अब लोकगीत नही रहा है ।

सजीव लोकगीत समाज से सदैव प्रेरणा लेता रहता है । उसकी अभिव्यजनाओ मे सामाजिक अभिव्यजनाओ के अनुरूप ही सशोधन होता रहता है, भाषा भी प्रचलन के अनुसार बदलती रहती है तथा स्वरो मे सामाजिक भावनाओ के अनुरूप परिवर्तन, परिवर्धन होता रहता है । लोकगीत समाज के बदलते हुए स्वरूप का सच्चा दर्पण है । यहाँ एक बात का उल्लेख कर देना आवश्यक है कि किसी लोकगीत को सुनकर हम इतिहास या अतीत का चित्र अकित नही कर सकते । किसी ऐतिहासिक तथा धार्मिक व्यक्तिविशेष के गीतो के सैकडो सकलन हमारे साहित्य मे हुए हैं जिनसे तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक तथा राजनैतिक जीवन का भली प्रकार अनुमान लगाया जा सकता है । राजस्थान का सच्चा इतिहास तो इन्ही वीरगीतो तथा काव्य-ग्रन्थो से लिखा गया है । इसी तरह रामायण तथा महाभारत से तत्कालीन सामाजिक तथा राजनैतिक जीवन का भली प्रकार अदाज लगाया जा सकता है । परन्तु लोकगीतो से यह अदाज नही लग सकता । व्यक्तिविशेष के गीत व्यक्ति के स्वय के होते हैं । उनमे उसकी स्वय की वे अनुभूतियाँ तथा भावनाएँ व्यजित रहती हैं, जिनमे उसका स्वयं का अपनत्व है । यह आवश्यक नही कि समाज उन्हे स्वीकार करे या उनके प्रति अपना ममत्व प्रकट करे । वे कृतियाँ ऐतिहासिक कृतियाँ है। भाषा, भाव, शैली तथा अभिव्यजनाओ की दृष्टि से रचयिता स्वय ही उनके लिए उत्तरदायी है, समाज नही । यदि रचयिता बहुश्रुत, लोकप्रिय तथा लोकमानस का परम पारखी है तो उसकी कृतियो मे समाज चित्रित होगा, परन्तु फिर भी उसकी रचनाएँ सामाजिक रचनाएँ नही हो सकती, उनमे सशोधन परिवर्धन भी एक तरह से सामाजिक अपराध ही समझा जायेगा, अतः उनका काल-निर्धारण बडी आसानी से हो सकता है । ये रचनाएँ नामाकित न भी हो और वे लोकरचनाओ मे घुलमिल भी गई हो तो भी उनकी शैली, भाषा एव स्वर-सयोजन की प्रकृति, भावाभिव्यजना तथा विषय-प्रतिपादन

की परिपाटी से उनका काल-निर्धारण हो सकता है। परन्तु लोकरचनाओं के निरन्तर निर्झरी स्वभाव के कारण यह कार्य दुर्लभ ही नही असभव भी है।

यहाँ तक भी देखा गया है कि कई वर्ष पूर्व रचित लोकगीत आज भी अपने नवीन रूप मे विद्यमान है। उस गीत मे कोई भी ऐसी बात नही जो उसे नवीनतम गीत का दर्जा नहीं देता हो। लोकगीत का दर्जा उसे इसीलिये प्राप्त है कि उसका प्रचलन अनेकों वर्षों से विस्तृत क्षेत्र मे विशाल समाज द्वारा होता है और समाज ही अपने को उसका रचयिता मानकर उसे अपनी धरोहर समझता है। कभी-कभी लोकगीतो के ऐसे पुराने सस्करण भी मिल जाते हैं जो किसी की पुरानी चोपडी में लिखे हुए हैं या छिपे हुए हैं। उनमे ऐसे अनेक गीतों के पुरातन सस्करण भी उपलब्ध होते हैं जो नवीन सस्करणो से सर्वथा भिन्न हैं। ये गीत सगीत, साहित्य तथा समाज-विज्ञान की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण गीत होते हैं और इस दिशा मे कार्य करनेवालो के लिये अत्यन्त मूल्यवान सामग्री हैं। इन गीतों के अध्ययन से स्पष्ट रूप से यह पता चल सकता है कि किन-किन महत्त्वपूर्ण प्रक्रियाओ के बीच उसी गीत का आधुनिक सस्करण गुज़रा है। मोटे-मोटे रूप में वे प्रक्रियाएँ इस प्रकार होती हैं—

(१) स्वर-नियोजन की दृष्टि से पुरातन संस्करण अधिक सरल तथा न्यूनतम स्वरो मे रचा हुआ होता है। आधुनिक सस्करण मे स्वरो का चयन विस्तृत तथा उनके उतार-चढाव अधिक तीव्र होते हैं।

(२) दोनो ही गीतो के मूल मे धुन का प्रकार एक ही है। उनकी लय भी प्राय. समान ही होती है। पुरातन सस्करण की लय धीमी और नवीन सस्करण की तनिक तेज़ होती है।

(३) पुरातन सस्करण के लोकगीत मे धुन प्राय सामान्य होते हुए भी उसके लहजे बडे विचित्र और प्रभावशाली होते हैं। आधुनिक संस्करण मे वे लहजे प्रायः लुप्तप्राय से रहते हैं।

(४) शब्दो मे परिवर्तन प्राय कम ही होता है, क्योकि लोकगीतो की प्रधानता उनके स्वरो मे है तथा शब्दों से पूर्व ही स्वरो के प्रति लोक की ममता जागृत होती है। व्यक्ति से समष्टि की सामग्री बनने की प्रक्रिया के बीच स्वर शब्द से कही अधिक महत्त्वपूर्ण भाग अदा करता है। लोकगीतो का अपनाव भावमूलक होने से उनकी लय और धुन सर्वाधिक सामाजिक कसौटी

पर उतरती है और सामाजिक प्रक्रियाओं से लोकगीतो मे जितना भी परिवर्तन होता है, वह अधिकाश धुनो मे होता है। शब्द और उनकी व्यजनाएँ भी बदलती हैं, परन्तु उनकी गति और सीमा अत्यत न्यून होती है।

(५) पुरातन गीतो की शब्दावली और व्यजनाएँ अधिक सरल होती हैं और उनके आधुनिक सस्करण मे वे वैविध्यपूर्ण होती हैं।

उदाहरण के लिए राजस्थान के लोकगीत राजस्थानी भाषा मे हैं। उनके क्षेत्रीय स्वरूप भी अलग-अलग क्षेत्र की राजस्थानी मे हैं। जो प्रथम श्रेणी के लोकगीत हैं, जिनका प्रचलन अपने गेय गुणो के कारण समस्त राजस्थान मे है, जैसे लूर, घूमर, पनिहारी, गोरवन्द, मायरा, वधावा, ओलू आदि, उनकी मूलधुन वही होते हुए भी लय, गति तथा लहजो की दृष्टि से उनके क्षेत्रीय सस्करण काफी हद तक भिन्न हैं। द्वितीय श्रेणी के लोकगीत वे हैं जो समस्त राजस्थान मे तो प्रचलित नही हैं, परन्तु राजस्थान के विस्तृत क्षेत्रो मे बहुश्रुत और बहु प्रयुक्त है, उनमे भी मूलधुन मे साम्य होते हुए भी लय तथा लहजो की दृष्टि से भिन्नता है। तृतीय श्रेणी के गीत वे हैं जो केवल क्षेत्रीय हैं, उनकी धुनें तथा भाषा भी क्षेत्रीय विशेषताओ से युक्त होती हैं। इन सभी प्रकार के गीतो से यही भली प्रकार ज्ञान होता है कि कम-ज्यादा करके सभी गीतो मे भाषा की दृष्टि से नवीन भाषाशैली का प्रतिपादन हुआ है। जो भाषा आज लोक मे प्रचलित है वही लोकगीत की भाषा है। चाहे वह गीत ३०० वर्ष पूर्व ही क्यो न रचा गया हो। गोस्वामी तुलसीदास के ४०० वर्ष पूर्व लिखे हुए अवधी भाषा के गीत भाषा की दृष्टि से आज की अवधी से बिल्कुल भिन्न हैं, परन्तु लोकगीत चाहे कितना ही पुराना क्यो न हो वह सदा ही समाज के साथ-साथ चलता है, वह सभी परिवर्तन अपने मे ऐसे समा लेता है कि उनका पता भी नही लग सकता। यही कारण है कि राजस्थान मे डिंगल के लोकगीत आज ढूँढे भी नही मिल सकते। कारण स्पष्ट है, डिंगल आज लोकभाषा नही, अत. डिंगल के लोकगीत भी बदलते-बदलते आज की राजस्थानी मे बदल गये हैं। गीतो की व्यजनाएँ, धुनें प्राय वही हैं परन्तु शब्द समय के साथ घिस-घिसकर रूपान्तरित हो गये है।

अब एक प्रश्न यह उठता है कि हिन्दी अथवा खडीबोली मे लोकगीत क्यो नही हैं? खडीबोली अभी लोकभाषा का स्वरूप ग्रहण नही कर सकी है। उसकी आयु ही लगभग १०० वर्ष की है। लोकभाषा बनने के लिये

यह अवधि कुछ नही के बरावर है। जिन क्षेत्रो मे खडीवोली लोकाचार की भाषा वन गई है, जैसे दिल्ली, मेरठ आदि वहाँ इस भाषा मे लोकगीतो की कल्पना की जा सकती है, परन्तु अभी तक उनका सामाजिक तथा लोकस्वरूप परिलक्षित नही हुआ। साधारणत एक गीत को लोकगीत का दर्जा प्राप्त करने मे डेढ सौ दो सौ वर्ष लगते हैं। जो लोकगीत सर्वसाधारण द्वारा गाये जाते हैं, वे ही लोकगीत हैं, यह वात ठीक नही है। उनकी अनेक कसौटियां हैं जो लोकजीवन मे निहित रहती हैं। लोकगीत लोक के साथ सस्कारवत् जुडे रहते हैं, उनके साथ उनका न केवल भावनात्मक वल्कि सामाजिक और धार्मिक गठवधन भी रहता है। वे आसानी से उनसे छूटते नही।

दूसरा प्रश्न यह उठता है कि यदि ये लोकगीत सामाजिक प्रक्रियाएँ हैं और समाज उन्हे परिजन के रूप मे देखता है तो उनकी पहिचान कैसे की जानी चाहिये ? आज हजारो गीत विस्तृत क्षेत्रो मे विशाल समुदाय द्वारा लम्बे समय से गाये जा रहे है। उनमे से सैकड़ो गीत ऐसे हैं, जो कुछ ही समय पूर्व रचे गये हैं। उनके रचयिताओ ने उनका यह विस्तार स्वय अपने जीवनकाल मे देखा है। फिर लोकगीतो की परिभाषा मे वे गीत क्यो नही सम्मिलित होते ? सामान्य दृष्टि से यह वात ठीक मालूम पडती है। लोकगीतो का इतना दुर्व्यवहार लोकप्रियता के नाम पर इन दिनो हुआ है कि मौलिक और अमौलिक लोकगीतो के भ्रम मे जनता भरमा गई है। अत आज इस ओर निश्चय ही एक वैज्ञानिक दृष्टि की आवश्यकता है।

लोकगीतो की उक्त कसौटियो के अलावा उनकी पहिचान के लिए कुछ विशिष्ट कसौटियां नीचे दी जाती हैं। ये ही कसौटियां ऐसी हैं जो लोकगीतो को स्थायित्व प्रदान करती हैं, उन्हें वहुश्रुत, वहुप्रयुक्त तथा सामाजिक धरोहर बनाती हैं।

लोकगीतो की रचना अनन्तकाल से हो रही है। सहस्रो गीत वनते हैं, सामाजिक स्तर को प्राप्त करते हैं और मिट भी जाते हैं। कुछ अल्प आयु के होते हैं, कुछ दीर्घायु होते हुए भी वहुश्रुत और वहुप्रयुक्त नही होते। लोकगीतो के स्थायित्व के लिये उनके ध्वनिजन्य तथा भावजन्य गुण तो विद्यमान होने ही चाहिए, परतु उनका सस्कारगत लगाव उससे भी अधिक आवश्यक है। किसी भी परिवार मे अच्छे-वुरे सभी तरह के वालक पैदा होते हैं। अच्छे तो अच्छे होते ही हैं, परतु रूप और गुणहीन वालक भी सस्कारवत् मातापिता तथा परिजन से लगाव प्राप्त कर लेते है, जिससे उनके प्रति परिवार की स्वभावगत ममता हो जाती

है। यही सस्कारगत लगाव कभी-कभी साधारण कोटि के लोकगीतो को उच्च श्रेणी के लोकगीतो से भी कही अधिक प्रतिष्ठा प्रदान कर देता है। ऐसे लोकगीत उनसे भी अधिक स्थायित्व प्राप्त करते हैं और उन्हे अपेक्षाकृत अधिक लम्बी आयु भी प्राप्त हो जाती है। ऐसे लोकगीतों की धुने तथा उनके शब्द उन विषयो के साथ ऐसे रूढ हो जाते हैं कि प्रयोक्ताओ के साथ उनकी प्रगाढ ममता हो जाती है, जो छुडाये भी नही छूटती और कभी-कभी अन्ध-विश्वास की तरह उन पर छा जाती है।

ऐसे गीतो मे सर्वाधिक स्थायित्व लिये हुए वे गीत हैं जो धार्मिक सस्कारो, विवाहो, उत्सवो तथा पर्वो के साथ जुड़े हुए हैं। जिस तरह सस्कार के साथ परम्परागत आस्था जम जाती है वैसे ही इन गीतो के साथ भी परम्परागत विश्वास बैंठ जाता है। जिस तरह किसी धार्मिक गुरु या पुरोहित के विना कोई सस्कार पूरा नही होता, वैसे ही इन अनुष्ठानिक गीतो के बिना भी वे सस्कार पूरे नही होते। ऐसे लोकगीत सैंकड़ो वर्षों से स्थायित्व का वाना पहिनकर समाज मे प्रतिष्ठित हो चुके हैं। इन गीतो मे वहुधा उन्ही धुनो की प्रधानता रहती है, जो सामूहिक रूप से जनसमुदाय द्वारा विना अधिक प्रयास के गाई जा सकती हैं। ये गीत इन समारोहो के मागलिक प्रतीक होते हैं।

दूसरी श्रेणी के लोकगीत वे हैं, जो जीवन के विशिष्ट मार्मिक प्रसगो के साथ जुडे हुए होते हैं। वे मार्मिक प्रसग प्रेम, शृ गार, विरह, मिलन आदि के हैं, जिनकी मार्मिक अभिव्यक्ति लोकगीतो के माध्यम से ही होती है। ऐसे प्रसग जीवन के सर्वाधिक प्रिय प्रसग होते हैं, जिनके साथ मनुष्य का घनिष्ट लगाव होता है। इन्ही प्रसगो पर मनुष्य के जीवन का आनन्द और विषाद निहित रहता है। ऐसे प्रसगो के लोकगीतो मे युगानुयुग से चली आई मनुष्य के मूल स्वभाव की मनोरम अनुभूतियाँ छिपी रहती हैं, जिनसे उसका मन गुदगुदाता रहता है और उन्ही से वह जीवन का अमृत प्राप्त करता है। इन गीतो मे अभिव्यक्त व्यजनाएँ अनुकूल मार्मिक धुनो के सम्मिश्रण से मनुष्य के मन को गुदगुदाती हैं, उनमें सतोष और तुष्टि के भाव भरती हैं तथा उनका मनोविनोद करती हैं। इन गीतो मे अभिव्यक्त व्यजनाएँ शाश्वत होती हैं और समष्टि के सामान्य अनुभव की प्रतीक होने से सबके मन को भाती हैं। ये लोकगीत पति पत्नी, प्रेमी प्रेमिका, देवर भौजाई आदि के मधुर सबधो से जुडे रहते हैं और सैंकडो वर्षों से लोकसाहित्य मे क्षेत्रीय गीतो के रूप मे प्रतिष्ठित होते हैं। इन

गीतो मे शब्दो का अद्‌भुत माधुर्य और चातुर्य तथा साहित्य की अनुपम निधि है। उनके साथ धुनो का सौन्दर्य सोने मे सुगन्ध का काम करता है।

तृतीय श्रेणी के गीत वे हैं, जो खेलकूद, हासविलास, विनोद, वात्सल्य तथा दैनिक पारिवारिक सबधो से सबधित हैं। ये गीत भी पारिवारिक जन की तरह ही परिवार के साथ लगे हुए होते हैं और जिनका प्रयोग तथा समय सस्कारवत् ही होता रहता है। ये गीत भाईबहिन, मातापिता, ननदभौजाई, सासबहू के सबधो से जुडे रहते हैं। ये सभी गीत प्रसगवश ही गाये जाते हैं। इनके स्थायित्व मे भी कोई शका नही है, क्योकि वे भी जीवन के प्रमुख अग बन गये हैं।

चतुर्थ श्रेणी के गीत वे हैं, जो मनुष्य के मन की मौज के साथ सबधित हैं। उनका मनुष्य के साथ कोई सस्कारवत् सबध नहीं होता। वे गीत चाहे कितने ही सुन्दर और प्रौढ क्यो न हो, उनके स्थायित्व का कोई विश्वास नही। ऐसे गीत बुलबुले की तरह उठते हैं। समाज अपनाता है और त्यागता है, उनका कोई स्थायित्व नही बन पाता। अत यह निश्चित है कि प्रत्येक लोकगीत को स्थायित्व प्राप्त करने के लिये समाज के साथ सस्कारवत् जुड जाना पडता है।



२

लोकनृत्य

लोकनृत्य

लोकगीत व्यक्ति विशेष के किमी भावात्मक क्षण मे गुनगुनाहट के रूप मे उद्‌भासित होकर शब्दो के मेल से वैयक्तिक गीत बनता है, तथा बाद मे अपनी लोकप्रियता के कारण वह सामाजिक स्वरूप प्राप्त करके लोकगीत मे विकसित होता है। ठीक विपरीत इसके लोकनृत्य व्यक्ति की देन नहीं होकर ममष्टि ही की उपज है। अनादिकाल से मनुष्य अपने आनन्द मंगल के समय अगभगिमाओं का जो अनियोजित प्रदर्शन करता आ रहा है, वही धीरे-धीरे समष्टि के रूप में आयोजन-नियोजन द्वारा लोकनृत्यो का स्वरूप धारण करने लगा। जैसे-जैसे नृत्य अपनी आदिम अवस्था से निकलकर उन्नत और सभ्य समाज का शृ गार बनने लगा वैसे-वैसे उसके साथ गीत, नाट्य आदि भी जुड़ने लगे और व्यवस्थित नृत्यनाट्य तथा गीतनाट्य का भी प्रादुर्भाव होने लगा। साधारणत. सभी मानव को नाचने गाने का अधिकार होता है और वे आनन्द और उल्लास के समय भाँति-भाँति की शारीरिक क्रियाओ की सृष्टि करते हैं; परतु वे ही क्रियाएँ लोकनृत्यों का स्वरूप प्राप्त करती हैं, जिनमे सामाजिक तथा सामुदायिक तत्त्वो की प्रधानता होती है, तथा जिनका व्यवहार और प्रचारक्षेत्र व्यापक होता है। ऐसे ही नृत्य सामाजिक दृष्टि से अधिक से अधिक प्रयोग मे आने लगते हैं। प्रत्येक प्रयोक्ता उनमे अपनी प्रतिभा का परिचय देता है तथा उनकी विविध सामाजिक प्रक्रियाओ के कारण उनमे निरन्तर सशोधन परिवर्तन होने लगते हैं। ऐसे नृत्य उनके उद्‌भवकाल से ही सामूहिक होते हैं, तथा मनुष्य की सामूहिक प्रेरणा और उसके सामूहिक उल्लास के समय ही उनकी सृष्टि होती है। व्यक्ति अकेले मे चाहे कितना ही भावविह्वल हो उसके सामने कितनी ही प्रेरणामूलक तथा उद्दीपनकारी स्थितियाँ हो, स्वभावतः उसके अग नृत्यमयी मुद्राओ में चलायमान नहीं होते। यदि कभी हो भी जाते हैं तो वह उसकी अस्वाभाविक स्थिति के ही द्योतक होते हैं। प्रेरणामूलक रचनाकारी स्थितियाँ सामूहिक रूप मे ही उद्‌भासित होती हैं तथा किसी एक को प्रेरित देखकर समूह के सभी प्रेरित हो जाते हैं, और भावोद्वेग के कारण उनके अग-प्रत्यग किसी विशिष्ट गीत पर सामान्य रूप से अनायास ही चलायमान हो जाते हैं।

मनुष्य की प्रकृति, स्वभाव से ही अनुकरणमूलक होती है, अत. ऐसे नृत्य जो प्रारंभ से ही सामूहिक आनन्द के स्रोत होते हैं, समाज की अमूल्य

धरोहर बन जाते हैं। धीरे-धीरे उनका प्रयोग विशद रूप से उत्सव, समारोह तथा पर्वों के सबध मे होने लगता है, तथा निरन्तर प्रयोग और अभ्यास से वे सरल से कठिन बनते जाते हैं। ये नृत्य प्रारम्भ मे समस्त शरीर की अनियोजित क्रियाओ मे निहित रहते है, तथा काफी लम्बे समय तक उनमे व्यक्ति स्वतन्त्रतापूर्वक प्रयोग करता रहता है। समूह मे नृत्य करते हुए भी उसको अपनी अगभगिमाओ मे परिवर्तन करने की काफी छूट रहती है। धीरे-धीरे निरतर प्रयोग और अभ्यास से ये क्रियाएँ मर्यादित होती रहती हैं, और उनका टकसाली स्वरूप मुखरित होता है। नृत्यो को नियोजित करने तथा उन्हे निश्चित स्वरूप देनेवाला सर्वप्रथम मनुष्य का हाथ होता है, जो पांवो को सर्वाधिक योग प्रदान करता है। नृत्य करते समय सामूहिक अगभगिमाओ के साथ क्रियाशील होनेवाले ये ही पांव प्रारम्भिक चापो के साथ लड़खड़ाते-लडखडाते ठोस कदम भरने लगते हैं, तथा किसी निश्चित लय पर नियोजित रूप से आगे बढ़ते हैं। उस समय तक कमर से ऊपर का भाग अपनी भगिमाओ मे पूर्णरूप से आज़ाद रहता है। ये ही पद सामूहिक नृत्य के समय अन्य सभी पदो के साथ कदम से कदम भरते है, तथा सामान्य रूप से संचरित होते है। पांवो के ठोस सचालन के बाद ही शरीर के अन्य अंग अपनी सभाल स्वय कर सकते हैं। उस समय हाथ ही सर्वाधिक क्रियाशील रहता है और अन्य अंगो को समन्वित करने मे योग प्रदान करता है। कमर, स्कध, ग्रीवा आदि का नियोजन सबसे बाद मे होता है और समस्त नृत्य, जब विकास के उच्चतम स्तर पर पहुँच जाते है तभी वे विविध सुन्दर स्वरूप प्राप्त करते हैं और हाथो और पांवो के साथ अपना कलात्मक और सजीव सबंध स्थापित करते हैं। अगभगिमाओ का यही सुन्दर और समन्वित स्वरूप नृत्यमुद्राओ की सृष्टि करता है, जिन्हे शास्त्रकार बाद मे अनेक भेद-उपभेदो तथा प्रकारो मे बाधकर शास्त्रीय नृत्य का स्वरूप प्रदान करते हैं।

लोकनृत्यो की अतिम विकास-सीढी उनके साथ स्वरो तथा शब्दो का सयोजन है। इससे पूर्व की स्थिति उनकी प्रारम्भिक और प्राथमिक स्थिति ही मानी जाती है। उनको अपना सामाजिक स्वरूप भी स्वरो एव शब्दो के योग से ही प्राप्त होता है, उससे पूर्व की स्थिति समूहविशेष की प्रतिभा का ही परिणाम होता है। इन प्रारम्भिक समूह के नृत्यो मे समरसता तथा समरूपता का नितान्त अभाव रहता है। उनके साथ जब गीत जुड़ने लगते हैं तथा स्वर-शब्दो का योग होता है, तो ये छोटे-छोटे समूह एक दूसरे मे मिलने लग जाते हैं तथा सभी छिटपुट नृत्य-प्रयोग सामूहिक प्रयोग बनकर समस्त समाज की

धरोहर वन जाते हैं। कई ऐसे भी छिटपुट नृत्य-प्रयत्न होते हैं, जो अपनी सामजस्यशक्ति के दरवाजे वन्द रखते हैं। परन्तु वे जो असख्य जनसमुदाय की श्रद्धा और अभिरुचि को अपनी ओर खीचने मे समर्थ होते है वे अमर हो जाते हैं। वे मनुष्य के सुख दु ख के साथ जुड जाते हैं तथा उनके विश्वासो एव धार्मिक अनुष्ठानो के अग वनकर उनके जीवन के भी अग वन जाते हैं।

जव ये नृत्य अत्यधिक लोकप्रिय हो जाते हैं, तो उनमे लोग नानाप्रकार की आज़ादी लेने लगते हैं और उन्हे क्लिष्ट वनाने की चेष्टा करते हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि वे लोकनृत्यो की परिधि से हटने लगते हैं और उनका प्रचारक्षेत्र कम होने लगता है, अत सामाजिक शक्ति इस वात की कोशिश करती है कि ये नृत्य अधिक क्लिष्ट न वनें। कुछ नृत्यप्रवर उन्हे क्लिष्ट वनाने की चेष्टा भी करते हैं और उन्हे सामाजिक क्षेत्र से वैयक्तिक स्तर तक पहुँचाने की चेष्टा में वे उनके लोकतत्त्वो को भी खो वैठते हैं।

नृत्यों के साथ गीतो का समन्वय

लोकनृत्य जैसे प्रारभ से ही एक सामाजिक क्रिया है, उसी तरह उनके साथ जुडनेवाले गीत भी सामाजिक क्रिया ही है। स्वतन्त्र लोकगीत की उत्पत्ति जिस प्रक्रिया से शासित होती है, उससे ये नृत्य के साथ जुडनेवाले गीत शासित नही होते। लय और शब्दहीन धुनो के साथ वँधी हुई उल्लासमयी अगमगिमाएँ नर्तको मे स्वभाव से ही गीतो की सृष्टि करती हैं और नृत्य को स्थायित्व प्रदान करती है। ये सव प्रक्रियाएँ सस्कार तथा श्रद्धावत् ही होती हैं, प्रयास से नही। गीतनृत्यो के ये सुखद ससर्ग धीरे-धीरे परिमार्जित होते रहते हैं और नृत्य के अभिन्न अंग वन जाते हैं। उन्हे अलग कर देने से गीत गीत नही रहता और नृत्य नृत्य नही रहता। दोनो ही एक दूसरे के विना अधूरे तथा अपरिपक्व रह जाते हैं।

यहाँ एक विशेष वात ध्यान देने योग्य यह है कि जव गीत सामाजिक मानस के उच्चस्तरीय धरातल के कारण क्लिष्ट वनने लगता है तो उसके साथ जुडा हुआ नृत्य, स्वभाव से ही सरलता की ओर प्रवृत्त होता है। इसी तरह जव नृत्य क्लिष्ट वनने लगता है तो उसके साथ जुड़ा हुआ गीत सरलता की ओर झुकता है। यह क्रम इन लोकनृत्यो मे उनके जीवनकाल तक चलता रहता है। इन प्रक्रियाओ में जव सतुलन वना रहता है तभी तक नृत्य की लोकप्रियता और प्रतिष्ठा भी है। यह सतुलन विगडा और नृत्य भी रसातल तक पहुँचा समझिये। नृत्य जव क्लिष्ट होने लगता है तो उसके साथ

लगा हुआ गीत डगमगाने लगता है तथा उसका साथ छोडने या मौन रहने की चेष्टा करता है, इसी तरह गीत जब क्लिष्ट होने लगता है तो नृत्य डगमगाने लगता है और दोनो का पारस्परिक संबध टूट जाता है। इसके साथ एक प्रक्रिया और विशेष उल्लेखनीय है। जब ऐसे नृत्यो का प्रचार और व्यवहार-क्षेत्र बढ जाता है और उनके प्रयोक्ताओ की सख्या मे वृद्धि होती है तो नृत्य की स्वाभाविक चेष्टा सरलीकरण की ओर ही रहती है और जब उसका व्यवहार और प्रचारक्षेत्र घटकर कुछ ही प्रयोक्ताओ तक सीमित रहता है तो यह निश्चित ही समझ लेना चाहिये कि नृत्य क्लिष्ट से क्लिष्टतर बन गया है।

नृत्य की क्लिष्टता और उसकी भगिमा-वैविध्य मे बहुत अन्तर है। नृत्य जब सामाजिक स्थिति से बाहर निकलकर वैयक्तिक दायरे मे प्रवेश करता है, तथा किसी व्यक्तिविशेष की प्रतिभा की अभिव्यक्ति बनता है, तो वह भगिमाओ के जजाल मे फँसकर क्लिष्ट बनता जाता है और अपने सामाजिक गुणो को खोने लगता है, परन्तु नृत्य जब सामाजिक आनन्द और उल्लास का माध्यम बनता है तो उसमे भगिमाओं के वैविध्य का लालित्य निखरता है, प्रत्येक व्यक्ति आनन्द-विभोर होकर नवीन भगिमाओ का सचार करता है और अन्य नृत्य-सहयोगी उनमे अपनी प्रतिभा से चार चाँद लगाते हैं। परिणाम यह होता है कि सरल उछलकूद तथा अगभगिमाओ से प्रारम्भ हुआ नृत्य अनेक मुद्राओ और भगिमाओ से सम्पन्न बनता है और उसका सौन्दर्यपक्ष अधिकाधिक आकर्षक होता है। ऐसे नृत्य जब आनन्द और उल्लास के दायरे से निकलकर केवल धार्मिक विश्वास तथा धार्मिक अनुष्ठान के साथ सस्कारवत् जुड जाते हैं, तो वे अपना वैविध्य खो देते हैं और केवल लययुक्त उछलकूद मात्र रह जाते है। यह धार्मिक तत्त्व विशिष्ट समाज, व्यक्ति तथा सप्रदाय के हितचिन्तन से बाहर निकलकर समष्टिगत हितचिन्तन का स्वरूप धारण कर लेता है। ये नृत्य पुन धार्मिक और वैयक्तिक दायरे से बाहर निकलकर समष्टिगत दायरे मे पहुँच जाते हैं और उनमे पुन निखार आने लगता है। ऐसे नृत्य राष्ट्रीय पर्वों, मेलो, उत्सवो, त्यौहारो तथा सामाजिक अनुष्ठानो मे प्रचुरता से देखे जा सकते हैं। सदियो के व्यवहार से उनमे एक प्रकार का ऐसा टकसालीपन आगया है कि सर्वत्र ऐसे अनुष्ठानो के समय नाचेजानेवाले लगभग सभी नृत्य एकसे लगते हैं। उनमे मुद्राएँ तथा भावभगिमाएँ रूढिवत् ही उनके साथ जुडी हुई हैं। कोई भी व्यक्ति उनमे स्वतन्त्रता नही ले सकता। यही कारण है कि ऐसे अनुष्ठानिक नृत्य सदियो से वही के वही रहते हैं। उनकी मुद्राओ, पदचाप, गीत, स्वर-रचनाओ आदि मे विशेष परिवर्तन नही होता, परन्तु विपरीत इसके

विशुद्ध आनन्दोल्लास के लिए नाचेजानेवाले नृत्य प्रतिपल अपनी सौन्दर्यनिधि को बढाते जाते है, उनके बाह्य सौन्दर्य के साथ ही उनका आतरिक सौन्दर्य भी उत्तरोत्तर वृद्धि पाता है। ऐसे नृत्यो के साथ जुडे हुए गीत भी अत्यधिक मधुर और मर्मस्पर्शी होते हैं। ये ही उल्लासकारी नृत्य आगे जाकर शास्त्रीय नृत्यो की परिधि मे प्रवेश करते हैं। इन नृत्यो का भावपक्ष प्रवल होता है तथा आनन्दोल्लास की स्थिति मे प्रत्येक नर्तक अपनी सृजनात्मक शक्ति का अनजाने ही परिचय देने लगता है तथा नवीनतम भगिमाओ की सृष्टि करता है। ये नृत्य इस ढग से परिवर्तन को स्वीकार करते हैं कि सैकडो वर्षों की उनकी आयु होते हुए भी प्रत्येक नर्तक उनमे नवीनता का अनुभव करता है। प्रतिक्षण उनमे परिवर्तन होता रहता है, परन्तु उनकी मूल पृष्ठभूमि प्राचीन ही रहती है। इन नृत्यो मे प्रवेश पाने के लिये किसी धर्म, जाति, सम्प्रदाय, क्षेत्र तथा देश की मर्यादा बाधक नही बनती और प्रत्येक व्यक्ति तथा समुदाय को अपना-अपना योगदान देने का समान अधिकार होता है।

नृत्यनाट्य की पृष्ठभूमि

सहस्रो वर्ष पूर्व नृत्य और गीत जब पूर्णरूप से समन्वित हो गये तब नाट्य की कल्पना साकार हुई। नाट्य कभी भी स्वतन्त्ररूप से विकसित नही हुआ। जब मनुष्य को अपने पूर्वजो तथा विगत चमत्कारिक पुरुषो के सुकृत्यो के अनुकरण की आवश्यकता हुई तब उनकी चारित्रिक विशेषताओ पर सर्व-प्रथम गीत रचे गये, तत्पश्चात् उनके साथ उपयुक्त नृत्यमुद्राएँ जोड दी गईं। ऐसे ही नृत्यनाट्य सामुदायिक तथा सामाजिक रूप से अभिनीत होत थे, जिनमे गीतों का अश प्रधान तथा नृत्य-सचालन गौण था। इस समय तक जमीन से उठे हुए रगमच की प्रथा प्रारम्भ नही हुई थी, न इन नाट्यो मे नाट्य के सभी तत्त्व विकसित हुए थे। सवाद केवल गीतो ही मे गाये जाते थे, जिनकी समाप्ति पर पदचाप द्वारा नृत्य होता था, जो गीत-सवादो को प्रभाव शाली बनाने मे सहायक होते थे। इस समय तक भावभगिमाओ तथा आगिक मुद्राओ द्वारा मूक भाषा मे सवाद कहने की प्रणाली भी प्रारम्भ नही हुई थी। ये नृत्यनाट्य बहुधा धार्मिक अनुष्ठानो, सास्कृतिक पर्वो तथा पूर्वजो के स्मृति-दिवसो से सबधित रहते थे। इन नाट्यो के नृत्य अत्यधिक शक्तिशाली तथा द्रुत गति मे होते थे तथा नाट्य-तत्त्वो को उद्दीप्त करते थे। इन नाट्यो के प्रदर्शक और दर्शक एक ही होते थे, उनकी पृथक् अवस्थिति नही थी, वे सभी स्वान्त सुखाय थे। प्रदर्शन तथा दिखावे के लिए नृत्य तथा नाट्य करने की

प्रवृत्ति वहुत वाद की है। वैदिककाल मे इन सभी स्वरूपों का व्यवस्थीकरण प्रारम्भ हुआ। ऐसा सामवेद तथा ऋग्वेद की ऋचाओ से ज्ञात होता है। व्यवस्थित सवाद तथा गीतो की प्रथा इस युग मे पूर्ण विकास को पहुँच चुकी थी। यही ऐसा समय था जव कि समाज मे वर्णव्यवस्था के अकुर लगने प्रारभ हो गये थे तथा सामाजिक भावना से ओतप्रोत होकर मनुष्य अपने जीवन को सजाने-सँवारने लगा था।

मनुष्य के जीवन मे उस समय भाषा का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ढग से प्रतिष्ठापन होगया था। नृत्यो मे प्रयुक्त होनेवाले गीतो मे भी भाषा की दृष्टि से निखार आया और नृत्य की भावभगिमाएँ भी परिस्फुटित होने लगी। समाज के विकास के साथ ही मनुष्य की बुद्धि प्रखर होने लगी तथा भावो का परिष्करण होने लगा। उसके जीवन के प्रत्येक पक्ष, रहनसहन, खानपान, निवास, पारस्परिक संवध तथा सामाजिक आदानप्रदान मे प्रौढता आने लगी। मनुष्य अपने सजाव श्रृगार की तरफ भी अधिक ध्यान देने लगा। जीवन के आनन्द के लिए भी वैदिककालीन 'समज्जा' आदि सास्कृतिक मेलो का आयोजन होने लगा, जिनमे स्त्री पुरुष मिलते, नाचते, गाते और वैवाहिक सम्वन्धो मे जुड जाते थे। उनके पारस्परिक आकर्षण के लिए इन नृत्यो मे नानाप्रकार की सजाव-श्रृगार की प्रवृत्ति जाग उठी। उनके हृदय मे हर्ष और उल्लास था, अपने आपको सजाने-सँवारने मे एक प्रकार से होड सी लगी हुई थी। उसी उन्माद और उल्लास के वातावरण मे शरदोत्सव, बसन्तोत्सव, ग्रीष्मोत्सव तथा पावसोत्सव मनाने की चेष्टा जागृत हुई। प्रकृति भी उनके उल्लास मे साथ देती थी। मानव भी मलय-समीर से आह्लादित होता था, कोयल के मधुर कठ के साथ अपना सुर मिलाता था, दामिनि-दमक और मेघ-गर्जन पर किलोलें करने लगता था, तथा वसत की वहार मे स्वय मुखरित होता था। ऐसे ही समय मेले, सास्कृतिक पर्व तथा समज्जाओ के लिये उपयुक्त वातावरण उपस्थित होता था और मनुष्य प्राकृतिक सौन्दर्य के साथ अपने सौन्दर्य की होड लगाता था। इसी मादक उन्माद मे वह नाचता गाता था, स्वत ही उसकी भावभगिमाएँ मुखर उठती थी और नानाप्रकार के भाव विभावो को जन्म देती थी। नृत्य अव केवल आगिक सौन्दर्य का ही माध्यम नही रहा, वह मनुष्य की भावाभिव्यक्ति का भी प्रवल माध्यम वन गया। केवल उछलकूद और पदसचालन मात्र से उद्भासित हुआ नृत्य आगिक उभार तथा नानाप्रकार की अगभगिमाओ मे विकसित हुआ, तदुपरान्त चेहरे की

भाव-मुद्राओ मे अद्वितीय उभार आया। इस तरह नृत्य के सर्वाङ्गीण स्वरूप के अकुर परिस्फुटित होने लगे।

इन भाव-मुद्राओ मे जो सर्वाधिक प्रकट होनेवाली मुद्रा परिस्फुटित हुई, वह स्त्री को पुरुष की ओर तथा पुरुष को स्त्री की ओर आकर्षित करनेवाली भाव-मुद्रा थी। स्त्रियों के नृत्य लास्यप्रधान थे और पुरुषो के नृत्य शौर्य और वीरत्वप्रधान। इस प्रकार ये नृत्य साज, सज्जा, शृगार, आगिक तथा सात्विक मुद्राओ की दृष्टि से सपन्नता तथा वैविध्य को प्राप्त करने लगे। इनके साथ नाना प्रकार के भावमय गीतो तथा मधुर स्वर-लहरियो के सम्मिश्रण से ये गीत-नृत्य समाज की सास्कृतिक एव रागात्मक चेष्टाओ के महान् प्रतीक बन गये।

नृत्यो के विकास के इसी स्तर पर ही गीतिनाट्यों की परम्परा परिस्फुटित हुई, जिसमे स्त्री-पुरुष पारस्परिक गीत-सवादो मे प्रवृत्त होते थे। स्त्रियाँ गीतो मे प्रश्न करती थी और पुरुष उनका गीतो ही मे जवाब देते थे। ये गीतिनाट्य बहुधा शृगारिक पृष्ठभूमि पर ही आधारित रहते थे। इन गीत-सवादो मे यद्यपि गीतो की ही प्रधानता रहती थी, परन्तु नृत्यमुद्राएँ भी विविध अनौपचारिक अगभगिमाओं मे परिस्फुटित होती थी। मानवीय विकास के सैकड़ो वर्ष तक इसी तरह नृत्य, गीत आदि विकसित होते रहे और उनके नाना रूप जैसे सास्कारिकनृत्य, पूजानृत्य, भावनृत्य, उल्लासनृत्य, फसलनृत्य, विवाहनृत्य, वसतनृत्य, वर्षाग्मनृत्य तथा अनेक मागलिक प्रसगो के नृत्यो के रूप मे मानवजीवन को परिस्फुटित करते रहे। इनके साथ सहस्रो गीतो की सृष्टि हुई, नाना प्रकार की धुनो ने जन्म लिया तथा सार्वजनिक लोक-साहित्य के सृजन में एक शक्तिशाली परम्परा प्रतिष्ठापित हुई।

शास्त्रीय नृत्य का प्रादुर्भाव

लोकसगीत की तरह ही शास्त्रीय नृत्य का प्रादुर्भाव भी लोकनृत्य से ही हुआ। जिस तरह लोकसगीत की मूल स्वर-रचनाओ से राग-रागिनियो की प्रेरणा लेकर कुछ आचार्यों ने शास्त्रीय सगीत की सृष्टि की, उसी तरह लोकनृत्यो की मूल आगिक मुद्राओ तथा भावमुद्राओ से प्रेरणा लेकर कुछ आचार्यों ने शास्त्रीय नृत्य को जन्म दिया। शास्त्रीय नृत्य लोकनृत्य के विकसित रूप की तरह सम्मुख नही आया और न लोकनृत्य ही उसका अविकसित रूप बना। दोनो ने ही अपनी पृथक्-पृथक् दिशाएँ ग्रहण की। शास्त्रीय नृत्य ने अपनी प्रेरणाएँ लोकनृत्यो से प्राप्त करके अपना विकास-क्षेत्र अलग ही बनाया,

परन्तु लोकनृत्य का विकसित स्वरूप बनने का दंभ उसने कभी नही भरा। इस विशिष्ट लोकशैली के नृत्य को स्थान, समय तथा स्थिति के अनुसार शास्त्रकारो ने अनेक नियमों-उपनियमो से बाध दिया। पद-सचालन की अनेक कठिन कल्पनाएँ इसमे साकार हुई। अगभंगिमाओं तथा मुखाकृतियों मे अभिव्यक्त नाना प्रकार की भावमुद्राओं का एक अत्यन्त उलझा हुआ स्वरूप सामने आया। इन्ही नाना प्रकार की विधाओ को लेकर शास्त्रकारों ने अनेक शास्त्र लिख डाले, जिनमे भरतमुनिकृत भरतनाट्य शास्त्र सर्वोपरि है। इसमे नृत्य तथा नाट्य के नाना स्वरूपो का निरूपण हुआ है।

नृत्य के साथ जुडे हुए इस विषद शास्त्र के पीछे लोकनृत्य ही की प्रेरणा स्पष्ट परिलक्षित होती है। वह सामाजिक घरोहर के रूप मे विकसित हुआ है। लोकगीतो की तरह ही एक अत्यन्त परिपुष्ट परंपरा के रूप मे उसका एक अलिखित शास्त्र है, जो समाज के बौद्धिक तथा भावात्मक स्तर के अनुरूप ही अविकसित, विकसित, अतिविकसित तथा अतिसंस्कृत लोकनृत्यो की परम्परा के रूप मे आज भी जीवित है। जबतक मनुष्य का भावात्मक एव लौकिक पक्ष अक्षुण्ण बना रहेगा तबतक लोकनृत्यों का यह विकासक्रम भी निश्चित परम्पराओ मे बँधता चला जावेगा। शास्त्रीय नृत्य विशिष्ट कला-आचार्यों की उपज है तथा समाज के विशिष्ट बौद्धिक स्तर पर निर्भर रहता है। स्थान, समय तथा प्रयोक्ताओं की विशिष्ट कल्पनाओ के साथ उसका विकास जुडा रहता है। भारतीय लोकनृत्य जिस तरह सामाजिक भावना, सामुदायिक आनन्द तथा सास्कृतिक प्रसगो से जुडे रहते हैं तथा जिस तरह उन पर समष्टिगत अभिव्यक्ति की छाप अकित रहती है, ठीक विपरीत उसके शास्त्रीय नृत्य वैयक्तिक आधार पर सृजित तथा विकसित होते हैं। व्यक्ति ही उसे चरम सीमा तक पहुँचाता है तथा उसकी प्रतिभा का ही उसमे अंकन होता है। शास्त्रीय नृत्य शास्त्रोक्त नियमो के अनुसार रचे जाते हैं, जबकि लोकनृत्य स्वनिर्मित होते हैं तथा सामूहिक भावनाओ के अनुरूप ही उनका रूप निर्धारित होता है।

शास्त्रीय नृत्य की मुद्राओं का प्रेरक लोकनृत्य

जिस तरह शास्त्रीय सगीत की रागों का उद्गमस्थल लोकसगीत है, उसी तरह शास्त्रीय नृत्य की समस्त परम्पराएँ लोकनृत्यो से प्राप्त हुई हैं। लोकनृत्य जब सामाजिक पृष्ठभूमि मे व्यवहृत होते हैं तो अनेक मुद्राएँ स्वभाव से ही नर्तक के अग मे समा जाती हैं। हर्ष, उल्लास, कारुण्य, उत्साह, वीरत्व तथा शौर्य के भाव चेहरे पर व्यक्त होते हैं, उनके साथ ही ग्रीवा, स्कध, कटि,

जंघा आदि की विशिष्ट मुद्राएँ नर्तकों के अग-प्रत्यग में प्रकट होती हैं, जो किसी विशिष्ट भावभूमि के प्रसंग ही मे जन्म लेती हैं। ये मुद्राएँ धीरे-धीरे परिष्कृत होती रहती हैं, जिनकी जानकारी नर्तको को नहीं होती। इनमे से अधिकाश मुद्राएँ लय, ताल, स्वर के क्रम से भावोद्रेक के विशिष्ट क्षणो मे बनती हैं और अगभगिमाओ के माध्यम से नृत्य को सौन्दर्य प्रदान करती हैं। लोकनृत्यो के सदर्भ मे इन मुद्राओं का तात्पर्य केवल नृत्य को सुन्दर बनाना है और उनकी सामाजिक भूमिका मे व्यक्ति के कलात्मक उत्कर्ष को दर्शाना है। ये मुद्राएँ नाचते समय हाथ के विविध कलात्मक मोड-तोड मे, ग्रीवा के लय-बद्ध सचालन मे तथा नयनो के विविध भावात्मक कटाक्षो मे अन्तर्हित रहती हैं। ये मुद्राएँ जब स्त्री-पुरुष के सम्मिलित नृत्य मे विविध भावात्मक स्थितियो के कारण प्रोत्साहित होती हैं तब इनके सौन्दर्य का चरमोत्कर्ष देखने को मिलता है। नाचते समय स्त्री-पुरुष के पारस्परिक स्पर्श से वह नृत्य उद्दीप्त होता है, तथा इनके विविध जोड-तोड़ तथा मरोडो में निखार आता है। यही बात क्रिया-समन्वित नृत्यों मे परिलक्षित होती है।

नृत्यनाट्यो मे ये मुद्राएँ अपने विकसित रूप मे परिलक्षित होती हैं। गीत-सवादो को व्यक्त करते समय अभिनेता के अग-प्रत्यग अनायास ही सवादो के अर्थों के साथ चलने लगते हैं। एक ही प्रसग की अभिव्यक्ति मे नाना प्रकार के पात्र इन अनियोजित तथा तात्कालिक भावोद्रेक की मुद्राओ का प्रयोग करते हैं। अत एक ही मुद्रा के अनेक रूप देखने को मिलते हैं। ये मुद्राएँ धीरे-धीरे निरतर प्रयोग से परिष्कृत होती जाती हैं। साधारण जीवन मे भी किसी को बुलाने, बिठाने, खिलाने, रुलाने, हँसाने, सुलाने, नचाने, गवाने तथा स्वागत-सत्कार, पूजापाठ करने आदि मे स्वभावगत ही विविध मुद्राओ का प्रयोग होता है। वे भी निरतर अभ्यास से धीरे-धीरे स्पष्ट होती जाती हैं। जो मुद्राएँ काफी लम्बे समय से इस तरह व्यवहार मे आती हैं, वे ही एक तरह से नृत्यकारो के लिए परम्परा बन जाती हैं और जब शास्त्रीय नृत्य लोकनृत्य से प्रेरणा प्राप्त करता है तो सर्वप्रथम ये ही मुद्राएँ उसे सर्वाधिक प्रभावित करती हैं। शास्त्रकारो ने लोकनृत्यो की इन्ही स्वाभाविक हस्तमुद्राओ तथा अग-संचालन के विविध प्रकारो को अपनी आधारशिला बनाकर अनेक नवीन मुद्राओं का सृजन किया है। ये ही मुद्राएँ बाद मे शास्त्रीय नृत्यों की रीढ बन गई हैं। नृत्यो की ये लोकमुद्राएँ कुछ शास्त्रीय नृत्यो मे तो लोकपक्ष से बहुत ही दूर हो गई हैं और कुछ मे ये अपने लोकपक्ष को काफी अश मे बनाये हुए हैं। ऐसे नृत्यो मे मणिपुर का मणिपुरी नृत्य विशेष उल्लेखनीय है। यह नृत्य

शास्त्रीय नृत्य मे शुमार होते हुए भी लोकनृत्यों के सभी सामाजिक गुणों से युक्त है। विकास की चरम सीमा तक पहुँचे हुए भरतनाट्यम, कथकली और कत्थक जैसे शास्त्रीय नृत्य इतने अधिक शास्त्रीय बन गये और इनका तालतन्त्र इतना जटिल बन गया कि इन्होंने अपना लोकपक्ष प्रायः खो ही दिया है। वे इतने क्लिष्ट बन गये कि स्वयं इनके प्रयोक्ता भी इनके महत्त्व को नही समझते। ये नृत्य न केवल अपने सामुदायिक तथा सामाजिक लोकधर्म को भूल गये वरन् इनका व्यवहारक्षेत्र भी कुछ ही पंडितों, कलाविदों तथा विशेषज्ञों तक सीमित हो गया। उन पर अनेक शास्त्र भी रचे गये, जिनका क्रम ईसा पूर्व ५०० वर्ष से शुरू होकर आज भी चल रहा है। लोकनृत्य के कुछ विशिष्ट अगो को पूर्णत शास्त्र की पकड मे आने से पूर्व उन्हें एक मध्य की स्थिति के बीच और गुज़रना पडता है और वह है व्यवसायिक लोकनृत्यकारो की पकड। लोक-नृत्यो से ही उपजी हुई यह व्यवसायिक लोकनृत्य की विशिष्ट श्रेणी उन नृत्यों के साथ विशेष रूप से लागू होती है, जो अपने चमत्कारिक एवं अतिशय कलात्मक गुणो के कारण कुछ पेशेवर जातियों की धरोहर बन जाती है और कुछ अश मे शास्त्रीय नृत्यों की तरह ही व्यवहार करने लगती है। ये विशिष्ट जातियाँ इनका विशेष रूप से परिष्कार करती हैं, तथा उन्हें अत्यधिक चमत्का-रिक और प्रभावशाली बनाने की कोशिश करती हैं, उन्हें अपने सामुदायिक दायरे से निकालकर अपने परिवार की परिधि में डाल देती हैं। ये नृत्य उनकी आजीविका उपार्जन के प्रमुख साधन बन जाते हैं। उनमे लोकनृत्यो के गुण विद्यमान होते हुए भी वे अतिशय चमत्कारिक बन गये हैं और उनका सामुदायिक पक्ष भी दुर्बल पड़ गया है। ये ही नृत्य शास्त्रकारो की निगाह मे आकर शास्त्रीय स्वरूप धारण करने लगते हैं।

गीतो की अपेक्षा लोकनृत्यों की न्यूनतम रचना

गीत की उद्भावना व्यक्ति से होती है, समष्टि से नही। उद्भवोपरान्त अपने सामाजिक तथा सर्वमान्य गुणो के कारण वह समष्टि का रूप धारण करता है। परन्तु लोकनृत्य किसी व्यक्तिविशेष की उपज नही होता। उसका प्रारम्भ ही समष्टि से होता है। किसी व्यक्ति के आनन्द-उल्लास के समय जो अगभगिमाओ की उछलकूद होती है, वह इतनी निजी और वैयक्तिक होती है कि उसका समष्टिगत प्रदर्शन सकोच और लाज के कारण असंभव ही होता है। वह उछलकूद उसके लिए क्षणिक आनन्द की ही अनुभूति होती है, जो किसी आवेग या भावावेश ही का परिणाम होती है। गीतो की प्रारंभिक

गुनगुनाहट की तरह वह उसके लिए स्थायी आनन्द का विषय नही बनती। वह आवेग के कारण जहाँ प्रकट होती है वहाँ खत्म भी हो जाती है। वह उसकी स्थायी भावनाओ का अवलवन नही पकडती है, परन्तु उसकी प्रथम उद्भासित गुनगुनाहट उसमे स्थिर आनन्द के अकुर उगाती है, उसके अतराल के कण-कण मे समाकर आनन्द का सचार करती है और उपयुक्त शब्दो के गठबधन से मूर्तगीत का स्वरूप ग्रहण करती है, परन्तु आनन्दोद्रेक की वैयक्तिक उछलकूद एकदम क्षणिक और तात्कालिक होती है। उसका सम्बन्ध व्यक्ति के स्थायी भावो से बिल्कुल नही होता और कभी भी वह गौरव और आनन्द का अनुभव नही करता। अतः उसका सामाजिक सपत्ति बनने का प्रश्न ही नही उठता। वास्तव मे समष्टि की सगति से तथा समष्टिगत आनन्द के क्षणो मे ऐसी अंगभगिमाओ की उद्भावनाएँ होती हैं, जो अनुकूल वातावरण एव प्रेरणामूलक क्षणो मे उद्दीप्त होकर नाना प्रकार के स्वरूप सौंदर्य की सृष्टि करती है। जब कही बादल गरज रहे हो, बिजली चमक रही हो, कोयल, मोर आदि अपने मधुर स्वरो से सृष्टि को आह्लादित कर रहे हो, ढोल, नक्काड़े तथा विविध साजो का निनाद हो रहा हो, लोकगीतो से समस्त वातावरण आनन्दित हो रहा हो, तब कभी-कभी समष्टिगत आल्हाद उमड़ पडता है और गतिशील हो जाता है। अनायास ही पाँवो मे थिरकन होने लगती है और मनुष्य अनियोजित ढग से नाच पडते हैं। उनके पदो मे नई-नई कल्पनाएँ जागृत होती हैं, और अग-प्रत्यग मे नवीन भगिमाएँ थिरक उठती हैं, जो धीरे-धीरे नृत्य का रूप धारण कर लेती हैं। ऐसे अनुभव अनेक बार होते हैं, असख्य कल्पनाएँ भी जागती हैं, परतु अधिकाश जन्म के साथ मृत्यु को प्राप्त करती हैं। उनमे से कुछ ही कल्पनाएँ सामाजिक धरोहर बनकर परम्पराओ का रूप धारण करती हैं और किसी सास्कृतिक पर्व तथा धार्मिक अनुष्ठान के साथ सस्कारवत् बँधकर अमरत्व प्राप्त करती हैं।

यही कारण है कि लोकनृत्यो की सख्या सस्कारवत् होने के कारण अत्यन्त अल्प होती है। वे कुछ विशिष्ट मर्यादाओ मे बध जाते हैं, तथा उनका स्वतन्त्र उपयोग एक प्रकार से असामयिक क्रिया बन जाती है। यही कारण है कि ये लोकनृत्य धार्मिक अनुष्ठानो तथा सास्कृतिक पर्वों को पकड लेते हैं और उन्ही के साथ ऐसे जुड जाते हैं कि उनका विलगाव अत्यन्त अवाछित समझा जाता है। कुछ नृत्य विशुद्ध आनन्द-उल्लास के क्षणो के साथ भी जुड़ जाते हैं, परन्तु वे भी मन की मौज के साथ जुडकर दैनिक संस्कारों का दामन पकड लेते हैं। वे इतने टकसाली हो जाते हैं और उनके साथ परपराएँ इस

तरह जुड जाती हैं कि वरसो तक नवीन रचनाओ की गुंजाइश नही रहती। इनकी आयु भी अत्यधिक लम्बी होती है। कुछ नृत्य तो सैंकडो वर्ष पुराने पड़ जाते हैं और पुश्तो से सामाजिक धरोहर वने रहते हैं। विपरीत इसके लोक-गीत सैंकड़ो की सख्या मे वनते हैं, क्योकि उनका रचना-विन्दु व्यक्ति होता है और वाद मे सामाजिक प्रतिभा का उन पर पुट चढता है। इनमे से अनेक गीत असफल होकर गिर पडते हैं और कुछ सामाजिक प्रतिभा को पकडकर समष्टि का दामन पकड़ लेते हैं। यही कारण है कि लोकगीतो की सख्या अनगिनत होती है और लोकनृत्य उंगलियो पर गिने जा सकते हैं। लोकगीत भी लोकनृत्यो की तरह सस्कारवत् पर्वो और धार्मिक अनुष्ठानो के साथ जुड जाते हैं, परन्तु अनगिनत गीत ऐसे भी हैं, जो सामाजिक पृष्ठभूमि पर रहते हुए भी हजारो व्यक्तियो के कठो के हार वने रहते हैं, जो किसी विधि-विधान के साथ न जुडकर वैयक्तिक आनन्द, उल्लास तथा पारिवारिक जीवन के विविध प्रसगो के साथ जुड जाते हैं तथा हजारो लोग उन्हे स्वतत्र रूप से गाते हैं तथा अपने जीवन का शृ गार वनाते हैं। लोकनृत्यो की तरह उनका प्रसार-क्षेत्र सीमित नही होता। उनका संचार सर्वक्षेत्रीय तथा सर्वजातीय होता है। वे उन्मुक्त जल-प्रपात की तरह वहते रहते हैं।

लोकनृत्यो के प्रसार तथा प्रयोगक्षेत्र की सीमाओ के कुछ कारण और हैं। लोकगीत प्रधानत. भावनाप्रधान होते हैं। मनुष्य के अतराल से उद्भासित भावभीने स्वर तुरन्त ही हृदय को स्पर्श करते हैं। उनके साथ उपयुक्त गीतो का शब्द-सयोग सोने मे सुहागे का काम करता है। भावनाप्रधान व्यक्ति इनको तुरन्त पकड लेते हैं और अपने मे आत्मसात् कर लेते हैं। गीत प्रधानत. श्रव्य गुण सम्पन्न होता है और नृत्यो मे दृश्य गुणो की प्रधानता रहती है। नृत्य नयनाभिराम होते हुए भी स्वरो की मर्मस्पर्शिता को नहीं पहुँच सकते। श्रोता पर पडे हुए किसी मर्मस्पर्शी गीत का प्रभाव तुरन्त उसके व्यवहार मे आ जाता है। वह श्रोता के कठ पर विराजकर उसके हृदय का हार वन जाता है; परन्तु नृत्य प्रभावशाली होते हुए भी दर्शक के व्यवहार मे इतनी आसानी से नही आता और गीत की तरह उसके जीवन-व्यवहार का अग नही वनता। नृत्य-दर्शक केवल सराहक वनते हैं, विरले ही उसे व्यवहार मे लाने मे समर्थ होते हैं। किसी भी वैयक्तिक दायरे मे फिरनेवाला कोई भी सशक्त गीत किसी भी भावनाप्रधान श्रोता को आह्लादित करके उसके व्यवहार मे इसलिये भी उतर जाता है, क्योकि गीत-रचयिता की दृष्टि से समष्टिगत होते हुए वह व्यक्तिगत व्यवहार के लिए भी पूर्णरूपेण योग्य होता है, परन्तु नृत्य प्रारम्भ

से ही रचना और व्यवहार की दृष्टि से समष्टिगत होने के कारण वैयक्तिक व्यवहार मे इसलिये नही आता, क्योकि व्यक्ति अकेला कुछ भी नही कर सकता। सामूहिक नृत्य वैयक्तिक बन नही सकता तथा व्यक्ति का प्रेरणा-स्रोत नही हो सकता।

जिस तरह लोकगीत एक कठ से दूसरे कठ पर चढकर सहस्रो कठो पर चढ़ जाते हैं, उसी तरह लोकनृत्य एक पद से दूसरे पद पर और फिर अनेक पदो पर नही चढते, क्योकि नृत्य के व्यवहार मे समष्टि तथा समूह की अवस्थिति आवश्यक है। अनेक कठो पर चढकर लोकगीत अपना पुष्ट स्वरूप प्राप्त करते हैं, परन्तु व्यवहार मे पुन वैयक्तिक कठ पर आ जाते हैं। परन्तु लोकनृत्य प्रारम्भ से ही समूह से घिरे रहते हैं और समूह मे ही सचरित होते हैं। लोकगीत व्यक्ति से सचरित होकर समूह की ओर प्रवृत्त होते हैं और पुन. व्यक्ति का सहारा पकड़ लेते हैं। लोकनृत्य समूह मे ही सचरित समूह मे ही व्यवहृत होते हैं और सामाजिक व्यवहार से ही परिपुष्ट होते हैं। लोकगीतो की तरह वे निरंतर समाज के अन्तराल मे परिस्फुटित होकर उत्कर्ष प्राप्त नही करते। वे तो व्यवहार के समय ही प्रयोक्ताओ तथा दर्शको को प्रेरित करते हैं। उसके बाद उनकी क्रियाएँ अशक्त होकर बैठ जाती हैं और प्रयोक्ताओ के अतराल मे गीतों की तरह सोते, जागते, बैठते वे विकासक्रम को प्राप्त नही करते। उनका विकास पुन. सामूहिक व्यवहार मे आने पर ही होता है। इस तरह जब सामूहिक व्यवहार के अनेक अवसर आते हैं तब नृत्य मे प्रौढता आती है और अनेक वर्षों के व्यवहार के उपरात वह टकसाली बनकर लोकनृत्य का दर्जा प्राप्त करता है।

लोकनृत्य स्थिति, समय तथा सामूहिक गठन की मर्यादाओ मे रहने के कारण लोकजीवन मे गीत की तरह घर-घर व्यापी नही बनता। वह लोकधर्मी होकर भी लोकधर्म को गीत की तरह नहीं निभाता। वह लोकधर्मी इसलिये है क्योकि उसका सामूहिक स्वरूप होता है तथा सामाजिक आनद, उल्लास और सस्कारो की गहरी छाप उस पर रहती है। इन कठिन मर्यादाओ के कारण ही वह लोकगीत की सामाजिक शक्ति तथा व्यापकता को प्राप्त नही कर सका। लोकनृत्य अधिक अनुष्ठानिक एवं सस्कार सगत हो जाने से दीर्घजीवी है। वह यदि किसी गृहस्थ या व्यक्तिविशेष से जुड जाता तो उसका नाम निशान भी नही रहता।

लोकनृत्य की प्रकृति तथा स्वभाव

लोकनृत्यो की प्रकृति तथा स्वभाव की विवेचना करते समय हम यह

मानकर चलते हैं कि वे केवल ग्राम्य वातावरण मे ही सृजित और विकसित नही होते, वरन् उनके लिए उन्मुक्त वातावरण गांवो से वाहर भी हो सकता है। हम यह मान सकते हैं कि लोकनृत्यो के विकास और स्वस्थ सचार के लिये गांवो का वातावरण अधिक अनुकूल होता है और उनके अनुरूप ही लोकनृत्यो के स्वरूप और प्रकृति मे भी अतर पड जाता है, परन्तु हम यह वात नही मानते कि गांवो के जो नृत्य हैं वे ही लोकनृत्य हैं, शहरो के नही। आज तो यह भेद और भी कम हो गया है, जवकि गांव और शहर एक दूसरे के निकट आ रहे हैं।

लोकनृत्यो की विशेषताएँ

(१) लोकनृत्य सरल, सर्वगम्य और सर्वसुलभ होते हैं। सरल इस अर्थ मे कि उन्हें सीखने समझने और प्रदर्शित करने मे सरलता रहती है। ये तीनो ही गुण न केवल लोकनृत्यो के सामाजिक और सामुदायिक रूप मे विद्यमान हैं, वरन् उनके व्यवसायी रूप मे भी उनका समावेश होता है। उनकी सरलता, सर्वगम्यता और सर्वसुलभता की कसौटी यही है कि वे कही किसी के द्वारा सिखाये नही जाते। उन्हे समझने और सुधारने के लिए किसी विशेष प्रशिक्षण की आवश्यकता नही होती। अपने पूर्व संस्कारो तथा अनुकूल वातावरण के कारण ही वालक उन्हें वचपन से ही सीख जाते हैं। स्त्रियाँ विवाह-समारोह आदि पर जो नाचती, गाती है, उसकी शिक्षा कही किसी से नही लेनी पडती। यही वात उन नृत्यो के लिए भी प्रयुक्त होती है, जो व्यवसायिक लोकनृत्य-कारो द्वारा ही नाचे जाते हैं। यद्यपि ये नृत्य अपेक्षाकृत कठिन हैं उनकी ताल, लय तया अगभगिमाओ मे पर्याप्त मात्रा मे तत्र और कौशल है, फिर भी उनकी सरलता और सर्वसुलभता के गुण कम नही हुए हैं। व्यवसायिक लोकनृत्यकारो के घरानो मे किसी प्रकार के प्रशिक्षण की आवश्यकता नही होती। जन्म से ही वच्चे अपनी परम्परागत कला को सस्कारवत् सीख जाते हैं।

(२) लोकनृत्यो मे अप्रयत्नशील सरलता होती है। जव लोग नाचते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि ताल, लय और अगभगिमाएँ एकरस होकर अवतरित हुई हैं। नृत्यकारो के अग मे ये सव स्वभावगत ही शुमार होती हैं। शास्त्रीय नृत्य की तरह उनमे गिनतियाँ नही गिननी पडती, खाली भरी का खयाल नही रखना पडता तथा ताल मे सम पर आने के लिए नाचनेवाले का पसीना नही उतरता। लोकनृत्यो मे ऐसा लगता है कि ताल और लय स्वय

नृत्यकार की चेरी बनकर पीछे-पीछे चलती है। नृत्यकार को ताल, लय के पीछे नही चलना पडता। नाचनेवाले को कदम से कदम नही मिलाना पड़ता। हाथ, पांव, कधा, ग्रीवा आदि की भगिमाओ की एकरूपता के लिए कलाकारो को एक दूसरे की क्रियाओ को देखकर अनुकरण नही करना पडता। ऐसा लगता है कि लोकनृत्यो मे ताल, लय तथा अगभगिमाओ का सृजन स्वय मे ही होता है।

(३) लोकनृत्य स्व-सर्जित होते हैं। जिस तरह लोकगीत बनाये नही जाते, अपने आप बनते हैं, उसी तरह लोकनृत्य किसी के द्वारा बनाये नही जाते, वे अपने आप बनते हैं। लोकनृत्यो पर किसी व्यक्ति तथा विशिष्ट सृजनकर्ता की छाप नही होती, उन पर किसी व्यक्तिविशेष का व्यक्तित्व अकित नही होता, सारे समाज द्वारा ही वे बनाये जाते हैं, सारे समाज के व्यक्तित्व की छाप उन पर अकित होती है; यही कारण है कि लोकनृत्य सर्वगम्य, सर्वसुलभ और सर्व-ग्राह्य होते हैं। यदि एक ही व्यक्तित्व की उस पर छाप हो तो दूसरे व्यक्ति उसे अनिवार्य रूप से क्यो पसद करें? उस पर कई व्यक्तित्वो की छाप है, इसलिये उसमे व्यक्तिगत दोष की मात्रा अत्यत न्यून सी रह जाती है। वह सर्वग्राह्य और सबकी संपत्ति भी इसीलिये है कि वह किसी एक व्यक्ति की धरोहर नही, उस पर सबका अधिकार है, समस्त समाज ही उसका सृजनहार है।

(४) लोकनृत्यो मे जन-जीवन की परम्परा, उसके सस्कार तथा जनता का आध्यात्मिक विश्वास निहित होता है। यही कारण है कि लोकनृत्यो की आयु लम्बी तथा उद्गमकाल अत्यन्त प्राचीन होता है। जिस तरह कोई व्यक्तिविशेष जन-जीवन मे देवता का रूप तभी ले सकता है, जबकि उसके कार्य लम्बे समय तक, उसकी मृत्यु के सैंकडो वर्ष बाद भी जन-जीवन को प्रभावित करते रहें। राजस्थान के गोगा चौहान तथा पाबूजी राठोड़ सैंकडो वर्षों के बाद देवता बने। उनके पीछे सस्कार, सद्भावना तथा सत्कर्मों के प्रति विश्वास की लम्बी परम्परा है। लोकनृत्यो के लिए भी यही बात लागू है। वही लोकनृत्य जन-जीवन मे लोकनृत्य के रूप मे प्रतिष्ठित होता है, जिसने काल, स्थान और परिस्थितियो की अनेक गतिविधियो को देखा, प्रभावित किया और जन-जीवन को लम्बे समय तक उल्लसित किया है। वही लोकनृत्य आज जनता के जीवन मे धार्मिक विश्वास की तरह प्रतिष्ठित हुआ है। इसीलिये लोकनृत्य जनता के जीवन को उन्नत, विकसित और स्वस्थ बनानेवाले सिद्ध हुए हैं। उनके पीछे कोई सामाजिक बन्धन (Social Taboos) नही होते, न उनके साथ नव-निर्मित नृत्यो की तरह कोई हीनता की भावना जुडी रहती है।

(५) लोकनृत्यो के वैविध्य मे भी साधारणत. एकरूपता होती है। लोकनृत्यो मे अनेक लोकनृत्य ऐसे हैं, जिनमे अगभगिमाओ तथा चालो की विविधता है। उनकी खूबी इसी मे होती है कि सभी कलाकार एक ही ताल और एक ही नृत्यविशेष की सीमा मे रहते हुए भी विविध दिशाओ मे फिरते है तथा विविध अगभगिमाएँ सृजित करते हैं। एक ही नृत्य रचना-विधि (Choreography) की मर्यादा मे रहते हुए भी यह विविधता इन नृत्यो की विशेषता है। उनका पूरा और सम्यक् प्रभाव एकरसमय और एकरूपमय होता है।

(६) लगभग सभी लोकनृत्य सामूहिक होते हैं। उनमे वैयक्तिक-नृत्य की कल्पना आधुनिक है। ये व्यक्तिगत आनन्द, व्यक्तिगत लाभ, व्यक्तिगत प्रतिष्ठा और व्यक्तिगत भावना से रहित होते हैं। सामुदायिक, सामाजिक या नागरिक भावना से वे ओतप्रोत होते हैं। व्यवसायिक लोकनृत्यकार भले ही आर्थिक लाभ के कारण नृत्यो का आयोजन अपने यजमानो के यहाँ करते हो, परन्तु उनके पीछे भी सामुदायिक भावना का ही प्राधान्य है। किसी जाति-विशेष या समुदाय विशेष को मनोरजन प्रदान करना उनका जातिगत कर्तव्य है, जो भले ही आज की बदली हुई सामाजिक व्यवस्था मे दोषपूर्ण समझा जाता हो, परन्तु उनका प्रारम सामुदायिक भावना से ही हुआ। उन्हे पारिश्रमिक के रूप मे जो भी धन उपलब्ध होता है, वह उनकी आजीविका की दृष्टि से ही समाज ने नियत किया है।

लगभग सभी लोकनृत्य वैयक्तिक भावनाओ से ऊपर होते हैं, तभी उनको जनजीवन मे इतनी प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है तथा वे समाज के सामाजिक, सामुदायिक और धार्मिक कर्तव्यो मे शुमार हो गये हैं। हमारे पर्व, समारोह, त्योहार तथा सस्कारो पर कोई लोकनृत्य नही हो तो वे अशुभ माने जाते हैं। इन नृत्यों मे जहाँ सामुदायिक और सामाजिक भावना प्रमुख है, वहाँ आनन्द की भावना भी सर्वोपरि रहती है। आत्मानन्द और सामाजिक कर्तव्य का इतना सुन्दर, स्वस्थ और उपयोगी समन्वय लोकनृत्यो के अलावा अन्यत्र कही भी नही मिल सकता।

(७) लोकनृत्य शास्त्रीय नृत्यो की तरह शास्त्रीय नियमो के बधनो और सीमाओ से परे होते हैं। इसका यह अर्थ नही कि लोकनृत्य शास्त्रोक्त नियमो और मर्यादाओ से हीन होने से अत्यन्त प्राथमिक या अपरिपक्व होते हैं। यह भी समझना गलत है कि लोकनृत्य, आदिनृत्य होने के कारण अत्यन्त प्रारभिक होते हैं। लोकनृत्यो के आधार पर ही शास्त्रीय नृत्य विकसित हुए हैं, परन्तु

यह समझना भी बिल्कुल ग़लत है कि नृत्यो की चरम विकसित सीढ़ी शास्त्रीय नृत्य है और उसकी सबसे निम्न सीढ़ी लोकनृत्य है। जिस तरह कुछ विशिष्ट आचार्यों और विशेषज्ञो ने अपने पाडित्य प्रदर्शन के लिए लोकनृत्यो पर शास्त्रोक्त नृत्यो के भवन बनाये और शास्त्र की विविध कलमो मे उन्हे बाँधा, उसी तरह समाज ने और सामाजिक भावनाओ ने प्रारभिक लोकनृत्यो को भी विकास की ऊँची सीढी तक पहुँचाया। जिस तरह एक गुलाब के तने से कई प्रकार के गुलाबो के प्रकार विकसित किये जाते हैं, उसी तरह लोकनृत्यो को आधार मानकर कई प्रकार के सास्कृतिक नृत्यो का प्रादुर्भाव होता है। शास्त्रीय नृत्य उसका एक प्रकार है तो लोकनृत्य उसका दूसरा प्रकार।

किसी शास्त्रीय नृत्य मे जितनी सस्कारिता, प्रभावोत्पादकता, कला, आनन्दप्रदायिनी शक्ति, रचना-कौशल तथा उच्चस्तरीय गुण हो सकते हैं, उतने ही गुण लोकनृत्यो मे भी हो सकते हैं। सौराष्ट्र का रासगरबा, राजस्थानी घूमर, भवाई नृत्य, गरासियो की वालर, भीलो का घूमरा तथा मणिपुर का लौहारवा नृत्य मे जो आनन्ददायिनी शक्ति तथा रचनाविधि के गुण हैं वे किसी भी शास्त्रीय नृत्य से कम नहीं हैं। किसी नृत्य मे नियमो की अधिकता, बाह्याडबर तथा चमकदमक होने से ही उसकी सुन्दरता बढती है, ऐसी बात नही है। लोकनृत्य अपनी सरलता, आडम्बरहीनता तथा अपनी स्वभावगत सुन्दरता के कारण प्रभावशाली होते हैं, जबकि कभी-कभी शास्त्रीय नृत्य अपने नियमो के बधनो के कारण अपनी लोकप्रियता खो देते हैं।

लोकनृत्यो पर प्राकृतिक, सामाजिक एवं धार्मिक वातावरण का प्रभाव

यह कहना बहुत कठिन है कि समस्त भारतवर्ष मे उक्त तीनो परिस्थितियो का प्रभाव एकसा होता है। किसी स्थलविशेष के प्राकृतिक वातावरण का प्रभाव किसी नृत्यविशेष पर एक प्रकार का है तो यह आवश्यक नही कि उसी तरह ही प्रकृति का प्रभाव किसी दूसरी जगह के नृत्यो पर वैसा ही हो। इसका कारण यह है कि किसी जगह प्राकृतिक वातावरण का प्रभाव दूसरे प्रभावो से दब जाता है। किसी जगह प्राकृतिक वातावरण का प्रभाव कम है तो धार्मिक वातावरण का प्रभाव अधिक। किसी जगह सामाजिक बधन (Social Taboos) इतने अधिक होते हैं कि नृत्य सामाजिकता से घिरा हुआ होता है। वहाँ प्राकृतिक, सामाजिक और दूसरे कारण उन्हे इतना प्रभावित नहीं करते। इस बात को ध्यान में रखते हुए हम भारतवर्ष के

समस्त लोकनृत्यो की विशेषताओ का पता लगा सकते हैं। पजाव और राजस्थान के सामाजिक वातावरण मे मुगलशाही तथा सामती प्रभाव होने के कारण कला को सामाजिक और धार्मिक रूप प्राप्त नही हो सका। पिछले चारसौ वर्षों मे कला जीवनोपयोगी नही समझी जाकर विलास की ही सामग्री समझी गई। यह प्रभाव शहरो मे तो अधिक था ही, परन्तु गाँवो की परिधि मे भी घुस गया। अत लोकनृत्य धार्मिक समारोहो, मदिरो, सामाजिक पर्वों मे विशेष महत्त्व प्राप्त नही करके जीवन के कुछ ही प्रसगो मे उपयोगी सिद्ध हुआ। वहाँ लोगो को वर्षभर मे कुछ ही अवसरो पर अपनी आनन्द की भावना तृप्त करने के लिए नृत्य जायज समझा गया। वे अवसर थे, होली तथा शादी विवाह के विशेष प्रसग।

राजस्थानी घूमर तथा होली के अवसर के लगभग सभी लोकनृत्य इसी श्रेणी के लोकनृत्य हैं। इनमे शृ गारिक भावना की प्रधानता रहती है। इसी वधन के कारण राजस्थान और पजाव मे स्त्रियो को पुरुषो के साथ नाचने की छूट नही दी गई। पुरुषो के नृत्यो मे यदि स्त्रियो की आवश्यकता होती है तो पुरुष ही स्त्री का रूप वनाकर नाचते हैं।

राजस्थान मे आदिवासियो के नृत्यो को छोडकर धार्मिक और सामाजिक लोकनृत्यो की वहुत ही कमी है। नृत्य के प्रति सामाजिक वधन की भावना होने के कारण ही राजस्थान मे व्यवसायिक लोकनृत्यो का विकास अधिक हुआ। जिस देश या प्रान्त मे व्यवसायिक लोकनृत्य अधिक होते हैं, वहाँ यह समझ लेना स्वाभाविक है कि नृत्यो के प्रति वहाँ आध्यात्मिक भावना नही है, या यो कहिये कि समाज ने नृत्य को हीन और हेय समझकर ही व्यवसायिक लोकनृत्यकारो की रचना की। भवाइयो का इतिहास भी यही वतलाता है कि उन्हे उनके मूल समाज ने अपनी जाति से निर्वासित भी इसी कारण किया था। जिन क्षेत्रो मे नृत्य को हीन भावना से नही देखा जाता है वहाँ नृत्य जन-जीवन मे व्याप्त रहता है और नृत्यकारो की व्यवसायिक जातियाँ नही के वरावर होती हैं। वगाल, उडीसा तथा दक्षिण भारत के सभी क्षेत्र इसके ज्वलत उदाहरण है।

इन सामाजिक और धार्मिक भावनाओ के अलावा प्राकृतिक वातावरण का भी प्रभाव नृत्यो पर पडता है। राजस्थान के रेतीले प्रदेशो मे मनुष्य के सामने सवसे वडा प्रश्न आजीविका का है। नृत्य के लिए उसे फुर्सत ही कहाँ ? इसलिए इन क्षेत्रो मे भोपे, कामड, नट, कठपुतलीकार आदि व्यवसायिक

नृत्यकारो का जितना बाहुल्य है, उतना राजस्थान के अन्य क्षेत्रो मे नही। यहाँ पर दूर-दूर तक किसी भी प्रकार के सामाजिक लोकनृत्य के दर्शन नही होते।

राजस्थान मे स्त्रियाँ मध्यकालीन ऐतिहासिक कारणों से बडे-बडे लहँगे तथा लम्बी-लम्बी घूँघटदार साडियाँ पहिनती हैं। सामाजिक प्रथा के कारण उन्हे घूँघट भी निकालना पडता है, इसलिये वहाँ स्त्रियो मे जो भी नृत्य प्रचलित हैं, उनमे घाघरे और घूँघट की कला बहुत ऊँचे दर्जे तक पहुँच चुकी है। स्त्रियों के नृत्य का सृजन भी इसी प्रकार हुआ कि वे अधिक से अधिक चकरियाँ लें, ताकि घाघरे का घेर मर्यादा का भी अतिक्रमण कर जाय। राजस्थान मे घूँघट की प्रथा है, इसीलिये वहाँ के लोकनृत्यो मे घूँघट की कई कलाएँ व्यक्त की जाती हैं। यही कारण है कि राजस्थान के नृत्य वृत्ताकार होते हैं तथा घूँघट की प्रथा वहाँ निखर आई है। यही बात कुछ हद तक पजाब के लिए भी लागू है। एक विशेष बात राजस्थान और हरियाना के लोकनृत्यों मे जो देखने योग्य है, वह यह है कि सामाजिक कारणो से क्योकि स्त्रियाँ पुरुषो के साथ वहाँ नही नाचती इसलिये पुरुषो को ही स्त्रियो का नृत्य करना पडता है। पुरुषों मे स्त्रीसुलभ हावभाव स्वभाव से नही होते, इसीलिए उनको स्त्रियो के हावभाव सीखने पडते हैं। परिणाम यह होता है कि पुरुष चाहे पुरुष का ही काम करता हो, स्त्रियो के ये लटके-मटके उसकी आदत में शुमार हो जाते हैं, इसलिए अधिकतर यह देखा गया है कि राजस्थान के व्यवसायिक लोकनृत्यो मे जनानापन अधिक है। उन्हे किसी तरह स्त्रीत्व की कमी को अपने हावभाव द्वारा ही पूरी करनी पडती है।

यही विश्लेषण यदि दक्षिण भारतीय नृत्यो का करें तो उनमें भी कई विशेषताएँ मिलेंगी। दक्षिण भारत मे उत्तर भारत की तरह विदेशी प्रभाव बहुत कम है। इसलिए वहाँ की कलाओ मे हिन्दुत्व की उदार और उदात्त भावनाएँ आज भी अक्षुण्ण रूप मे विद्यमान हैं। नृत्यसंगीत के प्रति प्राय कोई सामाजिक बंधन (Taboos) वहाँ नही है। कला के पीछे धार्मिक और सामाजिक भावनाएँ वहाँ पर्याप्त मात्रा मे हैं इसलिए वहाँ प्रत्येक ऊँचे और नीचे दर्जे की जातियो मे नृत्य के प्रति सद्भावना है। राजस्थान की तरह नृत्य निम्न श्रेणी की धरोहर नही बनकर नबूदरी ब्राह्मणो के घरो मे ऊँचा से ऊँचा स्थान प्राप्त किये हुए हैं। बल्कि वहाँ तो नृत्य कही अपवित्र नही हो जाय, इसलिए उसे शूद्रों से बचाकर रखा जाता है। इसके विपरीत राजस्थान मे कही ऊँची जातियाँ नृत्य के कारण भ्रष्ट नही हो जायँ इसलिए उसे निम्न जातियो में धकेल दिया गया है।

दक्षिण भारत मे नृत्य का सामाजिक और धार्मिक रूप चरम सीमा तक पहुँचा हुआ है, इसलिए वहाँ नृत्य की व्यवसायिक जातियाँ नही के बराबर है। सच पूछिये तो दक्षिण भारत मे कला के प्रति इतनी स्वस्थ भावना होने के कारण वह प्रत्येक घर की शोभा बनी हुई है। लोकनृत्य स्वय इतना अधिक व्यवस्थित और सस्कृत बना दिया गया है कि वह भी शास्त्रीय कला का रूप धारण करने लगा है। जब कलाप्रियता चरमोत्कर्ष तक पहुँचती है और वह जीवन और धर्म के बहुत निकट होती है तो सभी कलाएँ चाहे वह लोक हो चाहे शास्त्रीय, चरमोत्कर्ष तक पहुँचने लगती हैं तथा लोककला और शास्त्रीय कला एक दूसरे के समीप आने की कोशिश करती है। शास्त्रीय कला मे लोककला के सामाजिक और लोकग्राह्यता के गुण समाविष्ट होने लगते हैं और लोककला मे शास्त्रीय कला के सस्कार और परिष्कार की प्रवृत्ति प्रविष्ट होने लगती है। यही कारण है कि दक्षिण भारत मे लोककला और शास्त्रीय कलाएँ काफी समरूप होने लगी हैं। कथकली और कुचपुडी नृत्य किसी समय नृत्य की लोकशैली मे ही शुमार थे, परन्तु वे आज परम दर्जे के शास्त्रीय नृत्य बन गये हैं। जिस तरह दक्षिण भारत मे लोककला और शास्त्रीय कला एक दूसरे का रूप धारण कर रही है, उसी तरह वहाँ लोकनृत्य और शास्त्रीय नृत्य भी समरूप होते जा रहे हैं।

धार्मिक, सामाजिक तथा कलाप्रियता की दृष्टि से दक्षिण भारत की कला का विश्लेषण ऊपर किया गया है। अब कुछ और कारणो से भी उनका विश्लेषण होना आवश्यक है। उधर अत्यधिक गर्मी के कारण लोग कपडे नही पहिनते। उन्हे अपने शरीर की गरिमा दर्शाने के लिए कपडो से कही अधिक नग्न शरीर के शृगार-सजाव पर ध्यान देना पडता है। कपडो की कमी-पूर्ति करने के लिए उन्हे गले मे अच्छे कठे पहिनने पडते हैं। मस्तक और शरीर पर केशर, अबीर आदि के तिलक लगाने होते हैं और नृत्य मे भी अग सचालन के वैविध्य पर ही अधिक ध्यान देना पडता है। भरतनाट्यम मे स्त्रियो को ही नाचने का अधिकार प्राप्त है, पुरुषो को नही। अत स्त्रियो के नृत्य मे पुरुषसुलभ क्रियाओ का बाहुल्य है।

इसी तरह बगाल और मणिपुर के लोकनृत्यो का भी विश्लेषण किया जा सकता है। वहाँ पर धार्मिक भावनाओ का बाहुल्य होने के कारण वहाँ के लोकनृत्य बहुधा धार्मिक होते हैं। मदिर, देवस्थल तथा धार्मिक अवसर ही उनके नृत्यो के विषय बन जाते हैं। सामाजिक दृष्टि से भी वहाँ कोई बधन नही है। इसलिए पुरुष स्त्री मिलकर नाचते है। स्त्री पुरुष के व्यवहार मे

स्वाभाविकता है अतः नृत्यो में कोई शृंगारिकता तथा अश्लीलता का चिह्न नही है। बगाल तथा मणिपुर मे इन लोकनृत्यो को जनता बडे सम्मान और धार्मिक दृष्टि से देखती है। इसके विपरीत राजस्थान, हरियाणा और पजाब के कुछ क्षेत्रों मे यदि कोई लोकनृत्य का आयोजन किया जाय तो सामाजिक बन्धनो (Social Restrictions) के कारण लोग स्त्रियो को नृत्य करते देखकर शिष्टता की सीमा का अतिक्रमण कर जाते हैं। बंगाल, आसाम, और मणि-पुर मे व्यवसायिक लोकनृत्य जैसी कोई परम्परा नहीं है। इसका मूलकारण यही है कि वहाँ लोकनृत्यों के पीछे सामाजिकता की भावना है।

उत्तर प्रदेश की स्थिति राजस्थान, पजाब और बगाल के बीच की है। उत्तर प्रदेश के वे क्षेत्र जो ब्रज सस्कृति से प्रभावित हैं, तथा जो भगवान् राम-कृष्ण की क्रीडाओ से ओतप्रोत हैं, वहाँ रामलीला और रामलीला जैसी दो लोकनृत्य-नाट्यो की शैलियाँ प्रचलित हैं, परन्तु वे भी व्यवसायिक लोक-कला के रूप मे हैं। उधर भी बाहरी प्रभावो के कारण सामाजिक बधन पर्याप्त मात्रा मे हैं, इसलिए व्यवसायिक लोकमडलियाँ ही इधर विशेष विकसित हुईं। इनमे भी सामाजिक बधनों के कारण पुरुष ही स्त्रियो की भूमिका अदा करते हैं।

पहाडी क्षेत्रो (हिमालय) के नृत्यो का विश्लेषण करने पर यह ज्ञात होगा कि वहाँ के पहाडी जीवन की उन पर छाप स्पष्ट है। पहाडी प्रदेश होने के कारण बाहरी विदेशी प्रभाव इन पर नही के बराबर है। सामाजिक और धार्मिक भावनाओं पर भी कोई विशेष प्रतिबंध नही है। यहाँ पर भी इसी कारण अधिकतर लोकनृत्य व्यवसायिक लोकनृत्यो के रूप मे नही हैं। इन पहाडी क्षेत्रों मे स्त्री पुरुष मिलकर नाचते हैं तथा इनके नृत्यो पर प्राकृतिक वातावरण का पर्याप्त प्रभाव है। पहाडो पर समचौरस या एक ही स्थल पर लम्बी-चौडी जगह का अभाव रहता है, इसलिए लोग थोडी जगह मे भी नृत्य कर सकते हैं। कतार बनाते समय कभी गोलाकार घूमने की बजाय सर्प की तरह टेढेमेढे चलकर पुन: समचौरस भूमि पर सीधे हो जाते हैं। हिमाच्छा-दित पर्वतो की असहनीय शीत के कारण इन्हें शरीर पर अत्यधिक कपडे पहिनने पडते हैं, अत इनके नृत्यो मे शारीरिक गरिमा तथा अगभगिमाओ की कमी रहती है। केवल सीधे-सीधे जड रूप मे चलना फिरना ही इनके नृत्य की विशेषता है। नृत्य मे सगठित सचालन के अलावा विशेष गरिमा नही। उसमे शृंगारिकता और कलावैचित्र्य की भी कमी है। ये दोनो ही बातें व्यापक

सपर्क तथा दुनियावी परिचय और प्रभाव से आती हैं। पर्वतो के एकाकी और शान्त वातावरण मे उनका अभाव रहता है।

सौराष्ट्र के नृत्यो मे इस दृष्टि से अनुपम विविधता और कारीगरी है। समुद्री वातावरण मे समुद्री लहरो की चहलपहल और सौदर्य के वीच रहकर उधर के लोककलाकारो मे कल्पना की अद्‌भुत सूझ और कला की अद्वितीय विविधता है। इनके नृत्यो मे समुद्र की सी गम्भीरता, तरगो की सी चपलता, समुद्री-जलवायु की सी मनोरमता और वाहरी प्रभावो से अछूते लोक-जीवन की पवित्रता है। यहाँ के नृत्य सामाजिक नृत्यो के अद्वितीय उदाहरण हैं। उनमे कला, सौदर्य, सरलता और मनोभावनाओ का जैसा सामजस्य हुआ है, वैसा अन्यत्र कही नही।

भारतीय लोकनृत्यों के प्रकार

भारतीय लोकनृत्यो के निम्नांकित प्रकार है—

(१) **स्वान्त सुखाय लोकनृत्य**—वे लोकनृत्य जो केवल हर्ष, उल्लास तथा आनन्दोद्रेक से सबधित हैं, उनमे अगभगिमाओ की प्राजलता, वैविध्य तथा भावनाओ का अद्वितीय रग चढा होता है। वे नदी के प्रवाह की तरह वहते हैं। लहरो की तरह उछलते हैं तथा अद्वितीय आनन्द की सृष्टि करते हैं। इन नृत्यो मे नृत्यकारो को एक निर्दिष्ट योजना मे रहते हुए भी, अग-भगिमाओ की पूर्ण स्वतत्रता रहती है। इन नृत्यो मे नृत्यकार वाह्य आडम्वरो का विशेष सहारा नही लेता। उमकी वेशभूषा, अलकरण तथा प्रस्तुतीकरण मे किसी प्रकार का दिखावा नही होता। वह सादी पोशाक ही मे आकर्षक लगता है। इन नृत्यो मे व्यक्तिगत प्रतिमा तथा दिखावे की अधिक प्रवृत्ति रहती है। इन नृत्यो के लिए कोई विशेष पर्व, उत्सव तथा अवसर निश्चित नही होते। ये स्वान्त सुखाय नृत्य कभी भी मन की मौज पर प्रकट होते हैं। उनमे नित्य-प्रति परिवर्तन होता रहता है, तथा वे जातीय तथा क्षेत्रीय विशेषताओ से ओतप्रोत रहते हैं। इन नृत्यो मे नृत्यकारो का वैयक्तिक, पारिवारिक तथा जातीय जीवन विशेष रूप से झलकता है।

(२) **अनुष्ठानिक लोकनृत्य**—इस कोटि मे वे लोकनृत्य आते है, जो वैयक्तिक नृत्यो के दायरे मे से निकलकर किसी उत्सव, पर्व, रीतिरिवाज तथा सस्कार के साथ जुड जाते हैं। स्वान्त सुखाय तथा वैयक्तिक नृत्यो को जीवित रखने तथा उनको विशिष्ट स्वरूप देने मे इन पर्व, उत्सवो का वहुत वडा हाथ है। भावोद्रेक के साथ श्रद्धा तथा कर्तव्य जुड जाने से इन नृत्यो मे तनिक गभीरता आती है और सामाजिक तत्वो का समावेश होता है। विखरी

हुई नृत्य-भंगिमाएँ नियमित होती हैं, तथा उन्हें सामाजिक स्वरूप प्राप्त होता है। सामाजिक श्रद्धा और परम्परा के साथ जुड़ जाने से उनमे स्थायित्व आता है तथा उनके प्रति लोगो का प्रेमभाव बढ़ता है। उनमे वैयक्तिक प्रयोग की अपेक्षा सामाजिक प्रयोग को विशेष महत्व मिलता है। ये नृत्य प्रत्येक पर्व, उत्सव तथा समारोह के प्रतीक होते हैं। उनकी भावाभिव्यजनाओ मे उन पर्वों का पूरा विवेचन होता है। जैसे धार्मिक नृत्यो मे पूर्ण गंभीरता, मौसम के नृत्यो मे पूर्ण शृंगार और साहित्यिकता तथा मेलो और सार्वजनिक पर्वों के नृत्यों मे विस्तार, भव्यता तथा विभिन्नता के गुण परिलक्षित होते हैं। ऐसे नृत्य भी बहुत हैं, जो केवल रूढि मात्र रह गये हैं, जिनमे कोई अनुराग और रस नही है। जैसे वैवाहिक प्रसगो के साथ चिपके हुए नृत्य, जिनमे कोई वैविध्य और रस नही होता। सरलता तथा धीमापन ही उनका खास गुण है। ऐसे नृत्य धीरे-धीरे विविध रीतियों तथा परम्पराओ से जुड़ जाने के कारण रूढिगत हो गये हैं और रूढि बनकर ही सचरित होते हैं। उनके साथ कभी-कभी अंधानुशीलन और अंधविश्वास भी जुड जाते हैं, जो लकीर की तरह सदा ही चलते रहते हैं।

(३) श्रमसाध्य लोकनृत्य — ऐसे नृत्य भी अनेक है जो धीरे-धीरे मनुष्य की क्रियाओ के साथ जुड गये हैं। श्रमजनित थकान तथा उसकी नीरसता को कम करने के लिये जिन अनेक नृत्यो की सृष्टि हुई, वे मनुष्य के जीवन मे घुलमिल गये। सडक कूटते हुए, छत दबाते हुए, पानी भरते हुए, वज़न उठाते हुए तथा खेती की अनेक क्रियाएँ करते हुए, अनेक अगमुद्राएँ लयबद्ध होकर धीरे-धीरे नृत्य का रूप धारण करने लगती हैं। ऐसी भगिमाएँ गीतों से प्रेरणा लेती हैं और शारीरिक लय से ताल ग्रहण करती हैं। चूँकि इन नृत्यो मे श्रम की प्रधानता रहती है, इसलिये उन की चालें, भगिमाएँ तथा मुद्राएँ अत्यत गौण हो जाती हैं। ये नृत्य विशिष्ट स्वरूप धारण नही करते। बहुधा क्षेत्रीय, जातीय एव भौगोलिक विशेषताओ के साथ उनके स्वरूप भी बदलते रहते हैं। ऐसे नृत्यो में काम करती हुई स्त्रियो की टोकरियाँ और हिलते हुए हाथ ही नृत्य की भगिमाएँ बन जाते हैं। इसी तरह छत कूटती हुई स्त्रियो के हाथ के धौंसे तथा सड़क बनाती हुई स्त्रियो की पदचापें ही इन श्रमसाध्य नृत्यो की चालें बन जाती है। ये नृत्यमुद्राएँ श्रमसाध्य क्रियाओ के साथ दूध पानी की तरह इस तरह घुलमिल जाती हैं कि यह पता नही लगता है कि श्रम कौनसा है और नृत्य कौनसा ? इन्ही नृत्यों मे वे नृत्य भी सम्मिलित हैं,

जो लम्बी यात्रा के फासले को काटने के लिये गीतो की पदचापो के साथ मिलकर स्वत ही मनुष्य के अग मे समा जाते हैं।

(४) **सामाजिक लोकनृत्य** – ये लोकनृत्य किसी वर्ग, धर्म, जाति तथा दलविशेष से सबध नही रखते। इनका सबध समस्त समाज तथा राष्ट्र मे होता है। वैयक्तिक, अनुरजनात्मक तथा सास्कृतिक नृत्यो का विकसित रूप ही सामाजिक नृत्यो का रूप धारण करता है। जैसे-जैसे वर्गगत भावनाएँ विशाल बनती हैं, छोटे-छोटे समाज तथा वर्ग सर्वदेशीय भावनाओ से ओतप्रोत होकर विशाल रूप धारण करते हैं, वैसे-वैसे इन नृत्यो का स्वरूप भी विशाल और प्राजल बनता जाता है। अनेक वैयक्तिक नृत्य सामाजिक कसौटी पर कस जाते हैं और पारस्परिक प्रभाव से विराट् रूप धारण कर लेते हैं। इन नृत्यो मे समस्त समाज, क्षेत्र तथा देश की आत्मा झलकती है। इन नृत्यो के पीछे अनेक वर्षों की साधना निहित रहती है। उनमे समस्त सामाजिक आनन्द और समरसता के दर्शन होते हैं। इन नृत्यो की लोकप्रियता, उनके प्रसारक्षेत्र तथा उपभोक्ताओ के विशाल जनसमुदाय को देखकर ही यह पता लगाया जा सकता है कि वह क्षेत्र किन सामाजिक और मानवीय गुणो से ओतप्रोत है। इन नृत्यो के पीछे समस्त समाज का विश्वास, गौरव तथा उसकी आत्मा निहित रहती है। ये नृत्य अमीर-गरीव, शिक्षित-अशिक्षित, जातिपाँति, धर्म-सम्प्रदाय का भेद नही जानते। ऐसे नृत्यो मे गुजरात का गरबा, राजस्थान का घूमर, पजाब का भागडा, विहार का झूमर, महाराष्ट्र का लावणी, दक्षिण भारत का कोलटम आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। ये नृत्य सामाजिक तथा राष्ट्रीय परिधान, राष्ट्रीय भावना तथा राष्ट्रीय समरसता और चारित्रिक समन्वय के द्योतक हैं।

ये नृत्य स्वभाव से सरल, पदचापों एव भगिमाओ की दृष्टि से सर्वगम्य, सर्वमान्य तथा सर्वग्राह्य होते हैं। इन्हे सीखने के लिये प्रशिक्षण की आवश्यकता नही। ये नृत्य प्राचीन होते हुए भी आधुनिक हैं, क्योकि ये सर्वदा ही ताज़ा रहते हैं।

(५) **मनोरंजनात्मक लोकनृत्य**– लोकगीतो की तरह ही लोकनृत्य जब कुछ विशिष्ट गुणीजनो तथा कलारुचिनिष्ठ व्यक्तियो की अभिरुचि के विषय बन जाते हैं तो उनमे शृ गार, सजाव होने लगता है और उनका सामाजिक तत्त्व तिरोहित हो जाता है। वे प्रयोक्ता की विशिष्ट अभिरुचि के अनुरूप रूपान्तरित होने लगते हैं तथा वे सजाव-शृ गार से चमत्कृत होते हैं। कभी-कभी वे

अपने अतिशय मनोरंजनात्मक गुणों के कारण कुछ विशिष्ट कलाकारों की आजीविका के साधन भी बन जाते हैं। इन विशिष्ट परिस्थितियो मे प्रदर्शक कभी-कभी दर्शक बन जाता है। वह स्वयं नृत्य करके आनन्दित होने की अपेक्षा, दूसरों के नृत्य देखकर आनन्दित होता है। ये विशिष्ट नृत्य दूसरो को आनदित करने के लिये ही विशिष्ट स्वरूप धारण कर लेते हैं। ये नृत्य व्यवसायिक हो जाने पर लोकनृत्यो के गुणो को इसलिये नही खोते कि उनमे लोकनृत्यो की सभी परम्पराएँ फिर भी विद्यमान रहती हैं। व्यवसायिक नृत्यकारों को उनका सजाव-शृ गार करने की छूट है, परन्तु उनकी मूल रचनाओ को बदलने का उनको अधिकार नही रहता। उन नृत्यो के मान्य स्तरो मे यदि कुछ भी अन्तर रह जाता है तो दर्शक तुरन्त ही अपनी प्रतिक्रिया प्रकट करने लगते हैं। राजस्थान के व्यवसायिक भवाई नृत्यकार के सभी नृत्य परम्परापोषित हैं। उनका तंत्र तथा रचना-वैशिष्ट्य पूर्वनिश्चित होता है। कलाकारों को उनमे कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन करने की छूट नही रहती है। यदि कभी वह यह स्वतंत्रता ले भी लेता है तो उसे दर्शकों की भर्त्सना का पात्र बनना पडता है।

व्यवसायिक नृत्यकार अपने यजमानो को केवल अनुरंजित ही नही करता, वह उनके गौरव की रक्षा भी करता है। दर्शको मे स्वान्तःसुखाय होने की अपेक्षा दूसरो से अनुरंजित होने से जो हीनता की भावना का संचार होता है, उसे ये व्यवसायिक कलाकार काफी मात्रा मे दूर करते हैं और अपने यजमानो की कलात्मक अभिरुचि का गौरव बढाते हैं। दर्शक-प्रदर्शक की यह परम्परा जो आज भी विद्यमान है, लोकनृत्य की मूल आत्मा के अनुरूप ही है, क्योकि प्रदर्शको द्वारा प्रस्तुत किये हुए इन नृत्यो से दर्शक वही आनन्द ग्रहण करता है, जो उसे आत्मानद द्वारा प्राप्त होता है। अत. जो दर्शक-प्रदर्शक का भेद है वह इस ममत्व के कारण काफी हद तक कम हो जाता है। इन नृत्यकारो के साथ उसका पारिवारिक और जातीय लगाव रहता है। वह इन व्यवसायिक नृत्यकारो की नृत्य-अदायगी मे अत्यधिक रुचि लेता है और उनमे किसी प्रकार का परिवर्तन तथा क्षेपक बर्दाश्त नहीं करता। उन पर वह सदा ही अपना आधिपत्य बनाये रखता है।

लोकनृत्य और परिधान

परिधान तथा अलंकारो का शौक मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। मनुष्य अपने घर की चहारदीवारी मे बन्द रहता है, तब वह साधारण कपड़े ही पहिने रहता है, परन्तु जब वह बाहर निकलता है तो उसके लिये परिधान

का महत्त्व वढ जाता है। लोकनृत्यो मे चू कि वैयक्तिक आनन्द की प्रधानता रहती है, अत वेश-विन्यास के मामले मे नर्तक अधिक रुचि नही लेता। दैनिक पोशाकें ही उसकी आवश्यकता की पूर्ति करने मे पर्याप्त होती हैं। पर्व उत्सवो पर जो विशेष पोशाकें पहिनने का रिवाज है, उसके पीछे नृत्य का महत्त्व जितना नही है उतना उत्सवो के सामाजिक गुणो का है। उत्सवो मे सम्मिलित होनेवाले लोग उत्सवो के निमित्त पोशाक परिधान पहिनते हैं, नृत्यों के निमित्त नही।

कई भौगोलिक और सामाजिक कारण ऐसे भी हैं, जो नृत्यकारो को विशिष्ट पोशाकें पहिनने को वाध्य करते हैं। अत्यधिक शीतप्रदेशो मे शीत के कारण लोगो को गर्म लवादो मे रहना पडता है। वे कई वरसो मे एक वार नहाते हैं तथा अधिकतर घरो मे ही वद रहते हैं। उनके सामाजिक आनद के क्षण अत्यन्त सीमित होते हैं। अपनी आजीविका के लिये खेती आदि कार्यों मे उन्हें इतना व्यस्त रहना पडता है कि नृत्यो को आजीविका के साधन वनाने का उनके सामने कोई प्रश्न ही नही उठता। भौगोलिक एव मौसमी अनिश्चितताओ के कारण उनका प्रयोग अच्छी मौसम मे ही होता है। यही कारण है कि नृत्यो के ये दुर्लभ आयोजन उनके लिये उत्सव, पर्व के समान हैं। उस अवसर पर वे आकर्षक पोशाकें पहिनते हैं और कीमती जेवरो से अपने को सजाते हैं।

ऐसे क्षेत्रो मे जहाँ नृत्य नित्यप्रति का ही क्रम वन गया है, वहाँ परिधान विशेष महत्त्व नही रखता। शृ गार के लिये जगली फूलो का शृंगार ही पर्याप्त होता है। मध्यप्रदेश के माडिया, मूडिया, राजस्थान, गुजरात के भील तथा विहार के उराव, सथाल आदि जातियो के नृत्यो मे जगली फूल, कौडी, पक्षियो के पख, पशुओ के सीग आदि का परिधान के रूप मे वडा सुन्दर उपयोग होता है। इन जातियो के वे नृत्य जो मेलो तथा मडइयो मे नाचे जाते हैं, आदिवासियो की विशिष्ट तथा आकर्षक वेशभूषाओ से खिल उठते हैं। इन अवसरो पर जाति के सभी लोग वडे-वूढे, स्त्री-पुरुष, वाल-युवक नाचते हैं और अपने इष्टदेवो के प्रति अपनी श्रद्धाजलि अर्पित करते हैं। ये ही अवसर पारस्परिक मेलजोल, वैवाहिक सम्वन्ध तथा पारस्परिक प्रेम वढाने के लिये होते हैं। कभी-कभी तो ऐसे प्रसग नवयुवक और नवयुवतियो के लिये सौन्दर्य प्रतियोगिता के रूप मे भी प्रकट होते हैं। आदिम पुरुष और स्त्री अद्वितीय पोशाको और साज-सज्जाओ से सुसज्जित होकर आते हैं तथा इन नृत्यो को प्रभावशाली और दर्शनीय वना देते हैं।

इन जातियो के उन नृत्यो मे, जो दिनभर के परिश्रम के बाद प्रत्येक गाँव मे थकान मिटाने के लिये किये जाते है, पोशाको का कोई महत्त्व ही नही है। राजस्थान, गुजरात तथा मध्यप्रदेश के भील भिलालो का गैर नृत्य, जो प्रतिदिन थकान मिटाने के लिये किया जाता है, साधारण पोशाको मे ही होता है।

आसाम, नेफा, हिमाचल प्रदेश, कश्मीर, मणिपुर तथा नागालैण्ड आदि के नृत्यो की पोशाकें जितनी आकर्षक होती हैं उतनी कदाचित् देश की किसी जाति की नही। ये पोशाकें केवल नृत्य के लिये ही पहिनी जाती हैं। दैनिक जीवन मे उनका कही भी प्रयोग नहीं होता। मध्यप्रदेश, उडीसा, बिहार, बगाल, राजस्थान आदि समतल प्रदेश के विशिष्ट सास्कारिक नृत्यो मे अवश्य ही आकर्षक पोशाकें पहिनी जाती हैं, परन्तु दैनिक जीवन की पोशाकों मे और उनमे कोई विशेष अंतर नही होता। वे तो दैनिक जीवन ही मे फूल कौड़ियो के शृंगार से सुसज्जित रहते हैं। परन्तु पहाडी प्रदेश की पोशाकें नृत्य के समय अत्यत आकर्षक बन जाती हैं, क्योकि ये देश शीतप्रधान देश हैं। अतः वस्त्र परिधान अग का आवश्यक अग बनता है। ये प्रदेश फूलो तथा कौडियो की दृष्टि से अभावग्रस्त देश है, इसलिये इनकी शारीरिक सजावट मे इनके कहीं दर्शन नही होते, अत. शरीर के परिधान मे वस्त्र तथा पांव और सिर के परिधान मे पख तथा हड्डियो का पूर्ण शृ गार रहता है। शीतप्रदेश होने के कारण गरम कपडो का महत्त्व भी विशेष है। इसलिये ये लोग कताई-बुनाई तथा कसीदाकारी मे अत्यन्त प्रवीण होते हैं। यही कारण है कि इनकी वेशभूषा भी अत्यन्त आकर्षक होती है। इन पहाडी प्रदेशो के नृत्य भौगोलिक कठिनाइयों के कारण अधिक चमत्कारिक नही हैं। ऊबड़-खाबड रास्तो तथा पहाड़ो के कारण, उन्हें नृत्य के लिये समतल भूमि भी बडी मुश्किल से मिलती है, अत इनके नृत्य अत्यन्त श्लथ, धीमें तथा वैविध्यहीन होते है। इसी कारण इस अभाव की पूर्ति के लिये तथा अपने नृत्यो को आकर्षक बनाने के निमित्त इन्हे अत्यन्त कलात्मक पोशाकें और जेवर पहिनने पडते हैं।

परिधान, अलंकरण आदि नृत्यो के शारीरिक सचार पर भी आधारित रहते हैं। महाराष्ट्र, उत्तरप्रदेश, राजस्थान तथा बिहार के मैदानी क्षेत्रो के कुछ पुरुषार्थी नृत्यो मे पोशाकें अधिक कसी हुई, सरल और हलकी होती हैं, कारण कि ये नृत्य समुद्री तूफान की तरह चलते हैं और अग-प्रत्यग की भयकर उछलकूद के कारण पोशाको मे कसावट तथा हल्कापन अत्यंत आवश्यक

है। ऐसे तूफानी नृत्यो मे धातु के बने हुए बोझिल अलकरणो के लिये कही स्थान नही रहता है। भयकर गरम क्षेत्रो मे जहां गरमी के कारण कोई वस्त्र शरीर बर्दाश्त नही करता, वहां वस्त्र परिधान की न्यूनता रहती है और उनकी पूर्ति नृत्यो की रगीनियो तथा अगभगिमाओ के वैविध्य से की जाती है। ऐसे क्षेत्रो के नृत्यकार वस्त्र परिधान की जगह खुले वदन के प्राकृतिक शृ गार तथा शरीर के अत्यन्त कलात्मक गोदनो को महत्त्व देते है। मध्यवर्ती मध्यप्रदेश के भयकर गरम और जगली क्षेत्रो के आदिवासी कपड़े नही पहिनते, परन्तु उनकी जगह फूलो की वेणियो, कौडियो की मालाओ तथा पक्षियो के पखो से वे अपने आपको अलकृत करते हैं।

हिमाचल प्रदेश की १५००० और १८००० फीट की ऊँचाई पर रहने वाले नर-नारियो को सर्दी से बचने के लिये ऊन तथा सूत के भारी-भरकम लवादे पहिनने पडते हैं। पुरुष और स्त्रियो को एक ही तरह के ऊनी तग पायजामे पहिनने होते हैं। पुरुप और स्त्रियो की पोशाको मे कोई अन्तर नही होता। उनकी नृत्य की पोशाक भी प्राय वही होती है। स्त्रियो का सजाव-शृ गार, जो भी होता है वह इन लवादो के ऊपर ही होता है। अत वह वहुधा अग का शृ गार न होकर इन लवादो का ही शृंगार होता है, क्योकि मुँह को छोडकर शरीर के सब अग-प्रत्यग कपडो से ढके रहते है। केवल मुँह ही एक ऐसा प्रत्यग है, जहां अलकरण के लिए कुछ गु जाइश रहती है। यही कारण है कि इनकी स्त्रियो के कान, नाक कई जगहो से छिदे रहते हैं और चांदी तथा अन्य धातुओ के अलकरण से वे लदे रहते हैं।

लोकनृत्यो मे मुखविन्यास की कल्पना प्राय नही के वरावर है। अपने मुँह को सफेदी से पोतने तथा आंखो मे काजल तथा ओठो पर लाली लगाने की समस्त कल्पना आधुनिक है और उसका सम्वन्ध केवल प्रदर्शन से है। लोकनृत्य प्राय स्वान्त सुखाय होते हैं, अत उनमे दिखावे की भावना नही के वरावर है। व्यवसायिक लोकनृत्यो मे भी मुख-शृ गार की प्रवृत्ति लगभग नही के वरावर है। साधारणत काजल-टीकी से अपने को सजाने की जो आदत स्त्रियो मे होती है, उसका सम्वन्ध नृत्य से न होकर उनकी नारीसुलभ आदत से है।

लोकनृत्य और गीत

लोकगीत नृत्यो के प्राण हैं, जो उनके साथ लिपटे रहते हैं। कुछ ही नृत्य ऐसे हैं, जो विना गीतो के चलते हैं। ऐसे नृत्य लयप्रधान, शारीरिक

कसरतो के नृत्य होते हैं, जो ताल मे शरीर के करतव दिखलाने मात्र के लिये होते हैं। स्वतत्र गीत की रचना विना नृत्य के होती है, परन्तु स्वतत्र नृत्य की रचना विना गीत के नही होती। भावनाओ के विशिष्ट क्षणो मे, जव जनसमूह थिरक उठता है, तो उनके साथ ही कुछ लयप्रधान धुनें अज्ञात ही मे शब्दो का परिधान पहिन लेती हैं। जव जनसमूह की भावोद्रेक की स्थितियाँ तीव्रतम होती हैं तो उनका अग-सचालन भी अत्यन्त तीव्रतम होता है और उनके साथ जुडीहुई गुनगुनाहट भी अत्यन्त तीव्रतम धुनो का सचार करती। है कुछ व्यवसायिक नृत्यो को छोडकर कोई भी लोकनृत्य ऐसा नही, जिसको गीतो का परिधान वाद मे पहिनाया जाता हो। गीत नृत्य के साथ ही प्रकट होते है, तथा आधुनिक नृत्यो की तरह वे वाद मे नही जोड़े जाते हैं।

भावोद्रेक के कुछ क्षण ऐसे भी हो सकते हैं, जिनमे रचयिता की गुनगुनाहट, जो स्वरो के तानेवाने के साथ अज्ञात ही मे रचयिता के कठ पर वैठ जाती है, अग-सचालन को भी प्रेरित करती है। अनायास ही ऐसी गुनगुनाहट के साथ अग-प्रत्यग चलने लगते हैं, तथा स्वय गुनगुनाहट को शब्द मिलते हैं। ऐसी असाधारण परिस्थितियाँ असख्य जनसमुदाय मे असख्य वार उपस्थित होती हैं, परन्तु विरले ही योग ऐसे होते हैं जो नृत्य-गीतो का रूप धारण करते हैं। इन गीतो तथा गीतनृत्यो के पोषण के लिये अनुकूल परिस्थितियाँ नहीं होने से वे अपनी उत्पत्ति के साथ ही नष्ट भी हो जाते हैं।

यहाँ एक वात विशेष उल्लेखनीय है कि नृत्य-आवेगो के साथ गीतो का समागम नही होता। अग-सचालन को जिस विशिष्ट भावोद्रेक की आवश्यकता होती है, वह असाधारण उद्रेक होता है। आवेग ही आवेग मे शरीर का अग-प्रत्यग फड़क उठता है। उस समय शब्द-सचार की गुजाइश इसलिये नही रहती कि वह आवेग तूफानी होता है। शब्दो के तनिक नियोजन-आयोजन के लिये वोधगम्य आवेग की आवश्यकता रहती है। यह चैतन्य वहुधा विद्यमान नही रहता। यही कारण है कि लोकनृत्य की उद्गम-स्थितियाँ अत्यत असाधारण और कठिन हैं। अतः जहाँ लोकगीत हज़ारो मे विद्यमान हैं वहाँ लोकनृत्य उगलियो पर गिने जा सकते हैं।

लोकनृत्यो के साथ प्राय. वे ही गीत जुडते हैं, जिनके गेय तथा शाब्दिक गुण वहुधा नही के वरावर होते हैं। भावोद्रेक के समय वाणी का सचार स्वरो के रूप मे सर्वप्रथम होता है, उसके वाद शब्दो का योग मिलता है। इनके साथ अग-संचार एक असाधारण स्थिति मे होता है, जो दोनो पूर्व की स्थितियो की

चरमसीमा है, जो वहुधा स्वर और शव्द को मारकर आगे वढ़ जाती है और वाद मे सवको सग लेकर समाधिस्थ भी हो जाती है। यदि कोई चीज जीवित रह भी जाती है तो वह है अगो का असयत सचालन और उसके साथ चलनेवाले लयप्रधान स्वर सम्मिश्रित शव्द, जो अग-सचालन को मरने से वचाते हैं। यही अग-सचार वाद मे सयत रूप धारण करता है। उसके साथ जो गीत जुड जाता है, वह केवल लय के रूप मे जीवित रहता है। उसके शव्दो मे कोई ताकत नही रहती। शव्द और स्वर दोनो ही नृत्य को पुष्ट करते हैं। ये नृत्य धीरे-धीरे व्यक्ति से समष्टिगत होते हैं और सामाजिक स्वर प्राप्त करते हैं।

नृत्यो के साथ प्रयुक्त होनेवाले गीत, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, नृत्यो के साथ ही जन्म लेते हैं, अत. उनमे गीतो की प्रधानता रहती है। गीतो के साथ अगभगिमाएँ जुडी रहने के कारण गीतो की स्वर-रचनाएँ अत्यन्त सरल तथा लय अत्यन्त पुष्ट रहती है। पुष्ट लय के आधार पर ही अगभगिमाओ का लालित्य निर्भर है। इन गीतों का शाब्दिक कलेवर बहुधा महत्त्वहीन होता है। उनके वर्णनात्मक प्रसग, जो वहुधा भावाभिव्यक्तिहीन होते हैं, नृत्यो की लय और भगिमाओ को प्रधानता देते हैं। ये गीत इन नृत्यो के साथ आजीवन जुडे रहते हैं। इनका पारस्परिक भावात्मक सम्बन्ध होता है, अतः इनके जोडतोड़ से भारी नुकसान की आशका रहती है। इन गीतो के शव्द-कलेवर से नृत्यो की भगिमाओ का कोई सम्वन्ध नही रहता। गीत केवल नृत्यो की गरिमा एव उनके सामाजिक तथा सगठनात्मक तत्त्वो की मदद करते हैं। यदि गीत वन्द हो जायँ तो स्वभावत. नृत्य भी वन्द हो जाते हैं।

कुछ नृत्य ऐसे होते हैं, जो गीतो के साथ जन्म नही लेते। वे किसी लय विशेष पर आधारित रहते हैं। इन नृत्यो के उद्गम मे प्राकृतिक ध्वनियो तथा जलप्रपातो की लयप्रधान चपेटो, वादलो के गर्जन तथा तूफानी ध्वनियो का वडा हाथ रहता है। निरतर ही इन आवाज़ो को सुनते हुए मनुष्य के अग फडकने लगते हैं और वार-वार इन क्रिया-प्रक्रियाओ से ये भगिमाएँ शरीर मे रूढ हो जाती हैं। मनुष्य अनादिकाल से इन ध्वनियो पर आनन्दोल्लसित होता आया है। ये ही भगिमाएँ उसके जीवन की अज्ञात प्रेरणा वन जाती हैं। उनका स्थायित्व नही होता, क्योकि वे आती हैं और नष्ट हो जाती हैं। ये प्रेरणाएँ मूर्तरूप तव धारण करती हैं, जव उनके अनुरूप हा उन्हें किसी अन्य

माध्यम से लय प्राप्त होती हैं। जैसे किसी ढोल की लय पर अनायास ही पद-संचार होना तथा अंगो का फडकना। इस तरह ढोल, ढोलक, झाझ, नक्काडे आदि की प्रेरणादायी चोटो पर मनुष्य की परम्परागत तथा अनुभवगत भगिमाएँ स्वरूप धारण करती जाती हैं। इन साजो की लयप्रधान चोटें ही भगिमाओं को वैविध्य की ओर प्रवृत्त करती हैं। इन भगिमाओ के साथ गीतो की संगति इसलिये आवश्यक नही होती कि इन वाद्यो द्वारा निकली हुई लय ही गीतो का काम करती हैं। ऐसे नृत्य अत्यंत प्रेरणादायी और ओजपूर्ण होते हैं।

लोकनृत्य और भंगिमाएँ

लोकनृत्यो की समस्त भगिमाएँ स्वान्तःसुखाय, लयकारी, सहज तथा कल्पनासयत और उल्लासकारी होती है। भावोद्रेक से उद्भूत भगिमाएँ धीरे-धीरे अभ्यास, प्रचार, प्रसार तथा सामाजिक सपर्क से प्राजल होती जाती हैं और पूर्णरूप से विकसित होकर रूढ़ सी हो जाती हैं। ये भगिमाएँ लोकगीतों की स्वर-रचना की तरह ही सामाजिक धरोहर वनकर समस्त समाज की स्नेह-भाजन वनती हैं। रूढ भगिमाओ का कोई निर्धारित अर्थ नही होता। अर्थ यदि है तो उनके साथ जुडी हुई धुनो तथा लय के विविध प्रकारो के साथ वधा हुआ होता है। इन भगिमाओ का गूढ अर्थ नृत्य की आत्मा के साथ जुडा हुआ होता है। लोकाधार प्राप्त करने के वाद तथा समाज की रीतिनीतियो तथा संस्कारों को आत्मसात् करने के उपरान्त इन नृत्यो मे किसी प्रकार का आंतरिक परिवर्तन असगत होता है। यही कारण है कि गुजरात के गरवे एव राजस्थान के घूमरनृत्यो मे क्षेत्रीय अतर के उपरान्त उनका मूल स्वरूप प्राय एक सा ही होता है।

शास्त्रीय नृत्यो की तरह लोकनृत्यो की मुद्राएँ पूर्वनिश्चित नही होती, न उनकी मुद्राओ का कोई शास्त्र ही होता है। प्रेरणामूलक जो भी भगिमाएँ उनके साथ रूढ हो गई हैं उनका कोई अर्थ नही है। लोकनृत्यों मे गीतो के अर्थों को मुद्राओ के माध्यम से उलथाने की भी कोई परम्परा नहीं है। उनमे नृत्यनाट्यो के अतिरिक्त अभिनय या अभिनयात्मक तात्पर्य प्रकट करने का कोई प्रचलन नही है, न उनका गीतो के अर्थों से ही कोई लाक्षणिक या व्यंजनात्मक सम्वन्ध होता है। लोकशैली के नृत्यनाट्यो मे जहाँ भी सवादी गीतनृत्य हैं, वहाँ भी अग-सचालन गीतो के आधार पर प्रेरणामूलक मुद्राओ तथा अगभगिमाओ के माध्यम से होता है, परन्तु लोकनृत्यों के गीतो के साथ अग की

मुद्राएँ तथा पदचापें लय के साथ अपने बधे हुए क्रम मे पुनरावर्तित रहती हैं। गीत भी अबाध गति से उनके साथ चलता ही रहता है। प्रयोक्ताओ को यह भी भान नही रहता कि वे नाच के साथ गा भी रहे हैं। ये दोनो चीजें जुडी हुई होते हुए भी एक दूसरे से अलग ही हैं।

लोकनृत्यो की भगिमाओ मे हाथ, कधे, कटि, ग्रीवा तथा पद-सचालन की प्रधानता रहती है। हथेली की कारीगरी तथा उंगलियो की बारीकियाँ उनमे नही होती। नयन, भृकुटि, ग्रीवा, ठुड्डी, कलई आदि के सचालन से लोकनृत्य अपना कोई सम्बन्ध नही रखता। सहजगति से ताल-स्वर पर चलने वाले ये अग-प्रत्यग नृत्य की शोभा मे हाथ बँटाते हैं। लोकनृत्यो की पदचापें भी सरल और सहज होती हैं। उनमे चाल तथा लय का वैविध्य अवश्य होता है, परन्तु वे नृत्यकारो को क्लिष्टताओ मे नही उतारती। गीत गाते हुए सहज गति से जो पद-सचालन होता है उसका ही निभाव लोकनृत्यो मे हो सकता है। कभी-कभी तो लोकनृत्यो की बणघट सहज गति से ही इतनी प्यारी बन पडती है कि उल्लास ही उल्लास मे नृत्यकार अनेक कठिन पदचापो की सृष्टि करता है।

लोकनृत्यो मे अगभगिमाओ की विविधता उनकी उल्लासकारी प्रकृति पर आधारित रहती है। यदि गीतो की लय मे और उनकी रचना मे प्रेरणा-मूलक गुण हैं तो निश्चय ही अगो का सचालन भी उनके साथ प्रेरणामूलक होता है। यदि लय ही मृतप्राय और प्रेरणाहीन है तो पद-सचालन के अतिरिक्त मुद्राओ का वहाँ कोई विशेष लालित्य दृष्टिगत नहीं होता है। गीतो की स्वर-रचना मे यदि प्रेरक तथा मनोमुग्धकारी गुण हैं तो नृत्यमुद्राओ का भी उन्हे सहज सयोग मिल जाता है। ये स्वर-रचनाएँ जो मूल मे किसी विशेष भावोद्रेक की स्थिति मे ही होती हैं, रचयिता की उल्लासकारी मन:स्थिति की ही द्योतक होती हैं। ये ही मन:स्थितियाँ उनके साथ जुडी हुई अगभगिमाओ मे भी स्वर-रचना की तरह ही व्यक्त होती हैं। उनका समस्त वैविध्य स्वर-रचना और उनमे निहित लय के वैविध्य पर निर्भर करता है, जो समाजीकरण की प्रक्रिया से असख्य कल्पनाओ और उल्लासकारी रचनाओ को अपने मे निहित करके स्वत ही परिपुष्ट होता रहता है।

आदिवासियो के लोकनृत्य

आदिवासियो के नृत्य यद्यपि लोकनृत्यो की श्रेणी मे ही आते हैं, परन्तु कई कारणो से उनका पृथक् वर्गीकरण आवश्यक है। इन कुछ वर्षों मे लोक-नृत्यो से सम्बन्धित सैद्धान्तिक ज्ञान की कमी के कारण आदिवासियो के नृत्य

ही लोकनृत्य समझे जाते हैं। आदिम लोकनृत्यो के पीछे एक विशिष्ट भावना है। उसका अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है।

आदिवासी वे ही हैं, जो अपने रहनसहन, वेशभूषा, आचारविचार, रस्मरिवाज तथा धार्मिक और सामाजिक भावनाओ मे आदिम है, अथवा जिन्होने आदिम मानव की कई विशेषताओ को आज की सभ्यता से बचाकर सुरक्षित रखा है। यही कारण है कि आदिवासी, जो किसी समय भारतवर्ष के आदिनिवासी थे, धीरे-धीरे अपने को बाहरी आक्रमणकारियो के प्रभाव से बचाने के लिये घाटियो और जगलो मे चले गये। इसलिये आज के भील, गोंड, कोरकू, बेगा, मूड़िया, उराव, सथाल, नागा आदि जातियाँ पहाडो और घाटियो मे ही निवास करती हैं। इनमे से कुछ पर सभ्यता का कम और कुछ पर अधिक प्रभाव अवश्य पड़ा है, परन्तु फिर भी वे आदिमजातियो के मूल तत्त्वो को आज भी बचाये हुए हैं। इन सभी आदिम जातियो मे, चाहे वे अरावली और विन्ध्याचल की पहाड़ियो मे रहनेवाली हो, चाहे आसाम की पहाड़ियो मे, चाहे नीलगिरि के निवासी हो, मूल मानवीय तत्त्वो (आकृति के अलावा) में समानता है। उनकी कुछ विशेषताएँ इस प्रकार हैं—(१) खुली हवा के प्रेमी तथा प्रकृति से अधिक निकट रहने के अभ्यस्त। (२) दैनिक मानवीय आवश्यकताओ से दूर और आजीविका के सम्बन्ध मे प्रकृति पर अधिक निर्भर। (३) वस्त्राभूषण के मामले मे भी प्रकृति के निकट और प्राकृतिक अलकरण के रूप मे ही अपने स्वय के अलकरण की रचना। (४) अत्यन्त सरल और मौलिक सामाजिक सगठन, जिसमे आधुनिक सभ्यता की जटिलताओ की कमी। (५) वैयक्तिक कौटुम्बिक जीवन और स्वतत्र एव ढीला वैवाहिक सम्बन्ध, मूल आदिवासियो की तरह ही। (६) नृत्यगीत के शौकीन। (७) मौलिक प्रसाधनो की पूजा, धार्मिक विश्वासो मे प्राथमिकता और जटिलता की कमी। (८) मौलिक प्राकृतिक शक्ति पर अधभक्ति। (९) दु ख, सुख तथा अन्य मानवीय भावनाओ के सबध मे अत्यन्त व्यवहारिक और निरासक्त।

आदिमजातियो के ये गुण न केवल भारत ही की आदिमजातियों मे पाये जाते हैं, वरन् ससार की सभी आदिमजातियो के भी प्राय ये ही प्राथमिक गुण हैं।

यह भी स्वयसिद्ध बात है कि किसी भी जातिविशेष के लोकनृत्यो मे उस जाति की सामाजिक और धार्मिक विशेषता के पूर्ण दर्शन हो सकते हैं।

आदिवासियो के लोकनृत्यो मे भी उन विशेपताओ की पूर्ण झलक है। यही कारण है कि समस्त ससार के आदिवासियो के नृत्यो की ये विशेषताएँ हैं–

(१) अत्यत ओजपूर्ण, शक्तिशाली अगभगिमाओ और लय-ताल की दृष्टि से अत्यत सरल और सुगम।

(२) कतारबद्ध, गोलाकार तथा चौकोर और अर्ध-गोलाकार कतारो मे सगठन और अगभगिमाओ के गठन मे अत्यन्त चपल और चुस्त।

(३) अधिकतर मिश्रित नृत्य, स्त्री पुरुषो की भावात्मक प्रतिक्रियाएँ, नृत्य के सग नाचते हुए भी अत्यन्त स्वस्थ और स्वाभाविक।

(४) नृत्यो के साथ चलनेवाले गीतो तथा ध्वनियो मे सरलता, एकरूपता तथा एकरसता। कभी-कभी साजो का मूक प्रयोग, उनका दिखावा अत्यधिक आकर्षक, परन्तु वादन अत्यन्त सरल और प्राथमिक।

(५) नृत्यों के साथ चलनेवाले गीतो मे शब्दो से अधिक ध्वनि का प्राधान्य तथा अधिकतर गूज पैदा करनेवाले स्वर।

(६) सामाजिक नृत्य, कथानृत्यो का नितान्त अभाव।

(७) आकर्षक अलकरण तथा प्राकृतिक पोशाक।

ये गुण लगभग सभी आदिम जातियो के नृत्यो मे कुछ कम-ज्यादा अनुपात मे पाये जाते हैं। उन पर अन्य स्थानीय विशेषताएँ तो है ही, फिर भी इन नृत्यो मे पुरातन परिपाटी और परम्परा का बडा प्रभाव है। उनमे आधुनिक जोडतोड, बनाव, सजाव, शृगार उनके गुणो को कम कर देते हैं। इनके नृत्यो मे सहज सचालन का ही प्राधान्य रहता है। यही कारण है कि समस्त भारतवर्ष के आदिमनृत्यो की अपनी अलग श्रेणी है। उन्हें अन्य लोकनृत्यो की श्रेणी मे डालना उचित नही।

नृत्यो एवं नृत्यनाट्यो की लोकशैली का व्यवसायीकरण

पिछले परिच्छेद मे यह दर्शाया गया है कि किसी भी विशिष्ट परिस्थिति मे आनन्द का अतिरेक होता है तो हृदय मे स्फुरण तथा अगो का सचालन होना अत्यन्त स्वाभाविक है और जब यह प्रक्रिया कोई सामूहिक रूप धारण कर लेती है तो वह अधिक समय तक टिक कर जनरुचि का विषय बन जाती

है। इस परिस्थिति के साथ कोई विशेष मंतव्य, समारोह या विश्वास जुड जाता है तो इन लयबद्ध क्रियाओं की पुनरावृत्ति होने लगती है और अनेक वैयक्तिक प्रतिभाओं के सम्मिश्रण से वे एक वृहद् आनन्ददायी नृत्य का रूप धारण कर लेती हैं।

इस प्रक्रिया के अनेक रूप प्रकट होते हैं। कभी वह प्राकृतिक एव भौगोलिक कारणों से सामूहिक आनन्द का प्रतीक बन जाती है। कभी किसी धार्मिक तथा परम्परागत पर्व के साथ जुडकर वह सामाजिक अनुष्ठान मे बदल जाती है और कभी दैनिक एवं पारिवारिक जीवन के किसी विशिष्ट अनुष्ठानिक अवसर पर समस्त परिवार के आनन्द और विश्वास की अभिव्यक्ति बन जाती है। ये प्रक्रियाएँ बहुधा आदिमजातियो के जीवन मे अधिक उभार पाती हैं, परन्तु अन्यत्र लोकजीवन मे भी उनके नाना स्वरूप दृष्टिगत होते हैं।

लोकशैली के व्यवसायीकरण की पृष्ठभूमि

इस सामूहिक आनन्द का स्फुरण लोकजीवन मे आगिक अभिव्यक्ति से कही अधिक लय की अभिव्यक्ति मे प्रकट होता है और वह आनन्द नानाप्रकार के गीतो को जन्म देता है। ये गीतनृत्य प्रारम्भ मे केवल आनन्द ही की अभिव्यक्ति के रूप मे प्रकट होते है, बाद मे आयोजन, नियोजन तथा सामाजिक प्रतिभा के जोडतोड से उनमे कलात्मक निखार आता है और वे विशिष्ट त्यौहार, पर्व तथा समारोहो की शोभा बन जाते हैं। गीत नृत्यो की यह अनूठी गगा लम्बे समय तक बहते, घिसते तथा व्यवहृत होते-होते अपनी विशुद्ध आनन्दोद्रेक की सीमा छोडकर प्रदर्शनात्मक गुण पकड़ लेती है और आगे जाकर धीरे-धीरे व्यवसायिक कला मे परिवर्तित हो जाती है। व्यवसायिक लोकगीत-नृत्यो का यह विशिष्ट प्रकार आदिमकला और सामुदायिक लोककला की तीसरी सीढी है, जो अपनी समस्त प्रेरणाएँ अपने पूर्व के दो स्वरूपो से प्राप्त करती हैं। आदिमकला विशुद्ध स्वान्त सुखाय भावोद्रेकमयी कला है और उसी दायरे मे बढती, पनपती तथा सचरित होती है, परन्तु सामुदायिक लोककला, जिसका उपयोग अन्य ग्रामीण जातियाँ करती हैं तथा जिसकी व्यजनाएँ अधिक व्यापक और वैविध्यपूर्ण होती है, सीमाओ को नही मानती और नित्तप्रति अपनी कला-सामग्री की अभिवृद्धि मे नवीन रस-स्रोत की ओर उन्मुख रहती है। यही सामुदायिक लोककला अपने सामुदायिक रूप से बाहर निकल कर कुछ विशिष्ट कलाकार एव कलादल की प्रतिभा के साथ जुड जाती है और समाज के प्रबल मनोरजन की साधन बन जाती है।

आदिम जीवन मे नृत्य के व्यवसायीकरण तथा प्रदर्शनीकरण की कल्पना ही अत्यत हेय कल्पना है, क्योकि कोई भी आदिवासी अपने आनद के लिये दूसरो पर निर्भर रहना पसद नही करता। वह आनन्द स्वय प्रकट करता है और उसके साथ सस्कारवत् जुड जाता है, परन्तु अन्य ग्राम्यवासी अनेक सामाजिक परिस्थितियो के कारण बहुधा इस सहज और अत्यन्त स्वाभाविक प्रक्रिया से कतराता है, जिसके फलस्वरूप यह आनन्दप्रदायन का कार्य कुछ व्यवसायिक जातियाँ स्वय उठा लेती हैं। ये विशिष्टजन अपनी विशिष्ट कलात्मक प्रतिभा से कुछ प्रचलित नृत्यगीतो को अत्यत रगीन एव चमत्कारिक बनाकर पेश करते हैं।

आनदाभिव्यक्ति मे गायन ही ऐसी प्रक्रिया है, जो आदिम जीवन, लोक-जीवन तथा शहरी जीवन मे कोई फर्क नही देखती और कही न कही उसका प्रकटीकरण किसी न किसी रूप मे होता ही है। इस प्रक्रिया को सामाजिक हीनता का शिकार तब तक नही होना पडता, जब तक वह केवल आत्मानन्द तक ही सीमित रहे। जब वह व्यवसाय या विशिष्ट प्रदर्शनात्मक तत्त्वो से घिर जाती है तो निश्चय ही उसका दायरा छोटा हो जाता है। आदिमजीवन मे तो इसका कोई भी भय नही है, क्योकि वहाँ सामाजिक बधन है ही नही। वहाँ तो गीत ही क्या स्वय नृत्य भी सामाजिक गौरव का प्रतीक होता है। दोनों गेय प्रक्रियाओ मे इतना फर्क अवश्य है कि आदिम-गेय अभिव्यक्ति मे गीतो की रगीनियाँ कम होती हैं तथा विषय, शब्द तथा स्वर का वैविध्य प्राय नही होता जबकि अन्य लौकिक गेय अभिव्यक्ति मे इनका बहुत ही सुन्दर विस्तार होता है। यही बात नृत्यो के सम्बन्ध मे भी लागू होती है।

नृत्य एव गीतो की इन विविध प्रक्रियाओ को नाना स्वरूप तथा स्तर पकडते हुए सहस्रो वर्ष बीत गये हैं और जैसे-जैसे समाज का विकास होता है तथा अपनी विशुद्ध भावात्मक पक्ष से बाहर निकलकर वे बौद्धिक तत्त्वो का सहारा पकडती है, वैसे-वैसे इनका स्वरूप भी बदलता रहता है। आज तो नृत्यगीतो की अनेक श्रेणियाँ बन गई हैं। कही वे केवल आनन्द की अभिव्यक्ति के माध्यम बन गये हैं। कही वे जीवन के अनुष्ठान के रूप मे नजर आते हैं। कही वे केवल रूढिमात्र रह गये हैं। कही वे शास्त्रीय कला के समकक्ष आगये है तो कही वे स्वय शास्त्रीय बन गये हैं। अत आज नृत्यगीत की स्थिति केवल आनन्दोद्रेक तक ही नही रही है। स्वय आदिमजातियाँ भी सभ्यता की नवीन

रोशनी देखकर बडी तेजी से अपनी नृत्यगीत-परम्परा को खो रही हैं। लोकजीवन मे तो नृत्य केवल कुछ अनुष्ठानो तथा त्यौहारो तक ही सीमित रह गया है और वह भी अपने सामूहिक तथा सामुदायिक रूप मे नही।

इसी मामाजिक हीनता के कारण नृत्यगीतो का बड़ी तेजी से व्यवसायीकरण होने लगा है। शास्त्रीय कला तो व्यवसाय पर आधारित है ही और वही उसके विकास का माध्यम भी है, परन्तु लोकनृत्य मे भी यह प्रक्रिया अविक से अधिक बलवती बनती जा रही है। आज यदि विशुद्ध सामुदायिक एव आनन्दप्रद नृत्य देखना है तो वह केवल आदिमक्षेत्रो मे ही देखा जा सकता है। लौकिक जीवन मे केवल उसकी कही-कही झाँकियाँ ही प्राप्त होती हैं। शहरी जीवन मे प्राय. उमका लोप ही हो गया है। ये विशिष्ट कला-जातियाँ अपने व्यवसायिक नृत्य एवं नृत्यनाट्यों से समाज के विशिष्ट तत्त्वो को पारिश्रमिक लेकर मनोरजित करती हैं।

इम विशिष्ट प्रक्रिया के कारण हमें आज लोकनृत्यो को इस पृष्ठभूमि मे देखने की आदत डालनी है। इसी विशिष्ट परिस्थिति के कारण आज सामुदायिक लोकनृत्य आदिम लोकनृत्यो के रूप मे ही देखने को मिलते हैं। अन्य जातियो के सामुदायिक लोकनृत्य कुछ ही अवमरो पर देखे जा सकते हैं। ये जातीय नृत्य राजस्थान मे होली तथा गणगोर के अवसर पर, घूमर, घूमरा, गीदड के रूप मे, असम मे शादी-विवाह के अवसर पर हरिबजनाई, वैंसाखू, वीड आदि के रूप मे, पजाब मे कार्तिक एव वैसाखी के अवसर पर भागडा तथा गिद्दा के रूप मे, ब्रजभूमि मे होली या चैती के मौके पर नानाप्रकार के रास तथा फाग के रूप मे, महाराष्ट्र मे जन्माष्टमी के अवसर पर दही कला तथा गणपति उत्सव पर लेजिम नृत्य के रूप मे, आध्र-प्रदेश मे दशहरा के अवसर पर डंडारिया नृत्य के रूप में, मणिपुर मे वसत के अवसर पर राखल एव थवल चुंग्बी के रूप मे तथा मध्यप्रदेश के आदिम-क्षेत्रो मे विविध पर्व, उत्सवो पर होनेवाले कर्मा एव डमकच नृत्यो के रूप में भली प्रकार देखे जा सकते हैं। इनके अलावा जीवन के दैनिक प्रसगो मे तो इनका प्राय लोप ही हो गया है।

आदिमनृत्यो को छोडकर अन्य जातियो के सामुदायिक लोकनृत्यो मे भी बहुधा निम्नवर्गीय या श्रमवर्गीय जातियाँ ही भाग लेती हैं। उच्च-वर्गीय जातियो मे तो नृत्य आज केवल अनुष्ठानिक रूप मे चिपका रह गया है।।जैसे राजस्थान की घूमर जो विशिष्ट पर्वों पर उच्चवर्गीय स्त्रियो द्वारा

भी नाची जाती है और जिसमे केवल औपचारिकता के अलावा विशेष कला नही है। यही घूमर जब राजस्थान की व्यवसायिक जातियो की स्त्रियां जैसे ढोलन, पातरन, सरगडिन, दरोगन आदि नाचती हैं तो उसमे नानाप्रकार की रगीनियां एव नृत्यरचनात्मक (Choreographical) सामग्री के दर्शन होते हैं। इसी तरह दशहरा, दिवाली के अवसर पर गुजरात की प्राय. सभी वर्ग की स्त्रियां गरवा या डाडिया रास करती हैं, परन्तु व्यवसायिक या निम्नवर्गीय जातियो द्वारा किये हुए गरवे अन्य उच्चवर्गीय या केवल औपचारिक रूप से किये हुए नृत्यो से कही अधिक रगीन एव वैविध्यपूर्ण होते हैं। राजस्थान मे भी होली के अवसर पर गैर नामक नृत्य सामुदायिक रूप से अनेक जातियो द्वारा किया जाता है। स्वात सुखाय एव विशाल समुदाय द्वारा एक ही साथ होने के कारण यह नृत्य अत्यन्त सरल होता है। ढोल या नक्काडे की लय पर जन-समुदाय गोलाकार चलते हुए अपने डडो को आपस मे टकराता है। उसमे कही विशेष रगीनी या दर्शनीय सामग्री नही होती। यही नृत्य राजस्थान के शेखा-वाटी क्षेत्र मे गीदड के रूप मे बदल जाता है। वहां के प्रत्येक गांव और शहर मे स्वस्थ प्रतिस्पर्धा के रूप मे इस नृत्य ने बड़ी महिमा प्राप्त करली है। इसमे लगभग सभी वर्ग के लोग भाग लेते हैं, तथा वह एक सार्वजनिक अनुष्ठान के रूप मे विकसित हुआ है। शेखावाटी का एक अन्य अनुष्ठा-निक नृत्य चौकचादनी और है जो गणेशचतुर्थी के दिन एक विशाल सामुदा-यिक जलूस के रूप मे प्रकट होता है। कुछ अनुष्ठानिक नृत्य ऐसे भी हैं, जो न केवल निम्नवर्गीय जातियो के साथ ही बल्कि उच्चवर्गीय जातियो के साथ भी जुडे हुए हैं, जिनके बिना कोई भी विशिष्ट प्रसग सम्पन्न हुआ नही समझा जा सकता। राजस्थान की उच्चवर्गीय जातियो मे जब विवाह-उत्सव के अवसर पर विनायक पूजा का प्रसग आता है तो कुम्हार के घर से समारोह के साथ कलश लाने होते हैं। उससे पूर्व कुम्हार के चाक की पूजा करते समय किसी भी प्रतिष्ठित महिला को नाचना आवश्यक होता है। उस नृत्य मे यद्यपि कला के कही दर्शन नही होते, परन्तु वह नृत्य एक तरह से उस प्रसग का बहुत ही महत्त्वपूर्ण अनुष्ठान बन गया है। राजस्थान की कुछ जातियो मे जब दूल्हा, दुलहिन को लेकर समारोहपूर्वक घर जाता है, तो दूल्हे की काकी को रास्ते भर नाचतेहुए जाना पडता है। इस प्रकार के अनेक अनुष्ठानिक प्रसग हैं जिनके साथ नृत्य आज भी चिपका हुआ रह गया है।

नृत्यो के ऐसे अनुष्ठानिक प्रसग एक नही अनेक है। मेवाड़भूमि के प्रसिद्ध चारभुजा के मदिर मे जब भादों की देवझूलनी एकादशी का वृहद् मेला

लगता है तो मुख्य मदिर मे माहेश्वरी जाति के उच्चवर्गीय पुरुषो को सामूहिक रूप से घटो नाचना होता है। इसी प्रकार राजस्थान के जैन मदिरों मे संवत्सरी पर्व पर वैश्य कुल के वडे-वडे वयोवृद्ध एव प्रतिष्ठा-प्राप्त व्यक्तियो को नाचना अनिवार्य होता है। इस प्रकार के अनुष्ठानिक प्रसग तो लगभग सभी राज्यो मे सभी उच्चवर्गीय जनसमुदाय मे आज भी दृष्टिगत हो सकते हैं, परन्तु उनका अन्य स्वान्त सुखाय सामुदायिक स्वरुप जो जीवन का अग वन गया हो, बहुत ही कम देखने को मिलता है।

लोकनृत्यो का व्यवसायीकरण

पिछले १०० वर्षों में लोकनृत्यो को व्यवसायिक वनाने की प्रवृत्ति लगभग सारे ही देश में चल पडी है। अव अधिकाश सामुदायिक लोकनृत्य सामुदायिक न रहकर व्यवसायिक स्वरूप पकड रहे हैं। इस प्रक्रिया के पोषक तत्वो मे देश का वर्तमान औद्योगीकरण, समाज को आक्रान्त करनेवाली आर्थिक एव सामाजिक समस्याए तथा जीवन को नीरस एव कु ठित करनेवाले वौद्धिक तत्व विशेष उल्लेखनीय हैं। जीवन मे परम्परागत निष्ठा, विश्वास तथा किसी विशिष्ट व्यक्ति, विचार एव शक्ति के प्रति अतार्किक आस्था के अभाव मे भी मनुष्य ने अपने भावात्मक तत्वो को खो दिया है, तथा ऐसी सव परम्पराओ को त्याग दिया है, जिनके साथ नृत्य, गान, नाट्य आदि अटूट विश्वास के रूप मे जुडे हुए थे। इसलिये भी वे अव जीवन के अभिन्न अग नही रहे। अत इस युग मे केवल वाह्य माध्यम से मनोरजित होने की प्रक्रिया दिन व दिन जोर पकडती जारही है और स्वान्त सुखाय एव स्वरचित मनोरजन की प्रक्रिया लुप्तप्राय सी हो रही है। दिन भर के व्यस्त एव चिन्ताग्रस्त जीवन के लिये केवल कुछ खर्च करके मनोरजनगृह मे जाकर अपना मन वहलाव करना ही पर्याप्त समझा जारहा है और मनोरजनात्मक क्रियाओ मे स्वय निरत होना फैशन से वाहर हो गया है।

यही कारण है कि शहरो मे जिम तरह सिनेमा तथा नाटकघरों की सख्या वढ रही है, उसी तरह गांवों मे भी व्यवसायिक मनोरजन की प्रक्रिया दिन व दिन ज़ोर पकडती जारही है। पहले गांवो मे स्वय नाटक रचकर उमे एक सामुदायिक रूप मे खेलने की आदत थी, वह प्राय. लुप्तप्राय सी हो रही है और व्यवसायिक नाटक मडलियो ने उनका स्थान ग्रहण कर लिया है। इसी तरह स्वय नाच गा कर मनोरजित होने की आदत कम पड

रही है और व्यवसायिक नाच करनेवाली जातियों की अभिवृद्धि हो रही है। किन्ही-किन्ही गाँवो मे मनोरजन के आधुनिक ढग भी गश्ती चलचित्रो के रूप मे प्रवेश पाने लगे हैं। आदिवासी स्वय भी आधुनीकरण की चकाचौंध मे अपने स्वान्त सुखाय सामुदायिक मनोरजन को खो रहे हैं।

अब प्रश्न यह है कि क्या मनोरजन की लोक परम्पराएँ व्यवसायीकरण के युग मे जीवित रह सकती हैं? इसका उत्तर केवल इस तथ्य से ही मिल सकता है कि यह व्यवसायीकरण की परम्परा केवल इसी युग की देन नही है, बल्कि अनादिकाल से ही सामुदायिक कलाओ का व्यवसायीकरण होता आ रहा है। शास्त्रीय कलाएँ भी एक प्रकार से लोककला के व्यवसायीकरण को ही स्वरूप हैं। यद्यपि दोनो मे तात्विक दृष्टि से काफी अन्तर है। व्यवसायिक लोककलाओ मे लोककला के प्राय: सभी तत्व विद्यमान हैं। परन्तु शास्त्रीय कला मे लोककला के कोई तत्व विद्यमान नही हैं। सामुदायिक लोककलाएँ किस तरह व्यवसायिक रूप धारण करती हैं, इसका प्रत्यक्ष उदाहरण मथुरा शैली की व्यवसायिक रामलीला है। यही स्थिति उत्तरप्रदेश की रासलीलाओ की है। मन्दिरो मे होनेवाले नाना प्रकार के कीर्तनो के साथ प्रस्तुत की जानेवाली भगवान् की नाना प्रकार की झाकियाँ धीरे-धीरे व्यवसायिक रासलीलाओ मे परिणत हुईं जिन्हें रासधारिये गाँव-गाँव, नगर-नगर लिये फिरते हैं। यही हाल बगाल और बिहार की जात्राओ का है। भक्त यात्रियो के बड़े-बडे दल नाचते, गाते तथा नाना प्रकार की लीलाएँ करते हुए एक स्थल से दूसरे स्थल को यात्रा के रूप मे जाते थे। यही प्रक्रिया धीरे-धीरे विशिष्ट नाट्य-शैली का रूप धारण करती गई और कालान्तर मे व्यवसायिक जात्रा मे बदल गई।

यही रूपान्तर मणिपुर के लोकधर्मी सामुदायिक नृत्य मे भी हुआ और कही-कही तो उसने विशिष्ट शास्त्रीय रूप पकड लिया है। दक्षिण भारत की कथकली, यक्शगान, कुचपुडी तथा नृत्य-परम्पराओ के सबध मे भी प्राय. यही बात कही जा सकती है। राजस्थान के तो प्राय सभी लोकनाट्य तथा अधिकाश लोकनृत्य आज अपने सामुदायिक रूप को छोडकर अपने व्यवसायिक स्वरूप मे आगये हैं। राजस्थान और गुजरात की भवाई कला अपने लोकधर्मी सामुदायिक स्वरूप को छोडकर विशिष्ट व्यवसायिक कला का रूप धारण कर शास्त्रीय कला का भान कराती है।

लोकशैली के व्यवसायीकरण मे दिशानिर्देश

लोककला के सामुदायिक तथा स्वान्तःसुखाय स्वरूप ही को लोककला मानने का तर्क अब अधिक समय तक हमारे देश मे मान्य नही हो सकता, क्योकि कुछ अनुष्ठानिक अवसरो तथा आदिम जीवन के कुछ प्रसगो को छोडकर लोककला का सामुदायिक स्वरूप हमारे देश मे शेष नही रह गया है। जो भी आज शेष है, उसमें व्यवसायिक लोककला की ही प्रधानता है। अत यह अत्यत विचारणीय प्रश्न है कि क्या इस व्यवसायीकरण को किसी दिशा-निर्देश तथा नियोजन-आयोजन की आवश्यकता है, जिससे लोककला का सही स्वरूप अक्षुण्ण रह सके और उसको जीवन की इन परिवर्तित स्थितियो मे बढावा मिल सके। यह भी सोचना अनुचित नहीं होगा कि व्यवसायिक लोककला के इस बढते हुए व्यवसायिक तथा प्रदर्शनीय पक्ष को आज सर्वाधिक प्रश्रय मिल रहा है। किसी भी सार्वजनिक समारोह मे, चाहे वह सामाजिक एव राष्ट्रीय स्तर पर हो या किसी स्कूल, कालेज, जाति, सप्रदाय या व्यक्ति-विशेष से सबधित हो, लोकनृत्य का कार्यक्रम प्रायः अनिवार्य सा होगया है। परम्परागत या अनुष्ठानिक समारोहो मे तो व्यवसायिक लोकनृत्यो के कार्यक्रम परम्परा से ही जुडे होते हैं, परन्तु आज के अधिकाश समारोहो मे, जिनका सम्बन्ध परम्परा या किसी अनुष्ठान-विशेष से नही होता, जो नृत्य पेश किये जाते हैं, वे बहुधा मौलिक न होकर केवल नकल मात्र होते हैं। कही-कहीं तो यह नकल केवल पोशाक तक ही सीमित रहती है। आज की फिल्मो मे तो इन बेमेल पोशाको और नृत्यो का मेला ही दीख पडता है। इन आधुनिक मनोरजन के लिये उनमे प्रयुक्त होनेवाले लोकनृत्य और लोकगीत तो आधुनक रचयिताओं के दिमाग ही की उपज होते हैं। उनमे जनता की रुचि भी मौलिक लोकनृत्यो से कही अधिक निहित रहती है, क्योकि आधुनिक फिल्मी रचना-विधि की सम्पूर्ण कलाबाजी का उनमे समावेश होता है और दर्शकों मे चकाचौंध पैदा करने की उनमे भरपूर क्षमता होती है।

अन्य आधुनिक समारोहो मे जो नकली लोकनृत्य और गीत पेश होते हैं, उनमें तो फिल्मी कला जितनी भी सामर्थ्य नही होती। लोकनृत्यो के इस बेमेल आधुनीकरण के कारण स्वयं मौलिक लोकनृत्यकार भी अपनी कला को मौलिक से पेश करने मे अपनी हीनता समझते हैं और वे स्वय भी इस नकल मे अपने आपको समन्वित कर देते हैं।

यह प्रवृत्ति न केवल ग्राम्य या शहरी क्षेत्रो में ही परिलक्षित होती है, बल्कि आदिम क्षेत्रो मे भी इसके नाना रूप दिखलाई देने लगे है। विशेष

करके उन आदिम नृत्यकारो में, जिनके नृत्यो को प्रदर्शन का माध्यम बनाकर शहरी समारोहो मे पेश किया जाता है, जिससे इन मौलिक नृत्यों का स्वान्त-सुखाय पक्ष दुर्बल होकर उनका प्रदर्शनात्मक पक्ष प्रबल हुआ है, इस प्रवृत्ति का सर्वाधिक कुप्रभाव तो आदिम जातियो के लिये विशेष रूप से स्थापित हुए स्कूलों, सार्वजनिक सस्थानो तथा आदिम कल्याण क्षेत्रो मे परिलक्षित होता है, जिससे इनकी स्वान्त सुखाय एवं मौलिक कला-वुद्धि पर परदा पड गया है। इन सस्थानो मे प्रशिक्षित होनेवाले स्वय भी अपनी मौलिक कला को अत्यन्त हीन दृष्टि से देखने लगे हैं।

मौलिक लोकनृत्यो को परिवर्द्धित एव संशोधित करके प्रस्तुत करनेवालो मे पेशेवर नृत्यदलो का स्थान सर्वोपरि है। उन्होने लोकनृत्य एव लोकनृत्य शैलियो का प्रचुरता से प्रयोग किया है। इनमे से अधिकाश प्रयोग तो इसलिये भी असफल होते हैं, क्योकि वे अध्ययन एव स्वय के व्यवहारिक अनुभव पर आधारित नही होते। उनमे से कुछ कला-निर्देशक तो ऐसे भी होते हैं जो स्वय की उपज एव कलाबुद्धि से लोकनृत्यो की रचना करने की चेष्टा करते है, जिससे उनका आकार-प्रकार लोकनृत्यो जैसा अवश्य लगता है, परन्तु उनमे लोकनृत्यो की आत्मा का स्पर्श भी नही होता। ये नकली लोकनृत्य फिल्मी नृत्यो की तरह कानो को भले अवश्य लगते है, परन्तु वे हृदय को स्पर्श नही करते।

कुछ नृत्यदल हमारे देश मे ऐसे भी हैं जो लोकनृत्यो का आधार अवश्य ग्रहण करते हैं, परन्तु उनकी समस्त रचना मे शास्त्रीय, लोक तथा आधुनिक नृत्यशैलियो की अत्यन्त बेमेल खिचडी पकती है। इन रचनाओ मे सबसे अधिक निकृष्ट प्रवृत्ति यही है कि कही लोकनृत्य शास्त्रीय बनने की कोशिश करते हैं और कही शास्त्रीय नृत्य लोकनृत्य का आवरण धारण करके दर्शको मे भयकर अरुचि पैदा कर देते हैं। ऐसे प्रयोग बहुधा आधुनिक शैली की नृत्यनाटिकाओ मे सर्वाधिक होते हैं, विशेष करके ऐसी रचनाओ मे जो भारतीय बेले के नाम से नामाकित होती हैं। ये भारतीय बेले (Ballet) न तो युरोपीय बेले पद्धति पर आधारित रहते हैं न उनकी जडे कही भारतवर्ष मे ढूँढने से भी प्राप्त हो सकती हैं। हमारे इन आधुनिक रचनाकारो को यह भली प्रकार मालूम होते हुए भी कि बेले (Ballet) जैसी कोई परम्परा हमारे देश मे नही है और न उनका आधार यूरोपीय बेले का है, फिर भी वे इस भयकर कुचेष्टा मे अपना समय नष्ट करके सबकी मजाक के पात्र बनते हैं। कुछ आधुनिक रचनाकार ऐसे भी हैं, जो अपनी रचनाओ को बेले तो

नही कहते, परन्तु करते वही हैं जो वेले के रचनाकार करते हैं। नवीन कलास्वरूपो की खोज मे इन अति उत्साही रचनाकारो को जो भी विशेष प्रयास के बिना मिल जाता है, उसे वे पकड़ लेते हैं। इन रचनाकारो को इतना समय और धैर्य तो है नही कि वे अपनी शक्तियाँ लोकशैलियो के अध्ययन मे लगावें और अपनी नवीन रचनाओ के लिये कुछ ज्ञान और अनुभव अर्जित करें।

आज के इस औद्योगिक एव समस्यामूलक युग मे लोकनृत्यो के सामुदायिक एवं व्यवसायिक दोनो ही स्वरूप जनजीवन से दूर होते जा रहे है। शहरो के निकट के गाँवो मे तो उनका ह्रास ही हो गया है। जिन कलामर्मज्ञो और अध्येताओ को मौलिक लोकशैली की कला देखने या उसके अध्ययन का पागलपन होता है, उन्हें कई दिनो भूखे-प्यासे पैदल चलकर ऐसे ग्राम्य क्षेत्रो मे पहुँचना पडता है, जहाँ भोजन तो दूर रहा, निवास तक की भी व्यवस्था होना मुश्किल होता है। जिनको इसका पागलपन होता है, वे यह सब कष्ट झेलकर भी वहाँ पहुँच जाते हैं, परन्तु फिर भी उनका मनोरथ पूरा नही होता, क्योकि गाँव के कलाकार स्वयं यह जान गये हैं कि हमारी कला-सामग्री चुराकर उसको अपने स्वार्थ के लिये प्रयुक्त करनेवाले शहरी लुटेरे हमारे गाँव मे आ गये हैं। अत अधिकाश तो अपनी कला-सामग्री छिपाते हैं और यदि उनका प्रदर्शन भी होता है तो उसके लिये इन अध्येताओ को भारी खर्च करना पडता है। आज के आधुनिक रचयिताओ के पास इतना समय और कष्ट सहन करने की क्षमता कहाँ कि वे यह कष्टसाध्य कार्य करके अपने कला-ज्ञान की अभिवृद्धि करें। परिणाम यह होता है कि उन्हें जो भी झाँकियाँ इधर-उधर से प्राप्त हो जाती हैं, उन्ही का आधार मानकर वे अपने ज्ञान को अभिवृद्ध हुआ समझ लेते हैं और अपनी नवीन रचनाओ को लोकाधारित करने का असफल प्रयत्न करने लगते हैं।

अब प्रश्न यह है कि इस दिशा में सही कदम क्या हो सकता है? क्या लोकशैली की कलाओ का यह रूपान्तर वाछनीय है? जैसा कि पहले विवेचन हो चुका है कि सामुदायिक लोककलाओ का व्यवसायीकरण एक स्वाभाविक प्रक्रिया है, जिसमे लोककलाओ के विशिष्ट तत्व अपने आप अपना परिवर्तित रूप ग्रहण कर लेते हैं और अपने मूल स्वरूप को क़ायम रखते हुए विशिष्ट रुचि के कलाकारो के हाथ मे पडकर किसी विशिष्ट प्रदर्शनीय कला का स्वरूप धारण करते हैं। इस प्रक्रिया मे भी किसी विशिष्ट प्रयत्न

या निर्धारित अवधि का कही भी आभास नही मिलता। जिस तरह लोककलाओ का प्रादुर्भाव भी एक अज्ञात प्रक्रिया है और अज्ञात ही मे किसी अज्ञात व्यक्ति की प्रतिभा से परिस्फुटित होकर समष्टि की प्रतिभा पकड लेती है। ठीक उसी प्रकार सामुदायिक लोककला भी अज्ञात ही अज्ञात मे समष्टि की प्रतिभा से बाहर निकलकर अज्ञात ही मे कलात्मक अभिरुचि के किसी विशिष्ट कलात्मक जाति या समुदाय की प्रतिभा को पकड लेती है। इस प्रक्रिया मे भी कही किसी का निश्चित प्रयत्न, निर्धारित अवधि एव योजनाबद्ध प्रयास का आभास नही मिलता। सामुदायिक शैली की कला समुदाय से बाहर निकलकर विशिष्ट कलारुचि के कलाकार की प्रतिभा पकड लेती है और इस तरह अनेको विशिष्ट प्रतिभाओ को पकडते-पकडते किसी विशिष्ट कला, विशिष्ट समुदाय एव समाज के साथ जुड जाती है परन्तु अपना समष्टिगत स्वरूप नही खोती। जिस तरह अपने लोकस्वरूप से विकसित होकर शास्त्रीय कला विशिष्ट समुदाय एव व्यक्ति से सबद्ध होकर अपने लौकिक तत्वो को त्याग देती है, ठीक उसके विपरीत व्यवसायिक कला अपने लोकस्वरूप से विकसित होकर विशिष्ट समुदाय के साथ सबद्ध होते हुए अपने लोकतत्वों को अक्षुण्ण रखती है।

लोकशैली की सामुदायिक तथा व्यवसायिक कलाएँ यदि किसी विशिष्ट प्रयोजन से या किसी योजना के अतर्गत किसी व्यक्ति या दल-विशेष द्वारा परिवर्तित या रूपान्तरित की जाय तो उससे पूर्व उसके अनेक पहलुओ पर विचार आवश्यक है। यदि लोककलाओ के कुछ विशिष्ट तत्वो को नवीन रचनाओ मे प्रयुक्त किया जाय तो उसमे किसी को क्या आपत्ति हो सकती है? आपत्ति केवल उसी स्थिति मे हो सकती है जबकि लोकतत्वो के उपयोग मात्र से ही किसी नवीन रचना को लोककला ही मान लिया जाय। यदि रचनाकार पूर्ण ईमानदारी एव योजनाबद्ध तरीके से इन लोकतत्वो को अपनी रचना मे समाविष्ट करे तो निश्चय ही उस रचना मे चार चाँद लग ही सकते हैं और लोकशैली को भी प्रतिष्ठा प्राप्त हो सकती है।

इस महत्त्वपूर्ण तथा अत्यन्त कष्टसाध्य कार्य के लिये रचनाकार को लोकतत्वो से पूर्ण जानकारी प्राप्त करनी पडेगी तथा उसके विविध स्वरूपो से केवल परिचय ही नही उनका व्यवहारिक अभ्यास भी करना पडेगा। उसके लिये उसे लोकनृत्यो के उद्गम एव व्यवहार क्षेत्रो मे स्वय जाकर अनुभव प्राप्त करना होगा। इस तरह इन विविध कला स्वरूपो से पूर्ण आत्मसात् होने के उपरान्त ही वह उनके विशिष्ट तत्वो को अपनी

नवीन रचना के नवीन कलातत्वो के साथ तालमेल बिठाने मे समर्थ हो सकेगा। अनेक ऐसी आधुनिक रचनाएँ देखने मे आई हैं जिनमे वेशभूषा और मुद्राएँ तो कथकलि की हैं और पद-सचालन लोकशैली का। इसी तरह मणिपुरी वेशभूषा मे कत्थक नृत्य की चालें और लोकशैली की अगभगिमाओ की बेमेल खिचडी भी कई आधुनिक रचनाओ मे दृष्टिगत होती है, आदिम नृत्यों मे भवाई नृत्य की क्लिष्टता एव स्फूर्ति डाल देने से भी समस्त नृत्य-रचना का नाश हो सकता है। इस तरह की शैलीगत विषमताएँ भी प्राय सभी रचनाओ मे परिलक्षित होती हैं, जैसे नृत्य रचना का एक प्रसग राजस्थान की ख्याल शैली मे प्रस्तुत किया गया है और तुरन्त उसके बाद ही यक्षनाट्य की पद्धति में अभिनयात्मक शैली का उपयोग होता हो। इस तरह वेशभूषा, भावमुद्राएँ, अंगभगिमाएँ, प्रस्तुतीकरण, वाचन, सवाद, पद-सचालन आदि मे भयकर विषमताओ के दर्शन आज की अधिकाश नवीन नृत्य-रचनाओ मे देखने को मिलते हैं। इसे हम शास्त्रीय भाषा मे नवीन रचनाओ का रसाभास कह सकते हैं।

ऐसे अनेक छिटपुट नृत्य भी देखने को मिलते हैं, जिनमे पोशाकें नागा-नृत्य की हैं और मुद्राएँ एव प्रस्तुतीकरण कत्थकनृत्य के। इसी तरह मध्य-प्रदेश के माडिया मुडिया जाति के नृत्यो को गुजरात की गरबा शैली मे प्रस्तुत किया जाता है तथा गुजराती गरबो ने राजस्थान के डाडियानृत्य की शक्ल पकडली है। राजस्थान के घूमरनृत्य को स्कूलों मे सगीतात्मक व्यायाम की तरह प्रस्तुत किया जाता है तथा तेरहताल को मणिपुर के मजीरा नृत्य मे बदल दिया जाता है और मणिपुर का थोम्बुल चुंग्बी नृत्य राजस्थान की घूमर बन गया है।

ये विषमताएँ जितनी भारत की आधुनिक नृत्यनाटिकाओ मे परिलक्षित हो रही हैं उतनी अन्यत्र कही नही। लोकशैली के प्रतीकात्मक नाट्य प्रस्तुतीकरण मे भी यथातथ्य एव वास्तविक प्रस्तुतीकरण ने स्थान ले लिया है तथा स्ववाचन एव स्वगायन की परम्परा का स्थान पृष्ठगायकी को प्राप्त हो गया है। आधुनिक मूकाभिनय की शैली मे लोकनृत्यों का परिपाक उतना ही भद्दा लगता है, जैसे किसी वाक्पटु के मुंह पर ताला लगा दिया गया हो। कही-कहीं सामुदायिक रामलीलाओ की बहुस्थलीय रंगभूमि की शैली का स्थलीय रगमचीय शैली मे परिवर्तन भी बहुत बीभत्स हो गया है। परम्परागत कृष्णलीला की मधुरिमाओ और प्रस्तुतीकरण की विविधताओ

को छोडकर आधुनिक शैली के रासलीलाकार जितनी नयकर भूलें कर रहे हैं, उनका थोडा सा उल्लेख यहाँ अत्यन्त आवश्यक है। परम्परागत रासलीला का अनौपचारिक प्रस्तुतीकरण औपचारिक दृश्यावलियो मे वदलकर अत्यत वीभत्स रूप धारण कर गया है। परम्परागत रामलीला की सवाक् एवं सगीतमय मधुर वाणी को मूकाभिनय मे वदलकर नृत्य, सगीत, नाट्य, वाचन, अभिनय एव रस-निरूपण के सुन्दर परिपाक का कचूमर निकाल डाला है। आधुनिक रासलीलाओ मे कृष्ण नवीन शैली की रचनाओ की आड मे मूक अभिभाषण अवश्य करता है, परन्तु शास्त्रीय मुद्राओ का उसे ज्ञान नहीं होने से केवल भौंडी शक्ले वनाकर ही रह जाता है। परम्परागत शैली की राजस्थानी पोशाक पहिनी हुई राधा जव लहँगा साडी पहिने भरतनाट्य शैली मे उठक-वैठक लगाती है तो वह भौंडेपन के अलावा कोई भी नाटकीय प्रभाव पैदा नही करती। इसी तरह कस और कृष्ण के युद्ध मे जव कस मुकुट तथा धोती पहिने हुए नगे वदन मे कथकलि मुद्राओ मे युद्ध करता है और कृष्ण अपनी आधुनिक शैली की निरर्थक मुद्राओ का प्रदर्शन करता है तो उस वेमेल स्वाद मे कितना कडवापन होता है, उसका अनुभव इस तरह के प्रदर्शन देखने पर ही हो सकता है। कृष्ण राधा के विलाप के प्रसग मे जहाँ राधा का विलाप दिखलाया जाता है, वहा कृष्ण भक्त कवियो की मार्मिक काव्यधारा का परित्याग कर राधा वाद्य-सगीत की झकारो पर जो उछाड़-पछाड़ वताती है, उससे किसी भी दर्शक का हृदय द्रवीभूत नही होता।

वेमेल शैलियो के सम्मिश्रण से जो कुपरिणाम निकल सकते हैं, उसकी एक झलक यहां पेश किये विना नही रहा जा सकता। भीलो के गवरीनृत्य मे एक प्रसग वहुत ही अद्भुत ढग से प्रस्तुत किया जाता है। गौरी के नायक भगवान् वूढिया की प्रेरणा से प्रेरित दो लुटेरे जव वणजारो की वालद लूटने के लिये वृक्ष के ऊपर से गेंद की तरह ज़मीन पर कूद पडते हैं तो दर्शको के आश्चर्य की कोई सीमा नही रहती है। वे अपने शरीर पर रस्सियो का एक लूप ऐसा वनाते है, जिससे उनके शरीर पर अधिक झटका नही लगता। अपने नायक वूढिया मे उनका अटूट विश्वास होता है और उस विश्वास ही विश्वास मे वे इतना कठिन कार्य कर वैठते हैं। एक आधुनिक रचयिता ने इस कला की नकल अपने एक रगमचीय प्रदर्शन मे की। रस्सी का लूप भी अत्यन्त सफलतापूर्वक वना लिया गया परन्तु जव कलाकार रगमच के ऊपर के चौखटे से ज़मीन पर कूदा तो परम्परागत विश्वास और उससे प्रेरित

शक्ति के अभाव मे वह अपनी हड्डियाँ तोड़े बिना नही रह सका । समस्त खेल मे भयकर बाधा उत्पन्न हुई और पात्र को तीन माह तक अस्पताल की हवा खानी पड़ी। सही बात यह है कि मौलिक गवरी में चोर पात्र बूढिया देव की अत्यधिक भावना से अभिभूत होते है। वे लगभग सारे ही प्रसग मे अचेतन से रहते हैं। भीली भाषा मे उसे भाव की स्थिति कहते हैं। इस भाव की स्थिति मे न केवल अभिनेता ही रहते है, बल्कि कभी-कभी दर्शकगण भी उससे अभिभूत हो जाते हैं। अत जब चोर उस भावोद्रेक की निष्ठामूलक स्थिति मे वृक्ष से कूदते हैं तो उनको तनिक भी चोट नही लगती। परन्तु जब आधुनिक रगमंच पर इसकी नकल की गई तो वह उनके लिये बहुत महँगी पडी।

इसी तरह यदि किसी आधुनिक रगमच पर, जिसके हल्केफुल्के देवदार के पटिये लगे हो, अनेक नाजुक बल्बो की रोशनिया सजाई गई हो, अनेक बेलबूटेवाले परदो का उपयोग किया गया हो, वहाँ यदि मध्यप्रदेश के 'मांच' जैसी तख्तातोड़ नृत्य-पद्धति को अपनाया जाय तो मच के टुकडे-टुकड़े होने मे कोई समय नही लगेगा। मध्यप्रदेश के मांच जमीन से लगभग ८ फुट की ऊंचाई तक बनाये जाते हैं और लकडी भी इतनी मजबूत लगाई जाती है कि हाथी भी उस पर कूदे तो नही टूटे। यदि इस तख्तातोड शैली को आधुनिक रगमच पर अपनाया जाय तो वह सर्वथा गलत क़दम होगा। यही बात पोशाक, प्रसग, विषय, पात्र आदि के सबध में भी कही जा सकती है। बहुधा परम्परागत लोकनृत्य एवं नाट्यशैली के सभी नाटको मे एक ही प्रकार की पोशाको का प्रयोग होता है। उनके प्रत्येक पात्र पुरातन होते हुए भी आधुनिकतम व्यवहार के होते हैं, इसीलिए राजस्थानी रासधारियो के राम की पोशाक मे और मध्यकालीन अमरसिंह राठोड की पोशाक मे अधिक अन्तर नहीं होता। इसी तरह सीता राजस्थानी साडी घाघरे में ही प्रयुक्त होती है। वह व्यवहार भी आधुनिक पात्रो की तरह करती है। यदि यह शैली आधुनिक रचना शैली मे अपनाई जाय तो उसका बहुत ही विचित्र प्रभाव जनता पर पड सकता है।

लोकनृत्य एव नाट्यों में इतिहास का आधार बहुत कम रहता है। लोकप्रचलित परम्परा ही उनका इतिहास बन जाती है। ऐतिहासिक दृष्टि से निराधार होते हुए भी जनता की वर्षों की आस्था उन्हे स्वीकार कर लेती है। यदि यही परम्परा आधुनिक रचनाओ मे अपनाई जाय अथवा प्रस्तुतीकरण एव रगमचीय शिल्प तो आधुनिक हो और विषय का प्रतिपादन लोकशैली मे किया जाय तो दर्शकगण एक क्षण के लिए भी उसे सहन नही करेंगे।

लोकपद्धतियो को अपनाने की वैज्ञानिक विधि

अब प्रश्न यह है कि लोकपद्धतियो को अपनाने की वैज्ञानिक विधि क्या है और किस तरह उसे आत्मसात् किया जाय। जिस बात का सर्वोपरि ध्यान आवश्यक है वह है शैली-साम्य। किसी भी रचना में अनेक शैलियो का प्रतिपादन घातक होता है। जिस लोकनृत्य को भी किसी आधुनिक रचना मे प्रयुक्त किया जाय, उसकी आत्मा को अक्षुण्ण रखने की अत्यन्त आवश्यकता है, उसमे शास्त्रीय एव अन्य क्लिष्ट नृत्यो की बारीकियो का समावेश उसकी आत्मा का हनन होगा। लोकनृत्यो मे किसी भी प्रकार की आगिक एवं भावात्मक मुद्राओ का कोई नियोजित शास्त्र नही होता। उनमे अगसचालन एव भावाभिव्यजन की पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है तथा नृत्यकार की कल्पना को पूरा निखार प्राप्त होता है। यदि नवीन रचनाकार उनको नियोजित करके उन्हे सजाये सवारे तो निश्चय ही वह नृत्य अपने सहज स्वभाव को खोकर वेअसर हो जावेगा। आधुनिक सृजक को प्रयुक्त किये जाने वाले लोकनृत्य के प्राणो से सवेदित होना आवश्यक है। उसका मुख्य कार्य प्रचलित लोकनृत्य की विशिष्ट भगिमाओ तथा उसके सम्पूर्ण स्वभाव (Characteristics) को आत्मसात् करके उससे यह सामग्री ग्रहण करना है, जो मूल नृत्य के पुनरावृत्त होने वाले अश को पराभूत करके भी नृत्य की मूल आत्मा को अक्षुण्ण रख सके। अनेक लोकनृत्य ऐसे हैं जिनका रचना-शिल्प (Coreography) इतना सशक्त होता है कि आधुनिक रचनाकार की बुद्धि भी हैरान रहती है। गुजरात तथा राजस्थान के डाँडिये, विविध गरवे, टिप्पणी, घूमर आदि नृत्य इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं। नृत्य करने वाले स्त्री पुरुषो का घुमाव, एक दूसरे का चक्राकार कटाव, उठक बैठक, पारस्परिक उलटफेर तथा आमने-सामने की उछलकूद एव विविध नृत्यमयी भाँतें (designs) देखते ही बनती हैं। आधुनिक रचयिता इन भाँतो से बडी प्रेरणा ले सकते हैं। इसी तरह राजस्थान की गेर, गीदड़, घूमरा, दक्षिण भारत के कोलटम आदि नृत्य भी इस दृष्टि से बहुत ही सुन्दर छटा प्रस्तुत करते हैं।

आदिम जातियो के स्वान्त सुखाय नृत्यो मे यद्यपि भाँतो का वैविध्य नही है, फिर भी उनकी अगभगिमाओ तथा पदचापो की एकरूपता के सामने अनेक आधुनिक रचनाएँ भी मात खाती हैं। यदि किसी आदिम नर्तक की गर्दन नाचते समय दायें घूमती है तो अन्य सभी नर्तक-नर्तकियो की गर्दनें मशीन की तरह दायें घूम जाती हैं। यदि नृत्य का अगुआ अपना दाहिना पांव आगे बढ़ा

कर घुटने के बल बैठ जाता है और तुरन्त उठ जाता है तो उसके समस्त अनुयायी नर्तक उसी क्रिया को विजली की तरह अपने शरीर मे उतार लेते हैं। इसी तरह इन नृत्यकारो के अग के प्रत्येक क्रिया-कलाप मे जो एकरूपता और गतिसाम्य रहता है, वह विश्व के किसी भी आधुनिक नृत्य मे परिलक्षित नही होता। आदिम नृत्यो से जो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सामग्री आधुनिक नृत्य-रचयिताओं को मिल सकती है, वह है उनकी तल्लीनता, लवलीनता और एकरूपता। नाचते समय वे इस वात की परवाह नही करते कि कौन उन्हें देख रहा है और कौन नहीं देख रहा है। नृत्य और नृत्यकार किस तरह एक जीव हो जाते हैं, यह केवल इस आदिवासियो ही की विशेषता है।

नृत्यों के माध्यम से युद्ध का दृश्य प्रस्तुत करने की जो कला लोकनृत्यो मे है, वह अन्यत्र कही नहीं मिल सकती। आधुनिक नृत्य रचनाओ मे युद्ध प्रदर्शित करने के लिये जिसका आधार सर्वाधिक ग्रहण किया जा रहा है वह है कथकलि नृत्य। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो कथकलि नृत्य की विशिष्ट भारी भरकम वेशभूषा ही उसे प्रभावशाली बनाती है और उसकी मुद्राओ का अति सूक्ष्म शास्त्र उसकी मदद करता है। वास्तव मे यदि देखा जाय तो समस्त कथकलि नृत्य स्वयं मे बहुत ही शिथिल और मदगति का नृत्य है। युद्ध करते समय नृत्यकार जो शारीरिक तनाव दर्शाते हैं वह केवल दिखावा मात्र है। मारपीट, थप्पड़, घूंसा, धक्कमधक्का, मल्लयुद्ध आदि मे केवल आंगिक मुद्राओ का आधार विशेष है। शरीर का शौर्य तथा ओज इन मुद्राओ मे तिरोहित हो जाता है। युद्ध का प्रभाव पैदा करने में विहार का छाऊ नृत्य इस समय सर्वोपरि नृत्य समझा जाता है। जिस समय छाऊ नृत्यकार ढाल तलवार लेकर एक दूसरे का स्थानान्तर करते हुए तलवारो का जो करतब दिखलाते हैं वह देखते ही बनता है। नृत्य करते समय जो एक दूसरे पर आक्रमणकारी क्रियाओ का वैविध्य दर्शाया जाता है वह कल्पनातीत है। उत्तरप्रदेश की रामलीलाओ के युद्ध-प्रसगो मे जो तलवार तथा तीर-कमान की घुमावदार उछलकूद दर्शाई जाती है वह दर्शनीय ही नही, अनुकरणीय भी है।

नृत्य-रचनाओ मे जो सर्वाधिक महत्त्व की वात है, वह है विविध प्रकरणो को प्रस्तुत करने की शैली। जीवन का कोई भी प्रसग यथातथ्य शैली मे प्रस्तुत करने की परम्परा अवकचरे रचयिताओ में ही विद्यमान रहती है। अधिकाश परिपक्व रचनाओ मे चाहे वे लोकशैली की हो या आधुनिक जीवन की, प्रत्येक क्रिया-कलाप को व्यजनात्मक एव प्रतीकात्मक ढग से प्रस्तुत करने

मे ही सार्थकता समझी जाती है। इस दृष्टि से भी विहार की यह वहुचर्चित छाऊ नृत्यशैली कभी-कभी कमाल कर सकती है। इसी तरह नदियो का वहाव तथा समुद्री लहरो का तूफान दर्शाने के लिये विहार उडीसा की उराव जाति के नृत्यो से आधार ग्रहण करना चाहिये। इनके सामूहिक नृत्य स्वय समुद्र की लहरो तथा नदियो के वहाव के रूप मे प्रस्तुत होते हैं। नृत्यारभ की पहली उछल मे ही समस्त नृत्यकार तीन फीट की छलागे मारकर धड़ाम से ज़मीन पर आ गिरते हैं और अपने हाथ पांवो को दाएँ वाएँ हवा के झोको के साथ इस तरह झुलाते हैं, जैसे समुद्र की तरगें किनारो से थपेडे ले रही हो। राजस्थान के भीलो के गवरी नृत्य की चकरियाँ भी समुद्री तूफान की भवरी का सा आभास देती हैं। ये नृत्यभँवरियाँ देश की अनेक कलात्मक चकरियो से निराली होती हैं। प्रत्येक कलाकार इन चकरियो के अतर्गत अपनी भाव-भगिमाओ का वैविध्य दिखाने मे स्वतत्र होते हुए भी समष्टिगत चकरी की अगभगिमाओ के साथ घड़ी की सुई की तरह चिपका रहता है। प्रत्येक कलाकार की वैयक्तिक चकरियो के वैविध्य मे समस्त कलाकारो को समन्वित करनेवाली वृहदाकार चकरी एक निराली ही छटा उपस्थित करती है। गवरी नृत्य की यह चकरी किसी भी चलते हुए युग-चक्र, वदलता हुआ समयक्रम, सृष्टि की निरतर चलती हुई घडी के रूप मे प्रयुक्त हो सकती है। मध्यप्रदेश के भिलालो का इदल नृत्य भी, जिसमे मध्य पाट पर गड़ी हुई लकडी के सिरे पर रखे हुए नारियल को लेने को पुरुष-नृत्यकार छड़ी पर चढते हैं और लकडी के इर्दगिर्द नृत्यमुद्राओं मे घूमती हुई स्त्रियाँ उन्हें रोकती हैं, यह आधुनिक नृत्य-रचयिताओ के लिये एक अनमोल सामग्री सिद्ध हो सकती है।

राजस्थान के भीलो के घूमरा नृत्य के गोले मे भील महिलाएँ अपनी अगभगिमाओ का जो निखार दर्शाती हैं तथा वाहरी गोले मे भील नर्तक अपनी लकडियो को टकराते हुए जो गोलाकार नृत्य करते हैं और तुरन्त अदर के गोले मे प्रविष्ट होकर भील नर्तकियो को वाहर के गोले मे फेंक कर नृत्य-निरत कर देते हैं, वह देखने की वस्तु है, वर्णन करने की नही। घूमरा नृत्य की इन कटावदार तथा विविधताओ से युक्त भगिमाओ का पार पाना भी कोई आसान काम नही है। समस्त नृत्य को देखने से ऐसा लगता है जैसे पुरुषो ने स्त्रियो को घेरने के लिये व्यूह-रचना की हो और उसके तुरन्त वाद ही स्त्रियां जैसे पुरुषो को व्यूह मे आवद्ध कर रही हो। युद्ध की व्यूह-

रचनाओ के प्रस्तुतीकरण के लिये आधुनिक रचनाकारो को घूमरा से बढकर कौनसी नृत्य-रचना उपलब्ध हो सकती है।

नवीन रचनाकारों के कर्तव्य

ऐसे अनेक प्रसग हमारे देश के लोकनृत्यो मे विद्यमान हैं, जिनका उचित उपयोग हमारे आधुनिक रचनाकार कर सकते हैं। अब प्रश्न केवल यह है कि नवीन रचनाकारो को अब क्या करना चाहिये। प्रचलित लोकनृत्यो मे केवल सशोधन के लिये सशोधन करने का कार्य खतरे से खाली नही है। यह सशोधन किसी नवीन रचना मे समाविष्ट करने के लिये किया जाय तो फिर भी क्षम्य हो सकता है, परन्तु केवल सशोवन के लक्ष्य से सशोधन करना सर्वथा अनुचित है। लोकनृत्यो की रचनाओ में समष्टि की आत्मा निहित रहती है। उसमे तनिक सा परिवर्तन भी सामाजिक अरुचि और अवहेलना का कारण बन सकता है। चाहे वह परिवर्तन स्वय लोकनृत्य के हित मे ही क्यो न हो।

जब भी लोकनृत्य प्रदर्शन के स्तर पर आता है तो उसकी आवृत्तियाँ कम करनी होती हैं, अंगभगिमाओ मे अधिक लोच लाना पडता है तथा चेहरे की मुद्राओ को अधिक बारीक बनाना पडता है। शहरी जनता के लिये ये सब परिवर्तन आवश्यक हो सकते हैं परन्तु उस ग्राम्य जनता के लिये, जिसके साथ ये नृत्य परम्परा से सस्कारवत् जुडे हुए है, अत्यन्त अग्राह्य हो सकते हैं। अत लोकनृत्यो मे परिवर्तन करने से पूर्व इन सब बातो पर पूर्व विचार अत्यन्त आवश्यक है। कई रचनाकार पुरातन लोकनृत्यों की शैली पर नवीन नृत्यों की रचना करते हैं। इस प्रक्रिया मे प्राय नृत्य के साथ चलनेवाले गीतो के शब्द बदल जाते हैं, परन्तु धुनें प्राय वे ही रहती हैं। लोकनृत्यो की अगभगिमाओ को भी केवल सार रूप मे लिया जाता है और पूरे नृत्य का केवल आभास मात्र रह जाता है। ऐसे लोकनृत्य ऊपर से लोकनृत्य जैसे ही दीखते हैं, वे शहरी मच पर अवश्य फबते हैं, परन्तु उनके मूल क्षेत्रो मे वे अत्यन्त हेय समझे जाते हैं।

कुछ रचनाकार ऐसे भी हैं जो लोकनृत्यो को किसी प्रयोजन-विशेष से जोडते हैं। उसके गीत भी उस विशेष प्रयोजन ही को व्यक्त करते हैं। शब्द भी उसी का बखान करते हैं तथा उसकी प्रत्येक मुद्रा भी उसी प्रयोजन को प्रकट करती है। ये समस्त मुद्राएँ रचनाकार की अपनी देन होती हैं। मूल लोकनृत्यो से उनका कोई सरोकार नही होता, क्योकि मौलिक लोकनृत्यो मे

मुद्राएँ प्राय: होती ही नही हैं। इस तरह के प्रयोग भी प्राय. लोकनृत्यो के लिये घातक सिद्ध होते है।

लोकनृत्यशैलियो का सर्वाधिक उपयोग आधुनिक नाट्य-रचनाओ में होने लगा है। इन प्रयोगो मे बहुधा शैलीसाम्य के अभाव मे कई दोष रह जाते हैं जो अततोगत्वा दर्शको मे अरुचि का सर्जन करते हैं। परन्तु अनेक दूरदर्शी एव विवेकी रचनाकार ऐसे भी हैं जो पुरातन लोकनाट्य-परम्परा को बिना किसी शैली विषमता के नवीन रचना शैली मे ढालने का प्रयत्न करते हैं। वे उसमे नवीन प्राणो का स्फुरण करते हैं और सारी रात अभिनीत होनेवाली कृति को कुछ ही घटो मे प्रदर्शित होने योग्य बना लेते हैं। यह कार्य केवल व्यवसायिक नाट्य मडलियो के बलबूते पर हो सकता है। सामुदायिक क्षेत्रो मे यह सशोधन-कार्य संभव तो नही है परन्तु वाछनीय भी नही है क्योकि सामुदायिक दृष्टि से ऐसे प्रयोग मनोरजन के माध्यम होते है। उनमे समय की कोई समस्या नही होती। इस आनन्द प्राप्त करने और देने की प्रक्रिया में यदि समय की कटौती की जाती है तो वह ग्राम्य जनता को ग्राह्य नही होती।

कुछ नवीन नाट्य-प्रयोग ऐसे भी हैं, जो लोकशैली के केवल गीतों और नृत्यो को ही अपनी रचना मे समाविष्ट करते हैं। उनका सबंध नाट्य के मूल प्रसग से कुछ भी नही होता। केवल दर्शको की अभिरुचि को कायम रखने के लिये नाट्य के बीच मे उनका उपयोग होता है। कुछ उत्साही प्रयोगी ऐसे भी हैं, जो पुरातन लोकनाट्य शैली मे नवीनतम प्रसग पर नवीन नृत्यनाटिकाएँ तैयार करते हैं। ऐसे अनेक प्रयोग हमारे देश मे हुए हैं, जिनमे कुछ तो अत्यन्त सफल प्रयोग समझे गये है और कुछ बिल्कुल ही निरर्थक। कुछ उत्साही रचनाकर ऐसे भी हैं, जो लोकनाट्यो की अनेक शैलियो की एक ही नाट्य-प्रयोग मे खिचडी पकाना चाहते हैं। आज हमारे देश मे अधिकाश नवीन नाट्य-प्रयोग इसी किस्म के होते हैं। शैलियो की यह बेमेल खिचडी वास्तव मे बहुत ही दर्दनाक है। ऐसी कृतियाँ बहुधा कला-तत्वो से विहीन होती है। ऐसी कृतियो मे कही उत्तर भारतीय पद्धति का अनुशीलन किया जाता है, कही दक्षिण भारत की पद्धति का उपयोग होता है। कही शास्त्रीय शैली लोक पद्धति पर आकर बैठ जाती है। ऐसी कृतियो मे कही पात्र स्वय गाते हैं। कही उनके लिये पृष्ठगायक गाते हैं। कही समस्त प्रसग मे पृष्ठ-वाचन का आधार लिया जाता है। कही गीतात्मक सवादो की गगा बहती है और कही गद्य का बोलबाला है। कई नवीन प्रयोग ऐसे भी देखे गये हैं जिनका आकार-

प्रकार, वेश-विन्यास श्रादि लोकशैली का होता है, परन्तु उनका समस्त श्राधार विदेशो से ग्रहण किया हुश्रा होता है। इन कृतियो मे न तो वाचन पात्रो द्वारा कराया जाता है, न पृष्ठवाचन या गायन का श्राधार लिया जाता है। समस्त वाचन केवल मुख एव भावमुद्राश्रों के माध्यम से होता है। इनका प्रस्तुतीकरण शत प्रतिशत विदेशी श्राधार लिये हुए होता है। ऐसे प्रयोग हमारे देश के लिये बिल्कुल ही श्रनुपयुक्त सिद्ध हुए हैं।

कुछ बहुत ही सुन्दर प्रयोग भी हमारे देश में हुए हैं, जिनमे समस्त रचना नवीन होते हुए भी लोकपद्धति की बहुत सुन्दर रक्षा की गई है। समस्त गीत, वाचन, प्रस्तुतीकरण, रगमचीय साजसज्जा, साजबाज, भाषा, नृत्य श्रादि सभी लोकपद्धति पर ही है। फर्क केवल इतना ही है कि उनमे प्रवीण कलाकारो के हाथ लगे हुए होते हैं। उन्हें लोकपद्धतियो का सम्पूर्ण ज्ञान होता है तथा वे इस दिशा मे एडी से चोटी तक घुले रहते हैं। ऐसी कृतियो मे, जिनमे विशुद्ध लोकशैलियो का प्रयोग होता है, गीत, नृत्य, वेश-विन्यास, रगमचीय प्रणाली, खेलकूद श्रादि मे भरपूर मौलिकता होती है। कभी कभी तो कलाकार, साज, सज्जा श्रादि भी लोकशैली के होते हैं। इन कृतियों मे प्रसंग, प्रस्तुतीकरण, सवाद-विधि श्रादि मे भी लोकपरम्परा का पूरा निभाव होता है। ऐसी कृतियां जब कला-विशेषज्ञो के निर्देशन मे विशुद्ध लोककलाकारों द्वारा पेश होती हैं तो बहुधा लोकजीवन मे भी वे श्रत्यन्त लोकप्रिय बन जाती हैं तथा व्यवसायिक लोककलाकार स्वय भी उनसे प्रेरणा ग्रहण करके श्रपनी कृतियो को परिपुष्ट करते हैं।

३

लोकनाट्य

लोकनाट्य

नाट्य की उत्पत्ति नट शब्द से हुई है। अगसचालन से किसी विशेष परिस्थिति या व्यक्ति के क्रिया-कलापो को अभिव्यक्त करना ही नट का प्रमुख कार्य था। यही नटकला प्रारम्भिक क्रिया-कलापो से विकसित होकर गीतबद्ध हुई और विशिष्ट पर्व, समारोह तथा देवी-देवताओ के पूजन के समय उसका प्रदर्शन होने लगा। धीरे-धीरे इसी नटकला ने रूपक का स्वरूप धारण किया, जिसमें ये नट लोग किसी व्यक्ति, घटना तथा स्थिति-विशेष का अनुकृतिमूलक रूप प्रस्तुत करते थे। परन्तु इस स्तर तक भी नाट्य के विविध अग पूर्णत परिस्फुटित नही हुए थे जिनमे एक सम्पूर्ण घटनाचक्र की समस्त परिस्थितियाँ अभिनय, सभाषरण, कथानक आदि के साथ मानवीय पात्रो द्वारा क्रमबद्ध प्रस्तुत की गई हो। वेशविन्यास, हावभाव, वाचन, संभाषरण तथा अगसचालन द्वारा युगपुरुषो की युग-प्रवर्तक घटनाओ को प्रस्तुत करनेवाला नाट्य का मानवीय रूप हमारी संस्कृति का बहुत ही बाद का स्वरूप है। दैवी शक्तियो, प्राकृतिक प्रकोपो तथा मृतजन की आत्माओं से घिरा हुआ मानव उन्ही की अनुकृति बनकर उनके आचार, व्यवहार तथा आकार-प्रकार की नकल करे, यह कल्पनातीत बात थी।

नाट्य के प्रारम्भिक रूप

भरतमुनि द्वारा प्रणीत नाट्यशास्त्र तथा धनजय द्वारा लिखित दशरूपक मे जो नाट्यसिद्धात निरूपित किये गये हैं उनका आधार इन शास्त्रो के प्रणयन के सैकड़ो वर्ष पूर्व लिखे और खेले गये वे असख्य नाटक हैं जो विकास की चरम सीमा तक पहुँच चुके थे। ये नाटक ईसा से सैकड़ो वर्ष पूर्व अपने चतुर्मुखी स्वरूप के साथ भारत की गौरव-गरिमा बढा रहे थे, उन्ही लोकपरक नाटको का विवेचन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

कोई भी विगत घटना या व्यक्तित्व हमारी कल्पना मे उभर सके, उसके लिये अभिनयकला, अगसचालन, भावाभिव्यंजन, आगिकी, वाचन, सभापरण, कथोपकथन, कथाप्रसग आदि के सुगठित चयन की आवश्यकता होती है। नाटक के ये सभी तत्व एक साथ विकसित नही हुए, बल्कि इनमे से कुछ ने समय और स्थिति के अनुसार विशेष विकास पाया और वे सहस्रो

वर्षों तक परम्परा के रूप मे मानव-मनोरजन के लिये कायम रहे। नाट्य के इन विविध अगो का पृथक् तथा समन्वित विकास ही पूर्णाङ्गी मानवीय नाट्य के लिये शक्तिशाली पृष्ठभूमि के रूप मे सिद्ध हुआ। ऋग्वेद तथा सामवेद की सभापणप्रधान तथा भावोद्रेकमयी ऋचाओ मे नाट्यवाचन के पूर्ण विकसित अकुर विद्यमान थे। सामवेद के पुरूरवा और उर्वशी तथा ऋग्वेद के यम-यमी के भावप्रधान सवादो मे नाट्य के स्पष्ट अकुर परिलक्षित होते हैं। अनेक जैन और बौद्ध सूत्रो मे भी इसी प्रकार के प्रेरणादायी तथा भावपूर्ण कथोपकथन मे नाट्य के प्रारम्भिक अकुर उगते हुए दृष्टिगत होते हैं।

नाट्य की चित्रपट प्रणाली

उपर्युक्त वैदिक ऋचाओ के ये सवाद अनुकृतिमूलक एव रूपप्रधान नही थे और न कोई दर्शनीय दृश्य ही उपस्थित करते थे। वे केवल श्रवणयोग्य थे, दृष्टियोग्य नही। किसी भी नाट्यप्रसग का दृष्टियोग्य होना बहुत ही आवश्यक है। परन्तु मनुष्य इस समय इस स्थिति मे नही था कि वह अपने परमपूज्य युगपुरुषो की युगप्रवर्तक घटनाओ को नाट्यरूप दे सकने की धृष्टता करे। इसीलिये इन घटनाओ को सर्वप्रथम वृक्ष की सशक्त छालो, पशुओ के चमडो, दीवारो तथा कपडो पर विविध रगो से चित्रित करने की परम्परा हमारे देश मे आज से सैकडो वर्ष पूर्व कायम हुई। अपने पूर्वजो तथा युगपुरुषो की स्मृति मे उनके जीवन सम्बन्धी चित्र टांगने की प्रथा आज भी विद्यमान है। ये ही चित्र सगठित और सामूहिक रूप से एक ही विशद चित्र मे समन्वित होकर जनता के समक्ष किन्ही विशिष्ट व्यवसायिको द्वारा प्रस्तुत किये जाने लगे। इनसे प्रदर्शित महापुरुषो की जीवन घटनाएँ जनमानस को आह्लादित करने के साथ-साथ उनकी स्मृतियो को भी ताज़ा रखने लगी। किसी बाँस या लकडी पर लिपटे हुए ये पट परिचालको के कधों पर चढकर धीरे-धीरे एक गांव से दूसरे गाँव तक पहुँचने लगे। जहाँ भी गाँव या नगर का चौराहा मिलता, ये पट फैलाकर खींच दिये जाते और नृत्यमुद्राओ के साथ उनमे चित्रित गाथाओ के विविध पक्षो को दर्शको के समक्ष सुस्पष्ट किया जाता था। चित्रो को समझाने की यह नृत्यगीतमय प्रणाली उन चित्रो को सजीव स्वरूप प्रदान करती थी और दर्शको को सम्पूर्ण नाटक देखने का आनन्द मिलता था। आज भी भारत के विविध प्रदेशो मे पूर्वजो की जीवनगाथाओ को प्रस्तुत करने के लिये ऐसे चित्रपट परम्परा के रूप मे विद्यमान हैं। राजस्थान की पाबूजी तथा देवनारायण की पड़ें आज भी असख्य जन के हृदय

मे इन महान् पुरुषो की जीवनगाथाओ को अत्यन्त सुरुचिपूर्ण ढंग से अकित करती हैं। वीर राठौड पावूजी, जिन्होने गोरक्षा के लिये अपना जीवन दान दे दिया था, आज भी असख्य जन के श्रद्धा और आराधना के पात्र वने हुए हैं। उनके नाम पर राजस्थान मे अनेक मेले लगते हैं। उनके विशिष्ट पुजारी पावूजी के भोपे इन चित्रपटो के समक्ष पावूजी के पवाड़े गाते हैं और उनकी स्त्रियाँ चित्रो को दीपक दिखाती हुई उनका गुणगान करती हैं। ये पर्डे भीलवाड़ा और शाहपुरा के विशिष्ट जोशी छीपो द्वारा बनाई जाती हैं, जो आज विशिष्ट चित्रशैली के रूप में अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं। देवनारायण भी मेवाड के एक विशिष्ट देवता-तुल्य व्यक्ति हो गये हैं, जिनकी जीवनगाथाएँ भी चित्रित की जाती हैं और देवनारायण के गूजर भोपे उनकी पडो का प्रदर्शन करते हैं।

चित्रपटो द्वारा युगपुरुषों के जीवन का अकन करने की प्रथा वगाल, विहार आदि प्रदेशो मे यमपट्टा के रूप मे आज भी विद्यमान हैं। इस यमपट्टे मे पापकर्म करनेवालो को यम द्वारा दी गई सजाओ का अकन किया जाता है। चित्राकन द्वारा नाट्य प्रस्तुत करनेवालो के दल इन यमपट्टो को एक गाँव से दूसरे गाँव मे ले जाते हैं और गायन द्वारा उनका अर्थ स्पष्ट करते हैं। अनेक जैन तथा वौद्ध ग्रन्थों मे भी इन चित्रपटो का उल्लेख मिलता है, जो धर्मप्रचार के लिये प्रयुक्त होते थे। पतजलि के महाभाष्य मे भी शोभनिका नाम से चित्राकन करनेवाले नाट्यकारो का उल्लेख है। ये नाट्य-अभिनेता इन चित्रों को इस प्रभावशाली ढग से प्रस्तुत करते थे कि चित्र के पात्र सजीव होकर दर्शको की आँखो मे उतर आते थे। जैन तथा वौद्ध ग्रथो मे इन चित्रपटो का मनखा नाम से उल्लेख मिलता है। ये पट्टे विविध प्रसगो मे विभाजित होते थे और प्रत्येक प्रसग के पट्टे का काम समाप्त होने पर परिचालक उसको लपेटता जाता था और आगे के प्रसग सवधी गीत-वाचन करता हुआ उन चित्रो को सबके सामने प्रत्यक्ष करता था। इस प्रकार के पट्टे आज भी विहार, वंगाल मे पूर्वजो की गाथाओ को नाट्यरूप मे प्रस्तुत करने के लिये प्रयुक्त होते हैं। जैन साधुओ के पास आज भी ऐसे चित्र विद्यमान हैं, जिन पर नरक सम्वन्धी अनेक दृश्य अकित हैं। इनमे कुकर्मियो के कठोर दड का वहुत ही वास्तविक अकन किया गया है। ये साधु स्वयं इन चित्रो को अपने भक्तजनो को दिखलाकर पापो से उनका मन मोडने की कोशिश करते हैं।

चमड़े की आकृतियो द्वारा नाट्यप्रदर्शन

चित्रपटो के रूप मे यह नाट्यस्वरूप यद्यपि काफी लोकप्रिय हो चुका था और हजारो वर्षों तक जनता का मनोरजन करता रहा, परन्तु उनमे

अंकित चित्र स्वय गतिमान होकर पात्ररूप मे अभिनय करने मे असमर्थ थे। परिचालक इस अभाव की पूर्ति स्वयं नाच गा कर करता था। दर्शकगण उन चित्रपात्रो के व्यक्तित्व का आरोपण उसमे नही कर सकते थे। चित्रप्रदर्शन के समय परिचालक अपनी परम प्रभावशाली वाचनकला के माध्यम से दर्शको को भावोद्रेक की स्थिति मे ले आते थे। वे अपने आराध्य देव को उन चित्रो मे मूर्तिमान अवश्य देख सकते थे, परन्तु गतिमान नही। चित्रो पर दीपक द्वारा सामने से दिखाई हुई रोशनी उन रगीन आकृतियो को प्रकाशमान और देदीप्यमान भी करती थी। आज भी पाबूजी और देवनारायण की पडो के समक्ष भोपनियाँ दीपक दिखाकर गाती हैं तथा भोपा रावणहत्थे पर उनकी जीवनगाथाओ का अत्यत प्रभावशाली विवेचन करता है। ये सभी पट रात्रि को ही दिखलाये जाते हैं।

इन चित्राकित महापुरुषो को गतिमान करने के लिये सर्वप्रथम हमारे देश मे चमडे पर रगीन चित्र बनाकर उन्हें काटने की परम्परा कायम हुई। इन रगबिरगे चित्रो के विविध अगप्रत्यगो पर बास की खपच्चियाँ बाँधकर उन्हें गतिमान किया जाने लगा। इस तरह महापुरुषो के विविध जीवनप्रसगो के अनेक चित्र चमडे मे काटे जाने लगे और इन्हें किसी नाट्यरूप मे बाँधने की कोशिश प्रारम्भ हुई। सर्वप्रथम उन पर चित्रपट की तरह ही सामने से रोशनी फेंकी जाती थी और ये चर्मपात्र बारी-बारी से जनता के समक्ष आकर नाना प्रकार से गतिमान होते थे। परिचालकगण छडी पकड़कर उन्हें नीचे से सचालित करते थे और गायन, वाचन आदि से उनका प्रयोजन स्पष्ट करते थे। चित्राकन की यह प्रणाली निश्चिय ही चित्रपट प्रणाली से अधिक प्रभावशाली सिद्ध हुई। परिचालको के प्रत्येक दल मे कम से कम तीन व्यक्ति रहते थे। एक चित्रो को चलानेवाला, दूसरा उन पर दीपक की रोशनी दिखलाने वाला तथा तीसरा वाद्य बजानेवाला। चित्राकन के इस प्रदर्शन मे नाट्यगुण अवश्य थे, परन्तु परिचालक स्वय दर्शको को दिखलाई पडते थे और उनका ध्यान बँटाते थे। यद्यपि चित्रपट प्रणाली मे भी परिचालकगण गाते, नाचते तथा दीपक दिखलाते हुए नज़र आते थे, परन्तु चूकि उनके चित्र गतिमान नही थे और वे स्थिररूप से दर्शको की आँखो मे गुज़रते थे, इसलिये परिचालक से किसी भी प्रकार उनका सम्बन्ध नही जुडता था। चित्रो की कटी हुई आकृतियो मे स्वय चित्र भी गतिमान होते थे और उनके साथ-साथ उनके परिचालक भी। अत रूपक-सिद्धि मे निश्चय ही व्यवधान आता था।

प्रारम्भ मे इन चित्रो का आकार-प्रकार परिचालक से छोटा होता था, अत: जब परिचालक उनकी छड़ियाँ पकडकर उन्हें नीचे से संचालित करता था तो पूरे साढे पांच फीट का परिचालक डेढ़ फीट के कटे चित्र के सामने परिमाण मे बहुत बडा नज़र आता था और चित्र की गतिशीलता से कही अधिक वह गतिशील बनकर दर्शको की आंखों मे गुज़रता था, अतः छिपकर इन्हें परिचालित करने की परम्परा हमारे देश मे कायम हुई और उसी के परिणाम-स्वरूप छायापुतलियो का प्रादुर्भाव हुआ।

छायापुतलीनाट्य का प्रादुर्भाव

कटी हुई पुतलियो की नाट्यप्रणाली को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिये कई मर्मज्ञो ने अनेक प्रयोग किये। उनमे छायापुतलियो का प्रयोग सर्वाधिक कारगर सिद्ध हुआ। चमड़े को पारदर्शी बनाकर उसकी आदमकद आकृतियाँ काटी गई और उसके आरपार प्रकाश किरणें डालकर उसे चमत्कारिक बनाया गया। इस प्रयोग मे हमारे कलाकारो को अभूतपूर्व सफलता मिली। लगभग १० फुट ऊँचा और १५ फुट चौड़ा एक सफेद परदा बांसो या लकड़ी के चौखट मे तानकर सामने रख दिया जाता था। उसके पीछे इस आदमकद रगीन चर्मपुतलियो की छड़ियो को परदे के सामने सार्थक रूप से हिलाया जाता था और पीछे से डाली हुई रोशनी से ये छायापुतलियाँ प्रकाशित होकर सफेद परदे पर नाना प्रकार से गतिमान होती थी। पुतलियो के प्रत्यक्ष रूप से कही अधिक उनका छायारूप दर्शको के मन को मोहित करता था। प्रत्येक रूपक का यही नियम है कि चरित्र के प्रत्यक्ष प्रकट होकर गतिमान होने की अपेक्षा उसका अनुकृतिमूलक रूप अधिक प्रभावशाली और मनोरजनकारी होता है। ये छायापुतलियाँ भी प्रत्यक्ष सामने न आकर उनकी छाया सामने आती थी, इसीलिये ये छायाएँ नाना रगो मे परदे पर अकित होती थी और उनके अग-प्रत्यगो को नाना प्रकार से गतिमान होते देखकर दर्शकगण आनन्दविभोर हो जाते थे। इन पुतलियो मे परिचालको द्वारा गाथा या प्रसग-वर्णन न होकर स्वय पात्रो पर ही उनके सभाषण आरोपित किये जाते थे, जिससे ये छायापात्र स्वय उस छायारूपक के सार्थक पात्र बन गये और बिना किसी माध्यम के ही दर्शको के मन पर आरोपित होने लगे। इस छायानाट्य को अधिकाधिक प्रभावशाली और सफल बनाने के लिये जो गीत-सवादो की अत्यन्त मनमोहक योजना बनाई गई उसमे योग्य कथोपकथन,

योग्य कथाप्रसग, रसविवेचन, आगिकी, चरित्रचित्रण, नाट्य के आरम्भ, मध्य और चरम विकास की सीढियाँ अपना प्रारम्भिक स्वरूप पकडती गई ।

छायापुतलियो की अतिरंजनात्मक शैली

इन नाट्यस्वरूपो की उत्पत्ति हमारे युगपुरुषो तथा देवी देवताओ की स्मृतियो को ताज़ा रखने तथा उनके जीवनादर्शों को जनता के समक्ष मनोरजनकारी ढग से प्रस्तुत करने के लक्ष्य से हुई । ये युगपुरुष निश्चय ही सासारिक मनुष्य से गुण, चरित्र, कृत्य तथा शक्तियो की दृष्टि से कही वडे थे । वे अब मनुष्य का चोला वदलकर दिव्य पुरुष वन चुके थे, अत उनके आकार-प्रकार, आकृति आदि निश्चय ही मनुष्य से भिन्न थे । ऐमी मान्यता लेकर ये छायापुतलीकार अपने चित्रो को अतिरजित और प्रतीकात्मक वनाते थे । चूँकि यह समस्त नाट्यरूप ही देवी-देवताओ तथा युगपुरुषो के जीवन के प्रतीक और छायारूप ही मे था, अत उसका चित्राकन भी प्रतीक और छायारूप ही मे हुआ । इन चित्रो और छायापुतलियो को अतिरजित और प्रतीकात्मक बनाने के पीछे एक कारण और था । परिचालकगण और नाट्य-पात्रो की समानता को दूर करने के लिये भी नाट्यपात्रो को भिन्न रूप दिया जाता था ताकि प्रदर्शन के समय परिचालक और पात्र एक दूसरे मे मिलकर दर्शको मे भ्राति उत्पन्न न करें ।

इस अतिरजना के पीछे कुछ प्रयोजन और हैं । पुतलियाँ भावभगिमाओ और अगभगिमाओ के प्रदर्शन मे मानवीय पात्रो की तरह अपने आपको समर्थ नही पाती, अत इन सीमाओ को दूर करने के लिये उनके चेहरो की वनावट तथा अग-प्रत्यगो के आकार-प्रकार ही को इस प्रकार अतिरजित किया गया कि उन भगिमाओ की कमी उन अतिरजनाओ से दूर हो गई । पुतलीकला मे भ्रम उत्पन्न करने की कला सवसे अधिक महत्त्वपूर्ण मानी गई है । यह भ्रम वास्तविक मानवीय आकृतिमूलक चेहरो द्वारा उत्पन्न नही होता । यह वात हमारे पूर्वजो को भली प्रकार ज्ञात थी । यूरोप की आधुनिक पुतलियो मे जो प्रतीकात्मक सकेतवाद आज महत्त्व प्राप्त कर रहा है, वह हमारी परपरागत पुतलियो मे विद्यमान था । पुतलियो की आकृतियो का यह अतिरजनात्मक सकेतवाद पुतलियो मे प्राणो का सचार करता था तथा उसके कारण वे दर्शको से बोलती, गाती तथा नाना प्रकार के भाव अभिव्यजित करती हुई नजर आती थी । पुतलीकारो को इसका पूर्ण ज्ञान था कि किस अभिव्यंजना के लिये किस प्रकार के वाचन, गायन तथा अगसचालन की

आवश्यकता है तथा उससे दर्शको के मन पर किस तरह का प्रभाव पड़ता है। सहस्रो वर्षों तक परम्परागत रूप से इस कला का अभ्यास करते हुए ये पुतलीकार मानवीय मनोविज्ञान से पूर्णरूप से अवगत हो गये थे और उसी के अनुसार वे अपने पूर्वजों, युगपुरुषो और देवी-देवताओं की जीवनगाथाओं को परम नाटकीय ढग से जनता के समक्ष प्रस्तुत करने मे सफल हुए।

आज भी आन्ध्र और कोचिन-प्रदेश मे छायापुतलीवालो के अनेक दल विद्यमान हैं जो अपनी परम्परा को पकड़े हुए है और रामायण तथा महाभारत की कथाओ को अत्यत रोचक और प्रभावशाली ढग से प्रस्तुत करते हैं। परम्परापोषी होने के कारण ये कलाकार अपने मे किसी प्रकार का परिवर्तन पसद नहीं करते और अपने पूर्वजो द्वारा दी हुई प्रणाली मे कोई हस्तक्षेप नहीं चाहते। यही कारण है कि इन पुतलीवालो के पास कई पीढ़ियो की पुतलियाँ हैं, जिन्हें वे प्रदर्शन से पूर्व पूजते हैं और उन्हें देवता मानकर उनका प्रदर्शन करते हैं। उनकी यह मान्यता है कि अपनी पुतलियो के माध्यम से वे जिन देवताओ और युगपुरुषो का अभिनय करते हैं, उनकी आत्माएँ प्रदर्शन के समय मौजूद रहती हैं, और वे ही उनकी पुतलियो मे प्राणो का सचार कराती हैं। उनकी यह भी मान्यता है कि जो पुतलियाँ वे चलावें, उनको बनाना भी उन्हीं को चाहिये, नहीं तो युगपुरुषो का आरोपण उनके शरीर मे नहीं होता। इसलिये वे पुतली-निर्माण के प्रत्येक कार्य मे प्रवीण होते हैं तथा अपनी कला को अपने वशजो के अलावा दूसरो को नही सिखलाते हैं। मानवीय नाट्य मे कथानक, चरित्र-चित्रण, भावाभिव्यंजन, रसनिरूपण, आहार्य, आगिकी आदि का जो विशद विवेचन नाट्यशास्त्रो में इस नाट्यशैली के प्रचलन के सैकडो वर्ष बाद हुआ, उसके अकुर छायापुतलियो की इस परम्परा मे स्पष्ट रूप से नजर आते हैं। किसी भी छायापुतलीनाट्य की समस्त नाट्यरचना, समापण, कथा-प्रसग, प्रतिपादन, गायन तथा संचालन का विश्लेषण करें तो प्राचीन भारतीय शास्त्र के अनेक तत्त्वो का उनमे दर्शन हो जायेगा। इन पुतलीकारो को यह भली प्रकार ज्ञात था कि गुण दोष के अनुसार इन पुतलियो के चेहरो पर कौनसा रंग लगाना चाहिये। आज भी वे रजोगुणी, तमोगुणी तथा सतोगुणी पात्रो के चेहरो पर परम्परा से निश्चित रगो का ही प्रयोग करते हैं जो भरतमुनि द्वारा रचित नाट्यशास्त्र मे निरूपित सिद्धातो से शत प्रतिशत मेल खाते हैं। इन पात्रो के संचालन, परिचालन, व्यवहार, वाचन, समापण आदि में भी पूर्व-निर्धारित सिद्धातो का ही पालन

होता है। नाट्यरचना मे भी प्रधाननायक, उपनायक तथा अन्य सहायक पात्रो के चरित्र-विकास की ओर पूर्ण जागरूकता वरती जाती है।

काष्ठपुतलियो का प्रादुर्भाव

चूंकि छायापुतलियो की आकृतियाँ चपटी होती है इसलिये उनसे किसी भी पात्र के सपूर्ण स्थूल शरीर का भान नही हो सकता। चपटी आकृतियो को वेशभूषा भी नही पहिनाई जा सकती और न उन पर अलकार या शृंगार ही हो सकता है। उनके पृष्ठभाग दर्शको को दृष्टिगत नही हो सकते इसलिये उनको घुमाने-फिराने मे वड़ी सावधानी वरतनी पडती है। इन चपटी पुतलियो के सचालन तथा उनके द्वारा सम्पूर्ण नाट्याभिव्यजन समव नही समझकर ही मूर्तिनुमा काष्ठ पुतलियो की परम्परा हमारे देश मे प्रारम्भ हुई। पुतली निर्माण मे काष्ठ को सबसे हल्का माध्यम समझकर ही सर्वप्रथम काष्ठ का ही प्रयोग हुआ और उसके माध्यम से जो पुतलियाँ निर्मित हुई वे कठपुतलियाँ कहलाईं। इन काष्ठपुतलियो द्वारा जो नाट्यरचनाएँ हुईं, वे ही वास्तव मे मानवीय नाट्य का पूर्णाङ्गी स्वरूप ग्रहण कर सकी। चपटी आकृतियो की चर्मपुतलियो द्वारा सपूर्ण पात्र का अनुमान करना केवल दर्शको की कल्पना पर निर्भर रहता था। इसके अलावा उनको प्रत्यक्ष प्रदर्शित करना भी इसलिये प्रभावशाली नही होता था, क्योकि परिचालक को दर्शको से छिपाना और पुतलियो को विना छाया के वास्तविक पात्र का भान कराना असमव था। छाया द्वारा उन्हें प्रदर्शित करने से उनकी प्रभावशीलता की वृद्धि अवश्य हुई और उनकी सीमाओ की ओर भी अधिक ध्यान नही गया, परन्तु कला के प्रयोगियो ने काष्ठपुतलियो को छायापुतलियो से भी अधिक प्रभावशाली पाया। उनसे नाट्ययोजना भी अधिक प्रभावशाली वन सकी और दर्शको को मानवीय पात्रो का अभाव नही खटका। ये काष्ठपुतलियाँ वस्त्राभूषण पहिनने लगी तथा चर्मपुतलियो की तरह ही पात्रो के गुण-दोषो के अनुसार उनके चेहरो की रगाई खुदाई हुई। मानवीय चेहरो की भावाभिव्यजना इन निर्जीव पात्रो मे समव नही समझकर ही चर्मपुतली के समान ही उनके चेहरो की आकृतियाँ अतिरजित वनाई गईं। छायापुतलियो की तरह ही काष्ठ-पुतलियो को मानवीय आकार मे वनाना सभव नही था। उन्हें सूत्रो द्वारा सचालित करने के उद्देश्य से उनको वज़नी भी नहीं वनाया जा सकता था, तथा मानवीय पात्रो की तरह उन्हें भी किसी युगपुरुष के आरोपण से वंचित रहना था, अत वे आकार-प्रकार मे छायापुतलियो से काफी छोटी वनाई गईं तथा उनकी आकृतियो को अतिरजित किया गया।

मानवीय नाट्य की मुखौटा-प्रणाली

काष्ठपुतलियो के सम्पूर्ण विकास के बाद ही मानवीय नाट्य की ओर कलाविदो का ध्यान आकर्षित हुआ और उस ओर विभिन्न प्रयोग होने लगे, तब तक मानवीय नाट्य के माध्यम से अभिनय प्रस्तुत करने के प्रति जो सामाजिक एव धार्मिक प्रतिबध थे, वे भी कमज़ोर पडने लगे तथा मानवमूलक नाट्य पर नियत्रण हटने लगा और मानवीय पात्र नाना प्रकार की पात्रानुकूल वेशभूषाओ से सुसज्जित होकर रगमच पर आने लगे। रगमच के इस अभिनव मानवीय प्रयोग मे अभिनेता के लिये अगसचालन तथा पात्रानुकूल वाचन की अनुकृति तो कठिन नहीं हुई, परन्तु विविध भावमूलक आकृतियाँ बनाना तथा नयन, भौंहें, कपोल, ओष्ठ आदि के घुमाव द्वारा भावाभिव्यजन करना उनके लिये बहुत कष्टसाध्य हो गया, अत तदनुकूल मानवीय चेहरो पर रग-रोगन चढ़ाने तथा उन्हें पुन छुडाने की दिक्कतों से बचने के लिये लकड़ी तथा कागज़ के मुखौटो (Masks) का विकास हुआ। इन मुखौटों पर हर्ष, क्रोध, उल्लास, उत्साह, हास्य, रौद्र, वीभत्स, करुण, शृ गार, प्रेम आदि के विविध भाव रगो द्वारा बडी प्रवीणता से चित्रित कर दिये जाते थे। एक बार बना लेने पर ये मुखौटे काफी लम्बे समय तक सुरक्षित रह सकते थे और अभिनय के समय उनको मुँह पर लगाकर आसानी से अभिनय किया जा सकता था। इस प्रणाली से अब उन्हें अपनी आकृति द्वारा भावाभिनय दर्शाने की आवश्यकता नहीं होती थी और वे अपनी सम्पूर्ण शक्तियाँ वाचन तथा आगिक अभिनय मे ही लगाते थे।

मानवीय नाट्य की मुखौटा-प्रणाली अनेक वर्षों तक कायम रही। इन चेहरों के साथ अभिनय करने की प्रथा आज भी बिहार के छाऊ नृत्यो में अपनी सम्पूर्ण साजसज्जा के साथ विद्यमान है। मुख पर चेहरे लगाना इसलिये भी आवश्यक होगया कि प्रत्येक मानवीय पात्र के मुख की रेखाएँ पात्रानुकूल होना सभव नहीं थी। यदि किसी मानवीय पात्र को किसी राक्षस, वानर या रीछ का अभिनय करना हुआ तो उसके मौलिक आँख, नाक, कान तथा गाल मे अतिरजनात्मक विकृतियाँ लाना संभव नही होता था, अत उसी के अनुसार बने बनाये चेहरे लगाने से उन आकृतियो की पूर्ति हो जाती थी। वैसे भी देवी-देवताओ की बड़ी-बडी आँखें और देदीप्यमान तेजस्वी चेहरे औसत मानव की धरोहर नही होते, इसलिये इस आशय से भी मुखौटो का प्रयोग आवश्यक हो गया तथा नकली चेहरे लगाकर अभिनय करने से मानवीय पात्रो को

छिपाना भी समव हुआ। कठपुतली पात्रो मे एक अद्वितीय गुण यह था कि अभिनय के समय वे किसी मानव-विशेष का आभास अपने मे नही देते और न उसके मानवीय गुण-दोषो का आरोपण दर्शको पर होता। मानवीय पात्र में यह गुण विद्यमान नही रहने से ही उसका प्रभाव कठपुतली पात्र की तरह अधिक तीव्र नही होता। नकली चेहरे अथवा मुखौटे लगाकर अभिनय करने के पीछे भी यही प्रवृत्ति स्पष्ट थी कि अभिनेता का मानवीय चरित्र दर्शको पर आरोपित न हो। यह मुखौटोवाली नाट्य-परम्परा एक तरह से कठपुतली-नाट्य और मानवीय-नाट्य के बीच की कड़ी मात्र थी।

मानवीय-नाट्य का सम्पूर्ण रूप

नाट्य के विकास की पाँचवी सीढी सम्पूर्ण मानवीय-नाट्य है, जिसमे अभिनेता अपने मे किसी चरित्र-विशेष का आरोप करने मे वेश-विन्यास तथा मुख-विन्यास के अलावा किसी विशेष बाह्यसाधनो का सहारा नही लेता। चूँकि मानवीय-नाट्य का विकास कठपुतली एव चर्मपुतली से हुआ, अत. उसकी स्मृतियो को कायम रखने के लिये उसने अपनी नाट्य-योजना मे भी सूत्रधार को कायम रखा, जो कठपुतली की तरह सूत्रो से सचालित तो नही होता, परतु वह अन्य पात्रो का निर्देशन अवश्य करता था। यह सूत्रधार नाना प्रकार से इन नाट्यो मे प्रयुक्त होता था। नाट्यशास्त्र की दृष्टि मे सस्कृत नाटक सबसे पुराने माने जाते हैं, परन्तु लोकनाट्यो की अवस्थिति तो उनसे भी बहुत पुरानी है। ऐसी कई घुमक्कड़ नाट्य-मडलियाँ थी, जिनके प्रदर्शन न केवल गाँव के चौराहो, सास्कृतिक पर्वों तथा मठ-मन्दिरो मे होते थे, बल्कि राजाओ और सम्राटो के दरबार मे भी उनके द्वारा मनोरजन प्राप्त किया जाता था। जैन ग्रन्थो मे ऐसी मडलियो के अनेक उल्लेख मिलते हैं जिनके नाट्य लिखित रूप मे कही परिलक्षित नही होते। इन नाट्यो का सम्पूर्ण स्वरूप, इनकी रगमचीय योजना तथा इनकी बनावट के सम्बन्ध मे उनसे विशेष प्रकाश नही मिलता। इन उल्लेखो से केवल यही ज्ञात होता है कि कुछ घुमक्कड कलाकार विभिन्न वेशभूषाओ मे विविध सगीत वाद्यो के सहारे नाच-गाकर अपने नाट्य स्वरूप प्रस्तुत करते थे। भरतमुनिकृत नाट्यशास्त्र मे उल्लिखित रगमचीय एव अन्य नाट्य सम्बन्धी नियमों का प्रतिपालन इन नाटको मे कही हुआ हो, ऐसा नही लगता। नाट्यशास्त्र के तात्विक विवेचन के अनुरूप लिखे जानेवाले भास एव कालिदास के नाटको से भी सैकडो वर्ष पूर्व अश्वघोष द्वारा लिखे हुए बौद्ध नाटक सारिपुत्र के कुछ बिखरे हुए अवशेष ताडपत्र

पर कहीं-कहीं उपलब्ध हुए हैं, परन्तु उनसे भी उसके सम्पूर्ण नाट्यतत्र का पता नहीं लगता। जिन मनोरंजनात्मक नाट्यो का उल्लेख जैन सूत्रो मे हुआ है, वे निश्चय ही शास्त्रोक्त नाट्य नियमो से बंधे हुए नही थे और न उस समय विद्वानों द्वारा नाट्यतत्र की कल्पना ही की गई थी। ये लोकधर्मी नाट्य निश्चय ही सभी नियमो से मुक्त होकर स्वच्छंद रूप से प्रदर्शित होते थे।

प्राचीन जैनागमो मे ऐसे कई नाट्यों का वर्णन है जो तीर्थंकरो के सामने प्रस्तुत होते थे। भगवान् ऋषभदेव के उद्भव से पूर्व मानव-समाज नाना कलह और संघर्षों मे उलझा हुआ था, उसी सक्रान्तिकाल मे भगवान् ने मनुष्य में आनन्द-उल्लास की भावना की वृद्धि करने तथा उनको भोजन, विश्राम आदि की भौतिक भावना से ऊपर उठाकर आत्मिक आनन्द की ओर ले जाने के लिये पुरुष को ७२ और स्त्रियो को ६४ कलाएँ सिखलाई। जैनागमो मे जहाँ देवताओ का वर्णन है वहाँ उनका जीवन अधिकांश नाटक, सगीत, नृत्य आदि में ही लीन हुआ दर्शाया गया है। इन प्रसंगो मे जिन नृत्यो का वर्णन है, उनका उल्लेख स्वय नाट्यशास्त्र मे भी नहीं है, क्योंकि उसकी रचना तब तक नहीं हुई थी। भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र मे जिन पाँच प्रकार के अभिनयो, प्रात्यंतिक, सामान्य, नोपानिपातनिक, दार्शनिक और लोकमाध्यवसानिक का प्रचुरता से उल्लेख है, वे वस्तुत शास्त्रोक्त नियमों मे बंधे नही थे। लोकजीवन मे फिर भी सर्वत्र इनका व्यापक व्यवहार होता था। इन नाट्यो के विशद रूप क्या थे इसका पता लगाना आज बहुत कठिन है। परन्तु विविध जैन आगमों मे जो उनका अद्भुत वर्णन मिलता है उनसे उनके शृंगार, विविध नृत्य-प्रकार और विभिन्न वाद्ययत्रो के अस्तित्व का आभास उपलब्ध होता है, जिनका उल्लेख स्वयं नाट्यशास्त्र ही में नहीं हुआ है। इन्ही उल्लेखों मे ३२ प्रकार के नाटक भी हैं जो देवगणो के सन्मुख प्रदर्शित होते थे। इन नाटको मे स्त्री-पुरुष सभी भाग लेते थे तथा उनमे नाना प्रकार के रास, नृत्य आदि की योजना थी। इनके लिये कोई विशिष्ट रंगशालाएँ नही थीं। कही भी चौडे स्थान मे डडकमडल तानकर विविध सिंहासनों तथा साजसज्जा के साथ वे प्रदर्शित होते थे। ये अधिकाश मे मौखिक परम्परा के रूप मे चलते थे, इसलिये इनके लिखित रूप नही मिलते।

विक्रम संवत् के प्रारम्भ मे सस्कृत नाटक लिखे जाने लगे जिनका पूर्ण आधार नाट्यशास्त्र था। जनसाधारण के नाटको की परम्परा तो उससे भी कई हजार वर्ष पूर्व की है। मध्यकाल मे ये लोकधर्मी नाट्य रास, चर्चरि, फागु

आदि के नाम से प्रचलित हुए, जो जीवन के प्रत्येक आनन्दमय प्रसगो मे खेले जाते थे। ये सभी नाट्य गेय थे इसलिये ये बड़े आनन्द से गाये जाते थे और नृत्य तथा वादन के साथ उनका बहुसख्यक जनता के समक्ष प्रदर्शन होता था। ये ही खेल तमाशे समय के अनुसार अपना स्वरूप बदलते गये। ये ही लोकधर्मी परम्पराएँ आज भी हमारे देश मे ख्याल, रास, स्वांग, तमाशे, जात्रा, लीलाएँ आदि के रूप में प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं, जिनसे भारतीय जनमानस आनन्द और प्रेरणा ग्रहण करता है।

पुतलीनाट्य के विशिष्ट नाट्य-तत्व

जैसा कि पूर्व परिच्छेद में विवेचन किया गया है कि पूर्वजो और युगपुरुषो की स्मृतिस्वरूप पत्थर और काष्ठपुतलियो का निर्माण अनादिकाल से हमारे देश में होता आ रहा है। इन स्थिर प्रज्ञ मूर्तियो की पूजा, अर्चना सजाव-शृ गार भी उनके प्रति प्रगाढ श्रद्धा और भक्ति के ही द्योतक है। हमारे आदिवासियो मे आज भी काष्ठ, मिट्टी और पाषाण की मूर्तियाँ न केवल उनके वदन, अर्चन ही की माध्यम हैं वलिक उनके असख्य नृत्य, गीत, नाट्य एवं सांस्कृतिक पर्वों की सृष्टा भी हैं। ये काष्ठ एव पाषाणखड किसी समय मानव के उन विशिष्ट व्यक्तियों से सम्वन्धित थे, जो अपने विगत मानवीय नृत्यो के चमत्कार के कारण पूजनीय वन गये। वे ऐसे ही समुदाय द्वारा पूजे जाते थे जिनके सोचने, समझने तथा अन्य मानवीय व्यवहार का दायरा वहुत ही छोटा था। इसीलिये कोई व्यक्ति गायो के झुण्ड को हत्या से वचा लेता था, तो वह उनका देवता वन जाता था। सांप के काटे हुए को जिला देने वाला व्यक्ति चमत्कारिक पुरुष वन जाता था। कोई विशिष्ट डाकू किसी धनाढ्य का धन लूटकर किसी सत्कार्य मे लगा देता तो वह पूजनीय वन जाता। यही कारण है कि राजस्थान के रामदेवजी, पावूजी, गोगाजी, तेजाजी, डूंगजी, जवारजी आदि व्यक्तित्व ग्रामीण जनता के लिये देवता तुल्य वनकर अनेको मेलो, पर्वों, गीतो तथा नाट्यो के प्रेरक वन गये। मानव और देवता के वीच के ऐसे ही व्यक्तित्व चित्रो एव मूर्तियो के रूप मे निर्मित होते थे और नृत्य-गान के माध्यम से उनकी जीवनगाथाओ को प्रस्तुत किया जाता था। ये सव मनोरजनात्मक प्रवृत्तियाँ मानवीय नाट्य का रूप इसलिये ग्रहण नही कर सकी, क्योंकि मानव को उनकी अनुकृति वनकर व्यवहृत होने की सामाजिक स्वीकृति प्राप्त नही थी। अत इन सव गाथाओ को नाट्यरूप देने के लिये चित्रपट, काष्ठ और छायापुतलियो का सहारा लिया गया। इस सम्वन्ध मे पूर्व पृष्ठो

मे पर्याप्त प्रकाश डाला गया है और मानवीय नाट्य के क्रमिक विकास की समस्त सीढियाँ विस्तार से दर्शाई गई हैं।

चित्रपटों के विशिष्ट नाट्य-तत्व

पुतलियो और चित्रों द्वारा विगत महापुरुषो की जीवन-गाथाओं को चिरजीवित रखने के लिये जो गीत और नृत्य रचे गये, उनमे नाट्यगुणो की प्रधानता थी। आज भी राजस्थान मे पाबूजी एवं देवनारायण की जो पडें दिखलाई जाती हैं, उनके साथ गीत गाती हुई दीपवाहिनी महिलाएँ तथा पाबूजी के पवाडे गाकर नाचनेवाले भोपे इस तरह समा बांध देते हैं कि जैसे पडो के समस्त चित्र मूर्तिमान हो रहे हो। गीतो की रचना भी इस क्रम से की जाती है कि कथा प्रारम्भ मे बीजरूप मे अवतरित होती है, फिर वह अनेक प्रासगिक कथाओं को अपने साथ लेती हुई एक सरिता की तरह छोटी-छोटी सहायक नदियो को अपने मे मिलाकर एक बृहद् नदी का रूप धारण करती है। मूल नायक के चरित्र के उत्कर्ष-अपकर्ष की अनेक स्थितियो का चयन क्रमबद्ध एवं नियोजित रूप से होता जाता है। समस्त गीत सवादो के रूप मे प्रस्तुत होते हैं तथा जहां कथानक को आगे बढाना होता है, वहां वर्णन का सहारा लिया जाता है। गायन और नर्तन करने वाले इन गीतो मे इस तरह सराबोर हो जाते हैं कि दर्शक और श्रोतागण रसविभोर होकर झूम उठते हैं। जहां युद्ध के वर्णन आते हैं, वहां भुजाएँ फडकने लग जाती हैं। विरह-वर्णन मे आँखों से अश्रुधारा बहने लगती है और त्याग एव बलिदान के प्रसगो में हृदय आर्द्र हो जाते हैं।

इन चित्र-गाथाओ के गीत पढने की सामग्री नही है। चित्रपटों के सन्मुख गाते-नाचते तथा दीपक दिखलाते हुए भोपे और भोपिन जब इन गीतो का रावणहत्था नामक साज के साथ पाठ करते हैं तभी रसनिष्पत्ति होती है। जिन धुनो में ये गीत गाये जाते हैं वे नाट्योचित धुनें हैं और जिन छन्दो मे ये गीत रचे गये हैं वे भी विविध नाट्यागों की पूर्ति मे पूर्ण सहायक सिद्ध हुए हैं। कभी-कभी यदि गीत के स्वरसयुक्त शब्द नाट्य का स्वरूप बांधने मे सफल नही होते तो उनके साथ नाना प्रकार की शब्दविहीन धुनें जुड जाती हैं, जो अर्थहीन होते हुए भी गहन अर्थ की सृष्टि करती हैं। इन चित्रपटो पर भोपिन स्त्रियो द्वारा जो दीपक दिखलाये जाते हैं वे स्वय भी उनके नाट्य-रूपक मे बड़ा महत्त्वपूर्ण भाग अदा करते हैं। स्थिररूप से वे चित्रपट पर

रोशनी नही फेंकते, बल्कि अत्यन्त कलात्मक ढग से क्रियाशील होते हुए तथा नाट्यपात्रो की तरह अभिनय करते हुए दृष्टिगत होते हैं। दीपक घुमानेवाली स्त्रियाँ जब दीपक लेकर चलती हैं तो उनके गहरे रग के वस्त्र नजर नही आते। केवल घूमते हुए दीपक और उनके द्वारा बनाई हुई प्रकाश-रेखाएँ ही दृष्टिगत होती हैं। आगिक मुद्राओ मे घूमती हुई दीपवाहिनी भोपिन प्रत्यक्ष होती हुई भी अप्रत्यक्ष-सी लगती है। इसी तरह भोपो द्वारा बजाये जानेवाले रावणहत्थे तथा उन पर गाये जानेवाले पड-गीतो पर उनके अग-प्रत्यग नाटकीय भावभगिमाओ का ही आभास देते हैं।

चर्मपुतलियों का नाटच एवं रचना-विधान

इन चित्रपटो के विविध चित्र जब चर्मपुतलियो मे विकसित हुए और स्वय चलायमान होने लगे तो उनका नाट्यस्वरूप भी किसी निर्दिष्ट दिशा मे अग्रसर हुआ। कपडे पर बने हुए चित्र चमडे पर रगे और काटे गये और छडियो के सहारे उन्हें विविध नाट्यपात्रो की तरह घुमाया-फिराया जाने लगा। ये ही कटी हुई आकृतियाँ बाद मे पारदर्शी की गईं और उनकी जगह उनकी छायाएँ सफेद परदे पर नाना प्रकार से क्रिया-कलाप योग्य बनाई गईं। सहस्रो वर्ष की पृष्ठभूमि लिये हुए ये छायापुतलियाँ आज भी आन्ध्र मे अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँची हुई हैं। सर्वागीय नाट्यगुणो से सुशोभित इन पुतलियो को इनकी विशिष्ट परम्परागत जातियो ने आज भी सुरक्षित रखा है। इन कटे हुए चर्मचित्रो मे किसी पात्र-विशेष का स्वरूप अतर्हित मानकर उनमे दैवी शक्ति का प्रवेश कराया जाता है। इसके लिये नाना प्रकार के संस्कार, अनुष्ठान आदि का आयोजन होता है और पूर्वजो द्वारा प्राप्त हुई इस दिव्य धरोहर को वे नित नवीन चित्राकन से सप्राणित रखते हैं। उन्हे सूर्य का प्रकाश भी नही दिखाते हैं। किसी अवाछित व्यक्ति की उस पर छाया भी नही पडने देते तथा प्रदर्शन से पूर्व उसका अर्चन-वन्दन करके उसमे दिवगत आत्मा का आह्वान करते हैं। जब ये पुतलियाँ विशिष्ट कथाप्रसग मे प्रयुक्त पात्रो का प्रतिनिधित्व करती हैं और विधिवत् पूजा-अर्चन के बाद उनमे प्राण-प्रतिष्ठा हो जाती है तो वे दर्शक एव परिचालको की पूर्ण श्रद्धा की पात्र बन जाती हैं और विशिष्ट नाट्य मे प्रविष्ट होने के लिये उनका समस्त व्यक्तित्व परिस्फुटित हुआ समझ लिया जाता है। वे दिवगत आत्मा की अनुकृति नही बल्कि उनकी प्रतिनिधि मात्र समझी जाती हैं।

उस दिवगत आत्मा की, जिसका वे प्रतिनिधित्व करती हैं, आकृति से उसकी आकृति बचाई जाती है तथा शरीर के सभी अग-प्रत्यगो को मानवीय आकृति से भिन्न बनाकर उसका दिव्य स्वरूप प्रकाश मे लाया जाता है। मानवीय शरीर को छोडकर जिस दिव्य शक्ति का चोला धारण होता है, उसकी कल्पना विधिवत् की गई हो, ऐसा अनुमान इन चर्म-आकृतियो को देखकर लगाया जा सकता है। सहस्रो वर्षों से परिपक्व हुई यह कल्पना, ऐसा प्रतीत होता है, अब कोई विशेष परम्परा बन गई है। पृथ्वी पर अनेक पुण्य कार्य करनेवाला मानव देवयोनि मे प्रवेश करता है और उसके साथ जुडे हुए समस्त प्राणी अपने पाप-पुण्य कर्मो के अनुसार मरणोपरान्त कोई अच्छी या बुरी योनि प्राप्त करते हैं, इसका एक परिपुष्ट टेकनिक इन पुतलीकारो ने पुतलियो की आकृतियाँ निर्धारित करने के लिये सहस्रो वर्षों के अनुभव से विकसित किया है, इसीलिये किसी दिव्य पुरुष की आकृति मे चेहरा बडा, ललाट चौडा, नेत्र विशाल, भुजाएँ परिपुष्ट, जघाएँ भरी हुई तथा नाक और होठ सधे हुए और सुन्दर बनाये जाते हैं। शरीर का अनुपात मानवीय शरीर से कुछ छोटा और मुख मानवीय शरीर के अनुपात से काफ़ी बडा होता है। हाथो की लम्बाई बहुधा घुटनो से काफी नीचे तक जाती है। पाँव अनुपात से छोटे परन्तु उगलियाँ कुछ बडी होती हैं। इनके मुख गहरे लाल रग से रगे जाते हैं। सजावट मे पीले रग की प्रधानता रहती है। भौहें काली पर नयन कजरारे होते हुए भी नीलिमा लिये हुए होते हैं। नाना प्रकार के छेदो से बनाए हुए शृ गार मे वैविध्य होता है। महानायक के शरीर की रचना मे उक्त परम्परा के अनुसार आकृतियो और अलंकरण आदि मे कुछ विशेषताएँ और होती हैं, जैसे माथे पर मुकुट, कमर मे स्वर्ण-शृ खला, हथेली तथा हाथो में रत्नजटित शृ गार। इसी तरह उपनायक तथा अन्य सहनायको की विविध आकृतियाँ एव उनके शृ गार परम्परा से निश्चित होते हैं।

दुष्टजनो के लिये विविध आकृतियाँ एव उनके रगविधान आदि परम्परा-पुष्ट होते हैं। उनके होठ बडे, आंखें छोटी, कान बडे, ललाट सूक्ष्म, कधे पिचके हुए, वक्ष स्थल दबा हुआ, पुट्ठे उभरे हुए, जघाएँ पतली, हाथ छोटे एव उँगलियाँ अनुपात से बडी, केश उच्छृखल, नाक चपटी, धड भीमकाय, एडियाँ एव पाँवो की उँगलियाँ टेढीमेढी एव विकृत होती हैं। इसी तरह परमदुष्ट, किंचित् दुष्ट, अतिदुष्ट, निकृष्ट, अतिनिकृष्ट आदि पात्रो के अनुपातों मे भी नाना प्रकार के भेद-विभेद अलिखित शास्त्र के रूप मे परम्परा से चले आरहे हैं। इनके रगो मे भी नाना प्रकार के भेद-विभेद हैं चेहरा लाल परन्तु कालापन लिये हुए होता है।

उसमे पीले रग का नितान्त अभाव, काले रग की प्रधानता, भूरे रंग की प्रतिच्छायाएँ, हरे रग की गहराई तथा नीले रग की कालिमाएँ होती हैं। शरीर पर शृ गार प्राय नही के बराबर होता है, तथा कही-कही तो परिधान केवल लाज ढकने के लिये ही दर्शाया जाता है। अनिदुष्टजन अपने नीच कर्मो से जब राक्षसी प्रवत्तियो को प्राप्त होते हैं तो उनके चेहरे भैंसे की सी आकृति-वाले, नाक गेंद के समान, जबडे कूप की तरह गडे हुए, हड्डियां ऊपर उभरी हुई, दांत बाहर निकले हुए, पांव पिचके हुए, हथेलियां कांटो की तरह, जघाएँ पतली लकडी जैसी तथा शरीर का ढाँचा अत्यन्त विकृत होता है।

इस तरह न केवल मानवीय पात्र पुतलियो मे निर्मित होते हैं, बल्कि पशु-पक्षियो के भी नाना रूप इन नाट्यो की शोभा बढाते हैं। यदि महानायक का विशिष्ट वाहन कोई पशु होता है तो उसे अत्यन्त पूजनीय मानकर अत्यधिक अलकृत किया जाता है। अपने स्वामी की तरह वह भी दिव्ययोनि प्राप्त प्राणी माना जाता है तथा उसके आकार-प्रकार भी पार्थिव पशु-पक्षियो से भिन्न होते हैं। यदि महानायक का वाहन घोडा होता है तो उसके बहुधा पख लगे हुए होते हैं, क्योकि वह कभी-कभी हवा मे भी उडता है। यदि उसका वाहन कोई हाथी है तो उसके एक सू ड नही अनेक सूँडें होती हैं। ये प्राणी भी अपने स्वामियो की तरह दिव्य प्राणी समझे जाते है, अत पार्थिव पशु-पक्षियो की तरह ही इनके सभी अनुपात अतिरजित होते है। दुष्टजनो के साथ पशु-पक्षी न भी जुडे हो तो भी उनके पुतलीस्वरूपो मे वे अनायास ही जोड दिये जाते हैं। जैसे भैंस, गिद्ध, सांप, विच्छू, कुत्ते, गधे आदि।

पुतलीपात्रो में नारी का अभाव

पुतलीपात्रो के सम्बन्ध मे एक विशिष्ट बात जो महत्त्व की है, वह यह कि उनमे नारीपात्रो का नितात अभाव रहता है। आज जो चर्मपुतलियां हमारे देश मे विद्यमान हैं वे विषय की दृष्टि से पुरातन पुतलियो से भिन्न हैं। पुरातन पुतलियां दिवगत महापुरुषो के जीवन अकित करने के लिये ही अवतरित हुई थी। उनके पात्र उनकी रचनाएँ सौ डेढ सौ या चारसौ पांचसौ वर्ष से अधिक प्राचीन नही होते थे। उस समय अवतारी पुरुषो की कल्पना साकार नहीं हुई थी। मर कर कोई व्यक्ति देव या प्रेत बनता है, इसी कल्पना के आधार पर उनका अर्चन, चितन और स्मरण निर्भर रहता था। आज तो आन्ध्र की छायापुतलियो मे द्रौपदी, सत्यभामा, राधा, सुभद्रा, अहिल्या आदि नारियो का समावेश हुआ है परन्तु पुरुषपात्रो की तुलना मे वे अभी भी

अभाव की स्थिति मे ही हैं। उस युग के पात्रो मे द्रौपदी और राधा जैसी स्त्रियां भी इतना महत्त्व प्राप्त कर सकती थी, परन्तु आज किसी भी स्त्री के पाच पति एव किसी विवाहिता स्त्री के बहुसख्यक प्रेमियो की कल्पना अत्यन्त-हीन कल्पना समझी जाती है। स्त्री के प्रति उक्त भावनाओं के कारण ही स्त्रीपात्रो के सम्बन्ध मे आकृति एव रगमूलक कोई विशिष्ट परम्परा इन पुतलियो मे परिलक्षित नही होती। आन्ध्र की छायापुतलियो मे जहाँ सीता, द्रौपदी, राधा आदि नारियो का चित्रण हुआ है, वहाँ उन पर आकृति तथा रग सम्बन्धी उन्ही परम्पराओ का पालन हुआ है, जो पुरुषो के सम्बन्ध मे हुई हैं। एक बात जो यहाँ अवश्य ही ध्यान देने योग्य है, वह यह कि स्त्री की आकृति को अधिक विकृत नही किया गया है, उसका चित्रण बहुधा मानवीय पात्रो की तरह ही हुआ है। चेहरे की मनमोहकता, अच्छी या बुरी नारी में समान रूप से ही कायम रखी हुई है। पुतलियो की नारी को पुरुषों को डाँवाडोल करके विचलित करनेवाली ही दर्शाया गया है। वह दिव्य गुणो को प्राप्त करने मे सदा ही असमर्थ रही है। नारीपात्रो के शृगार, अलकरण आदि पर भी अत्यधिक ज़ोर दिया गया है।

पुतलियों के भावमय चेहरे

पुतलियो के आकार, प्रकार, शृगार, आहार्य सम्बन्धी इतने बड़े शास्त्र की, चाहे वह अलिखित ही क्यो न हो, स्वय भरतमुनि भी कल्पना नही कर सके थे। सतोगुणी, रजोगुणी तथा तमोगुणी चरित्रो के वेशभूषा सम्बन्धी जो स्वरूप भरतमुनि ने निर्धारित किये हैं, वे सभी पुरातन पुतलियो मे विद्यमान हैं। जो आकृतिमूलक विशेषताएँ इन पुतलियो मे पाई जाती हैं, वे पात्रों के गुण-दोषो पर तो आधारित हैं ही, वरन् उनके प्रधान भावतत्त्वो पर भी आधारित हैं। पात्र के प्रधान गुण-तत्त्वो को प्रकट करने वाले प्रमुख सचारी भावो की रेखाएँ चर्मपुतलियो पर अकित करदी जाती हैं। जैसे किसी विनोदशील पात्र के मुख की रेखाओ मे हास्य, आतक और डर उत्पन्न करने वाले राक्षसी पात्रो की रग-रेखाओ में भय एव शान्त सौम्यगुणी पात्रो के चेहरो से शान्ति का आज भी आभास होता है। ये स्थिरभावी चेहरे यद्यपि किसी प्रमुख भाव की ही सृष्टि करते हैं, फिर भी बदलती हुई भावस्थितियो में वे विपरीत प्रभाव उत्पन्न नही करते। समस्त नाट्यरचना में कथावाचन, कथोपकथन, सगीत तथा पुतली-सचालन की ऐसी अद्भुत वदिश होती है कि ये स्थिरभावी चेहरे भी कभी-कभी बदलते हुए भावो का भ्रम उत्पन्न करने मे समर्थ होते हैं।

पुतली-परिचालक ऐसी विषम स्थितियो मे स्वयं पुतली को भी ऐसा मोड देता है कि उसका चेहरा परदे पर चपटा हो जाने से तुरन्त अधकारग्रस्त हो जाता है और चेहरे की अनावश्यक एव रसाभास उत्पन्न करने वाली भावमुद्रा तिरोहित हो जाती है। जिस तरह मानवीय पात्र नाट्यमच पर स्थिति के अनुसार अपना भाव बदलता है, उसी तरह पुतली-परिचालक भी पुतलियो को तुरन्त मोड़कर उनमे भाव-परिवर्तन की स्थिति उत्पन्न करता है।

समस्त पुतलीनाट्य के रसप्रतिपादन मे पुतली की भावमुद्राएँ जितनी उत्तरदायी नही हैं उतनी उसके कथावाचन, स्वरसचरण, वाद्यवादन एवं प्रस्तुतीकरण की कलाएँ हैं। मानवीय नाट्य मे मानवीय पात्र अपने अग-सचालन, कथोपकथन तथा चेहरे की भावमुद्राओ के माध्यम से रसोद्रेक की स्थिति पैदा करता है और रगमचीय साजसज्जा, वेशविन्यास, मुखविन्यास, दृश्य-विधान, गायन, नर्तन आदि उस प्रमुख भाव को उद्दीप्त करते हैं। परन्तु पुतलीनाट्य मे यह क्रम उलट जाता है। पुतली-परिचालको द्वारा गाये हुए गीत, सवाद, वाचन, गाथा, विवेचन आदि विशिष्ट भाव-स्थितियाँ उत्पन्न करते हैं और पुतलीपात्र अपनी आकृतिमूलक अगभगिमाओ द्वारा उन भावो को उद्दीप्त करके रसोद्रेक की स्थिति उत्पन्न करते हैं। नाट्यतत्र की शास्त्रीय भाषा मे पुतलीनाट्य के नाट्य-अनुवन्ध, गीत-सवाद, वाचन आदि रसोद्रेक की स्थिति उत्पन्न करने वाले नाट्यपात्र के समान हैं तो पुतलियाँ स्वय रगमचीय दृश्य-विधान, साज-सज्जा आदि की तरह रसोद्दीपन सामग्री का काम करती हैं। वास्तव मे वास्तविक नाट्यपात्र तो पुतली-परिचालक ही है, जिसके हाथ मे पुतली की छडियाँ रहती है और जिनसे वह उन्हे विविध क्रिया-कलापो मे निरत करता है। उनके साथ गाता भी वही है और उछल-कूद भी वही करता है। वह स्वय प्रत्यक्ष नही होता। वह केवल पुतली को परदे पर पडी हुई उसकी छाया के रूप मे प्रत्यक्ष करता है। पुतली उसका शरीर है तो वह उसकी प्राण-दायिनी शक्ति। अत जो भी भावोद्रेक होता है, वह पुतली-परिचालक मे होता है, पुतली मे नही। पुतली तो केवल उन भावो को उद्दीप्त करके उन्हे अन्य प्रसाधनो की मदद से रस की स्थिति तक पहुँचाती है।

पुतलीनाट्य-रचना

पुतलियो के कथोपकथन आदि मे भी पुरातन पुतली-मर्मज्ञो ने मानवीय कथोपकथन शैली का आधार नही लिया। उन्हे यह भली प्रकार ज्ञात था कि रक्त-मास-विहीन पुत लियो मे सवेदन शक्ति नही है। वे हिल सकती हैं,

अंग-सचालन भी कर सकती हैं, होठ और आँख को चलायमान कर सकती हैं तथा बोलने का उपक्रम भी कर सकती हैं, परन्तु वास्तव मे वे बोल नहीं सकती। ऐसी स्थिति मे उन पर कथोपकथन आदि मानवीय ढग से थोप देने से उनका दर्शकों पर कोई प्रभाव नही पडता। यही कारण है कि पुतलियो से वाचन, संभाषण आदि उसी समय कराया जाता है, जबकि वे अत्यधिक क्रियाशील हों ताकि क्रिया-कलापों के अस्पष्ट अर्थ शाब्दिक अर्थो मे मिलकर सपूर्ण अर्थ की सृष्टि कर सकें। पुतली की स्थिर स्थिति में बहुधा कोई संभाषण नही होता। उस समय वाचन द्वारा कथाप्रसग को अत्यत रोचक ढग से बढाया जाता है और प्रत्यक्ष सभाषणजनित कमियो को पूरा किया जाता है। कथाप्रसग के चुनाव मे भी उन्हीं स्थितियो को प्रधानता दी जाती है, जो क्रियाप्रधान हो और आदेश, उपदेश, भाषण आदि अरुचिकर स्थितियो से मुक्त हो। पुतलियो के माध्यम से भावाभिव्यजनाएँ जहाँ तक हो सके बचा ली जाती हैं और उन्ही उद्रेकमयी स्थितियो को प्रधानता दी जाती है जिनमे पुतलियो की उछल-कूद, उनकी उड़ान तथा क्रियाशील स्थितियाँ सर्वोपरि स्थान पा सके। यही कारण है कि पुतलीनाट्य की रचना मानवीय नाट्य जितनी सरल नही है। पुतली-नाट्यतत्र इतना जटिल है कि कोई भी साधारण पुतलीकार नवीन रचना करने की हिम्मत नही करता। विरले ही ऐसे चमत्कारी पुतलीकार पैदा होते हैं जो किसी विशिष्ट पुतलीनाट्य की परम्परा डालते हैं और कई वर्षो मे वे परिपक्व नाट्य का स्वरूप ग्रहण करती हैं। आज जो आन्ध्र मे महाभारत तथा रामायण आदि पर आधारित छायानाट्य चलते हैं उनके प्रारम्भिक एव मौलिक रूप की कल्पना करना सभव नही है। सदियो से जो एक ही नाट्य सभी शैली की भारतीय कठपुतलियो मे चलता है, उसका अर्थ यह कभी नही है कि पुतलीनाट्य का रचनाक्रम शिथिल पड गया है और दर्शको की उदासीनता के कारण अब कोई भी नवीन रचना का खर्च वहन करने को तैयार नहीं। सदियों पूर्व रची हुई ये भारतीय पुतली रचनाएँ अपने को किसी विशिष्ट रचयिता के नाम के साथ नही जोडतीं। उनकी सार्थकता और व्यापकता इसी में है कि वे सामाजिक धरातल पर अवस्थित हैं और सामाजिक पुतलियो ही का अंकन उन्होंने स्वीकार किया है। यही कारण है कि भारतीय पुतलियाँ सर्वदा ही लोकशैली पर ही निर्मित हुई हैं और किसी व्यक्तिविशेष की अभिव्यक्ति से वे सदा ही दूर रही हैं। जनमानस पर आज भी उनका जो चिरस्थायी प्रभाव पडता है और समाज उस रचना को एक सामाजिक सस्कार की तरह स्वीकार करता है, उसके पीछे भी उसकी गहरी लोकशैली ही है।

भारतीय पुतलियाँ, जो कुछ ही सूत्रो, छडियो तथा न्यूनतम रगमचीय साज़-सज्जाओ के माध्यम से किसी सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रसग को लेकर भी इतना गहरा प्रभाव उत्पन्न करती हैं, उसके पीछे सहस्रो प्रतिभाओ का हाथ है। उन्होने निरन्तर एव लम्बे परीक्षण तथा प्रयोग से यह भली प्रकार ज्ञात कर लिया है कि किस प्रकार के वाचन, नर्तन, गायन एव परिचालन से पुतलियाँ सर्वाधिक प्रभावशाली हो सकती हैं। पुतली के निर्माण मे भी भावोद्दीपन की समस्त वारीकियो का पता लगा लिया गया है और उन्ही के अनुसार पुतलियो के अनुपात, रग एव विविध रेखाओ का आयोजन-नियोजन होता है।

कठपुतलियाँ और चर्मपुतलियाँ

भारतीय काष्ठपुतलियो के सबध मे भी ये ही सिद्धात लागू होते हैं। काष्ठपुतलियाँ चर्मपुतलियो की ही वशज हैं। उनकी उत्पत्ति चर्मपुतलियो के शारीरिक अवयवो के अभाव की पूर्ति के लिए ही हुई थी। चर्मपुतलियो मे स्थूल शरीर की कल्पना करना असभव था। सवसे वडी सीमा तो यह थी कि उसका प्रोफील (Prof1le) वाला मुख ही सफल अनुकृतिमूलक छाया की सृष्टि करता था। सामने का मुख केवल अधकार का पुज मात्र था। पुतली को घुमाने-फिराने तथा उसके द्वारा सन्मुख हुई अन्य पुतलियो की ओर उसका उन्मुख होना अत्यत कष्टसाध्य कार्य था। पुतली के शृगार एव अन्य प्रसाधन भी रगो द्वारा ही चित्रित किये जाते थे। उन पर वस्त्र आभूषण का वास्तविक शृगार सभव नही था। इन्ही सीमाओ पर विजय प्राप्त करने के लिये काष्ठ-पुतलियो का आविर्भाव हुआ, परन्तु पुतलीनाट्य-विज्ञान की परम्परा पूर्ववत् ही कायम रही। कठपुतली के माध्यम से पुतलीनाट्य परिपक्व तथा सर्वांगपूर्ण अवश्य हुआ, परन्तु वह प्रचलित पुतलीनाट्य के एक विशिष्ट प्रकार के रूप मे। काष्ठ की पुतलियो मे जो नाट्य रचे गये, वे परम्परा से पुष्ट हुए। किसी व्यक्तिविशेष की प्रतिमा उनके लिये पर्याप्त नही थी। उनकी पृष्ठभूमि सैकडो वर्ष प्राचीन है। इन कठपुतलीकारो को अपनी पुतलियाँ परम्परा से प्राप्त हुई हैं, जिनकी सुरक्षा वे चर्मपुतलीकार की तरह ही करते है। मुख के रग-रोगन, पुतली के शृगार, सजाव, अतिरजित आकृतियाँ, वेश, आहार्य, परिचालन, सभाषण, गायन, भावाभिव्यजन, प्रस्तुतीकरण आदि मे भी चर्मपुतलियों के नियमो का ही पालन होता है। उनके गहन अध्ययन से उनमे अत्यत उच्चकोटि के नाट्यतत्वो के दर्शन होते हैं। समय और काल के चक्र से इन नाट्यो के केवल ध्वसावशेष अवश्य रह गये हैं, और कई विकृत कथाएं और क्षेपक उनमे जुड

गये हैं। अपनी निर्धनता के कारण इनकी पुतलियो की वेशभूषाएँ भी चिथडे बन गई हैं। पूर्वजो द्वारा पहिनाई हुई ये पोशाकें, जो कई परतो के रूप मे आज भी अपनी गलित अवस्था मे विद्यमान हैं, अपने पुरातन वैभव का भान कराती हैं।

इन काष्ठपुतलियो के विकृत नाट्य-प्रसगो मे भी किसी विगत पुष्ट नाट्य-परम्परा के दर्शन हो सकते हैं। इन पुतलियो के रगो मे अभी भी उसी पुरातन परम्परा का अनुशीलन किया गया है, जो आज भी आन्ध्र की छायापुतलियो मे विद्यमान है। राम और कृष्ण के चेहरे और शरीर कालिमा लिये हुए नीले रग के होते हैं। अन्य सब दिव्य चरित्रो के रगो मे लाल और पीले रगो की प्रधानता है तथा राक्षसी चरित्रो मे काले रगो का प्रयोग हुआ है। पुतलियो की आकृतियो की खुदाई मे उसी अतिरजनात्मक शैली का अनुसरण किया गया है जो चर्मपुतलियो मे विद्यमान है। उनकी विविध भावभगिमाओ को भी अत्यत मार्मिक ढग से तराशा गया है। हास्य, विनोद, भयानक, रौद्र, शान्त और मनमोहकता से परिपूर्ण पुतलियो के विविध चेहरे किसी न किसी परम्परा के अनुसार ही तराशे गये मालूम होते हैं। यद्यपि उडीसा की अधिकाश पुतलियां परम्परा से ही प्राप्त हुई हैं और नवीन पुतलियो का निर्माण बहुधा रुक-सा गया है, फिर भी उनसे यह भली प्रकार ज्ञात हो सकता है कि उनकी मुखाकृतियो तथा रग-विधान, परिधान, अलकरण आदि मे एक विशिष्ट नाट्यपरम्परा निहित है, जिसे आज उड़ीसा के सखी एव कन्हाई भाट लकीर मानकर पकड़े हुए हैं।

यद्यपि उडीसा की कठपुतलियो मे विशिष्ट क्रमबद्ध कथावस्तु के दर्शन नही होते, फिर भी जो बिखरे हुए कथाप्रसग आज भी मौजूद हैं, उनमे वस्तु-व्यवस्था का तनिक आभास मिल सकता है। कृष्ण-कथा मे कृष्ण जहाँ नायक के रूप मे दर्शाये गये हैं, वहाँ उपनायक के रूप मे बलराम आदि पात्रो का उपयोग हुआ है। राधा प्रधान नायिका के रूप मे अन्य नायिकाओ से अब भी सर्वोपरि मानी गई है। यद्यपि इस कथाप्रसग मे अनेक नवीन प्रसग घुस गये हैं और समस्त नाट्य नवीन पुरातन की एक बेमेल एव बेस्वाद खिचडी बन गई है, परन्तु उनका प्रस्तुतीकरण आज भी अत्यत प्रभावशाली ढग से होता है। पुतलियो का समाषण मानवीय सवाद के रूप मे प्रस्तुत नही होकर परिचालको द्वारा पुतली सवाद के रूप में अनायास ही प्रकट होता है। गीत परिचालक गाते है परन्तु उनका आरोपण पुतलियो पर बहुत ही मार्मिक ढग से होता है। पुतलियो का प्रधान विदूषक इस सवाद आरोपण मे जबर्दस्त

हाथ बँटाता है। वह कई कथाप्रसगो को जोडता है और रगमच पर नहीं आने योग्य प्रसगो, दृश्यो एव पात्रो को बहुत ही रोचक ढग से प्रस्तुत करता है। यद्यपि रामायण एव महाभारत की कथाओ को इन कन्हैया तथा सन्वी नटो ने बहुत ही मनमाने ढग से प्रयुक्त किया है और परपरा की दृष्टि से उनमे काफी आघात भी पहुँचा है, परन्तु पुतलीनाट्य-विज्ञान की दृष्टि से उनके ये प्रयोग बहुत ही बुद्धिमत्तापूर्ण मालूम होते हैं। उन्हें यह भली प्रकार ज्ञात है कि चर्मपुतलियो की तरह उनकी ये काष्ठपुतलियाँ दर्शको को दीर्घकालीन मनोरजन प्रदान करने मे असमर्थ रहती हैं, अत कथाप्रसगो मे उन्होने जो स्वतत्रता ली है वह अनुचित नही है। छायापुतलियो के आकार-प्रकार, रग-रूप तथा रगमचीय विधान आदि बडे पैमाने पर बनाये जाते हैं। पुतलियाँ भी बहुधा मानवीय आकार की ही होती हैं। कई दलो के सहयोग से प्रदर्शन भी बडे पैमाने पर प्रस्तुत किये जाते हैं, अत दर्शको की सख्या पर कोई प्रतिबध नही है। रगमच भी मानवीय ऊँचाई से ऊपर बनता है, अत. लम्बी दूरी से भी दर्शकगण इन पुतलियो का भली प्रकार आनन्द ले सकते है, परन्तु काष्ठपुतलियो को अनेक सीमाओ मे रहना पडता है। वे वृहद् दर्शक समाज का मनोरजन करने मे असफल रहती हैं।

चर्मपुतलियो के सबध मे एक विशेष बात यह है कि इनमे मानवीय नाट्य का अश काष्ठपुतलियो से कही अधिक निखरा हुआ और स्पष्ट रूप से आरोपित होता है। समस्त परिचालकगण पुतलियो को पकडकर परदे के पीछे खडे रहते हैं और पुतलियो के साथ ही स्वय भी नाचते,-कूदते, फुदकते एव उछलते हैं। पीछे की प्रकाश-व्यवस्था की चतुराई के कारण ये परिचालकगण दर्शको को दृष्टिगत नही होते, परन्तु वास्तव मे नाट्य के पात्र स्वय पुतली-परिचालक ही हैं। पुतलियाँ तो केवल निमित्तमात्र हैं। यही कारण है कि ये छायापुतलियाँ दर्शको पर रसनिरूपण अधिक सफलतापूर्वक कर सकती हैं, परन्तु उडीसा तथा अन्य शैली की काष्ठपुतलियो का दायरा छोटा होता है। दर्शको की तादाद तो कम रहती है, परन्तु उनके लिये विशिष्ट रुचि के दर्शक भी आवश्यक होते है।

उडीसा की काष्ठनिर्मित पुतलियो की तरह ही दक्षिण भारत और राजस्थान की कठपुतलियाँ विशिष्ट रुचि के दर्शको को अधिक प्रभावित करती हैं। हलके-फुलके, अनुरजनात्मक तथा रसीले किस्म के लोग घटा दो घटा बैठकर इन पुतलियो का आनन्द ले सकते हैं। गभीर, चिन्तनशील तथा

दार्शनिक अभिरुचि के लोगो के मनोरंजन के लिये ये पुतलियाँ अधिक कारगर नहीं होती। यही कारण है कि ये काष्ठनिर्मित पुतलियाँ इन हलके-फुलके लोगो को अधिक मनोरजित करती हैं, छायापुतलियाँ कम। छायापुतलियो के अनुरंजनात्मक तत्व अधिक प्रबल हैं। चपटी और एकमुखी छायापुतली की भीमकाय छाया मे पूरे गोश्त-मास, रक्त तथा मासपेशियो वाले पात्रो की कल्पना करनी पडती है, जिसके लिये वयस्क मस्तिष्क और चिन्तनशील दर्शकों की आवश्यकता होती है। काष्ठपुतली खिलौने के समान सम्पूर्ण आकृतिमूलक होने के नाते बच्चो को अपनी ओर अधिक खीचती है। दक्षिण भारत की बम्मोलोटम पुतलियाँ भारत की अति प्राचीन परम्परा मे होते हुए भी उन्हे अनेक आघात सहने पड़े हैं। अन्य सुसम्पन्न और वैभवशाली कला स्वरूपों ने इस स्वरूप को लगभग नष्टप्राय: ही कर दिया है। इसका पुनर्जीवन तजोर के दरबार मे आज से तीन सौ वर्ष पूर्व ही हुआ। अत प्राचीन पुतली-परम्परा और मध्यकालीन पुतली-परपरा को जोड़नेवाली कोई विशिष्ट कडी कायम नही रही। आज से दो सौ वर्ष पूर्व कुभकुनम तथा मुदुकोटे के विशिष्ट अयगर परिवार उसे तजोर से अपने यहाँ ले आये और आज तक उसका अभ्यास करते रहे। कोचीन तथा तजोर के भरतनाट्यम, कुचपुडी, कथकलि, यक्षनाट्य शैलियो की अत्यधिक लोकप्रियता के कारण कठपुतली कला को निश्चय ही आघात पहुँचा है, बलिक यो कहिये कि उनके कारण उसका प्राय लोप ही हो गया है। आन्ध्र मे भी केवल उसके उत्तरी-पूर्वी भागो मे ही छाया पुतलियो का प्रचलन है। अन्य भागो मे उसकी लोकप्रियता को काफी धक्का लगा है। कुभकुनम की पुतलियाँ इसी कारण उडीसा और राजस्थान की पुतलियो से भिन्न हैं, क्योकि उन्हें अन्य नृत्य-स्वरूपो के मुकाबले जीवित रहना था, अत वे उनकी हूबहू नकल के रूप मे आविर्भूत हुई और जिस तरह मानवीय पात्र रगमच पर नाचते गाते हैं, उसी तरह ये पुतलियाँ भी मानवीय पात्रों की तरह क्रिया कलाप करती हैं। उनके आकार-प्रकार भी मानवीय पात्रो की तरह ही छोटे-बडे होने लगे हैं तथा प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से भी वे मानवीय पात्रो की तरह प्रस्तुत होने लगी हैं।

राजस्थान की कठपुतलियो मे आज भी पुरातन नाट्यतत्वो के दर्शन होते हैं। मध्यकालीन राजस्थान की विशिष्ट शासनिक तथा सामाजिक स्थिति के कारण इन पुतलियो ने अपना चोला अवश्य बदला है। मुगल साम्राज्य से प्रभावित राजस्थान के रजवाडे अपनी वेशभूषा, भाषा, रहन-सहन, व्यवहार, धर्मकर्म, समाजव्यवस्था, कलाकारिता आदि मे आगरा तथा दिल्ली की तरफ

उन्मुख हुए। परिणाम यह हुआ कि यहाँ के विविध राजे-महाराजे अपनी समस्त प्रेरणा मुगलदरबार से प्राप्त करने लगे। अनेक कलाकार, वादक, नर्तक, कवि, शायर, चित्रकार, दस्तकार तथा नाना प्रकार के शिल्पकार इन रजवाड़ो मे आश्रय प्राप्त करने लगे। राजस्थान के पुतली कलाकार भी इन आश्रित कलाकार वर्गों मे से एक थे। वे अपने पुरातन कथाप्रसग को छोडकर दिल्ली के दरबारी कलाकारो की तरह ही इन राजा-महाराजाओ के गुण गाने लगे। इनका सर्वोच्च आश्रयदाता नागौर का राजा अमरसिंह राठौड था, जिसने मुगलदरबार मे आश्रय पाकर भी समय पर अपनी मान-मर्यादा की रक्षा के लिये उनसे लोहा लिया। महत्त्वाकाक्षी नागौर के राजा अमरसिंह ने अपनी उपलब्धियो को कठपुतलियो के माध्यम से प्रचारित करने के उद्देश्य से इन पुतलीकारो को आश्रय प्रदान किया, जिसके फलस्वरूप अमरसिंह राठौड नामक कठपुतली नाटिका की सृष्टि हुई, जो आज भी अपनी सडी-गली अवस्था मे विद्यमान है। उसमे परम्परागत पुतलीनाट्य की अनेक विधाओ के दर्शन होते हैं। वर्तमान कथा-वस्तु किसी वृहत् कथावस्तु की अश मात्र प्रतीत होती है। नाट्यारम से पूर्व रंगमच की सफाई आदि के लिये जो भिश्ती, मेहतर के प्रसग प्रयुक्त हुए हैं, उनमे डुगडुगी वाले के साथ जो मनोविनोदकारी समाषण दिये गये हैं, उनमे किसी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वृहत् कथाप्रसग की ओर सकेत स्पष्ट है। मुगलदरबार मे विविध राजाओ का पदार्पण, नृत्य-गायन का आयोजन तथा अमरसिंह राठौड की अनुपस्थिति के प्रसग मे जो कुछ भी कहा सुना जाता है, उसमे किसी पूर्व कथा का आभास मिलता है। अर्जुनगौड और सलावतखा के विवादो मे भी अमरसिंह की वशावली पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। राजस्थान के कठपुतलीवाले आज जो भी दिखलाते हैं वह केवल उस वृहद् नाटक का एक दृश्य मात्र है, जिसमे मुगलदरबार का वैभव तथा अमरसिंह राठौड के शौर्य का परिचय दिया गया है। जिन कारणो से मुगलदरबार मे तलवारें चली और स्वय बादशाह को दरबार छोडकर भाग जाना पडा, उनका विवेचन निश्चित ही किन्ही विशिष्ट दृश्यो मे हुआ होगा, जिनको समय एव जनरुचि के अभाव मे ये कलाकार छोडते चले गये फलतः राजस्थानी कठपुतली प्रदर्शन के इस मुगलदरबार के दृश्य मे विविध कलाबाजियाँ दिखलाकर जनता को अनुरजित करने का ही लक्ष्य प्रमुखत रह गया।

लेखक ने आज से २० वर्ष पूर्व जब राजस्थानी कठपुतलियो की खोज प्रारम्भ की थी तब नब्बे वर्षीय भाट नाथू ने कुछ गीत ऐसे सुनाये थे, जिनमे

अमरसिंह राठौड के जीवन सबधी अनेक प्रसगो का उल्लेख था। उन प्रसगो मे अमरसिंह की रानी के वे विवाद भी मौजूद थे, जिनमे उसने अपने वीर पति को मुगलदरबार मे पूरी सावधानी वरतने का आदेश दिया था। अमरसिंह ने राजपूत जाति के गौरव और उसकी मान-मर्यादा की सुरक्षा के लिये जो भी सुकृत्य किये तथा मुग़ल सम्राटो के प्रति जो उपेक्षा की भावना प्रकट की, वे सभी प्रसंग वर्तमान नाट्य से निकाल दिये गये हैं। नाथू से यह भी ज्ञात हुआ कि उसी के पूर्वजो ने आज से १००० वर्ष पूर्व पृथ्वीराज-सयोगिता नामक कठपुतली नाटिका का सृजन किया था। उस संवध मे उसने कुछ गीत भी सुनाये थे, जो उसे अपने पूर्वजो से धरोहर के रूप मे प्राप्त हुए थे। इन गीतो का प्रयोग यदा-कदा अप्रासगिक रूप से अमरसिंह राठौड की नाटिका के प्रदर्शन मे होता ही रहता है। उसका यह भी कहना था कि भारतवर्ष मे जितने भी कठपुतली नट आज विद्यमान हैं, वे सभी उस आदि नट के वशज हैं, जिसने सर्वप्रथम कठपुतली नाट्य की रचना की थी। नाथू भाट की वातचीत से यह भी पता लगा कि आज से २००० वर्ष पूर्व विक्रमादित्य के समय की प्रसिद्ध कठपुतली नाटिका सिंहासन-वत्तीसी के रचयिता भी उसी के पूर्वज थे।

वर्तमान अमरसिंह राठौड कठपुतली नाटिका की सवाद तथा कथोप-कथन शैली मे आज भी उच्चकोटि की नाट्यविधा के दर्शन होते हैं। कई हज़ार वर्ष पूर्व ही इन पुतलीकारो को यह ज्ञात था कि ये प्राणहीन काष्ठ-पुतलियाँ मानव की तरह वोल नही सकती हैं, न उनमे किसी प्रकार का भावात्मक स्पदन उत्पन्न करने की सामर्थ्य ही है, इसी कारण उन्होने सीटियो की वाणी का आविष्कार किया और उसी से वाचन, सभापण आदि का उपक्रम पैदा किया। उनकी यह अत्यत वैज्ञानिक धारणा कि पुतलियाँ मानवीय पात्रो की अनुकृति नही हैं, कई हज़ार वर्ष पूर्व उनके पूर्वजो द्वारा स्थापित की गई थी। इसलिये उन्हे किसी परलोकवासी का दर्जा देकर उनकी आकृति, भाषा, वेशविन्यास, अगसचालन आदि को मानवीय व्यवहार से पूर्णरूप से वचाया गया। जिस वात का पता आधुनिक पुतलीकार आज लगा सके हैं, उसका पता हमारे भारतीय पुतलीकारों को सैकडो वर्ष पूर्व था। सीटियों के कथोपकथन जिस मनोरजक ढग से इन पुतलीकारो द्वारा उलथाये जाते हैं, वह भारतीय कठपुतली-कला की सव से वडी विशेषता है। कथोपकथन की यह उलथाने की कला भारत की प्राय. सभी कठपुतली-टोलियो मे आज भी विद्यमान है। भारतीय पुतलियो मे पुतलियाँ सीधे सभाषण नही करती, किसी न किसी माध्यम से ही ये सभाषण प्रस्तुत किये जाते हैं। वाचन की इस अनोखी विधि

ने समस्त कठपुतली-कला को इतना अधिक मनोरजक बना दिया है कि आज की यह गलित, विकृत और पदच्युत कठपुतली-कला किसी विशिष्ट कथावस्तु तथा रगमचीय साज-सज्जा के बिना ही समाज मे विशिष्ट स्थान प्राप्त की हुई है। इन पुतलियो मे अगभगिमाओ और भावभगिमाओ का भी सपूर्ण शास्त्र परिलक्षित होता है।

कठपुतलियो को मानवीय अनुकृति से बचाने के लिये न केवल उनके आकार-प्रकार तथा आकृतियो को अतिरजित किया गया है, बल्कि विविध कृत्यो के लिये विशिष्ट अगभगिमाओ की भी सृष्टि की गई है। वे अगभगिमाएँ मानवीय अगभगिमाओ से बिल्कुल भिन्न हैं। ये सभी अगभगिमाएँ न केवल राजस्थानी पुतलियो मे बल्कि भारत की समस्त कठपुतली शैलियो में प्राय. समान रूप से ही प्रयुक्त होती हैं। भावाभिव्यजन की दृष्टि से जो टेकनिक ये पुतलीकार अपनाते हैं, वह वास्तव मे सैंकडो वर्षो के अनुभव और प्रयोग का ही परिणाम है। ये निर्जीव तथा स्पदनहीन पुतलियाँ भावाभिव्यजना की विशिष्ट स्थितियो मे प्राय. निष्क्रिय रहती हैं, परन्तु उनकी आकृतिमूलक रेखाएँ उन पर आरोपित गीत-सवादो की सहायता मे दर्शको पर एक विशिष्ट प्रभाव उत्पन्न करने मे सफल होती हैं। ऐसी विशिष्ट भावमूलक स्थितियों मे पुतलियाँ किसी ऐसी स्थिरभावी मुद्रा मे अपने आपको प्रस्तुत करती हैं, जिससे एक विशिष्ट उद्दीपनकारी स्थिति पैदा हो सके। यही कारण है कि छाया-पुतलियो मे जब राम-भरत का मिलाप होता है तो कुछ क्षणो तक भरत राम के कधो पर अपना मस्तक धर कर ठिसुक-ठिसुक कर रोते हैं। सीता को रावण से बचाने मे गिद्धराज जटायु जब घायल हो जाता है और भगवान राम के जब उसे अन्तिम दर्शन होते हैं तो वह अपनी चोच भगवान की जघा पर रखकर विलाप करता है। भगवान अपनी गर्दन उस पर लटका देते हैं। इसी तरह उडीसी पुतलियो मे जब गोपियाँ कृष्ण के प्रति अपना विरहभाव प्रकट करती हैं तो वे ऊधो के कधो पर अपना सिर रखकर विलाप-निमग्न हो जाती हैं। राजस्थानी पुतलियों मे भी जब धोबिन के पति को मगर खा जाता है तो वह स्थिरभाव से ज़मीन पर बैठ जाती है और अपना माथा बार-बार ज़मीन पर पीटती है।

इस तरह कठपुतलियो के नाना प्रकार के क्रिया-कलापों का एक नियोजित शास्त्र ही बन गया है जो अलिखित होते हुए भी इन कठपुतलीकारो मे परम्परा के रूप मे घुलमिल गया है। पुतलियो के मारपीट, युद्ध, अभिवादन, आवा-गमन, उठने-बैठने, खाने, रोने, हँसने, नाचने, गाने, चिढने, चढने-उतरने, दौडने

आदि की विशिष्ट क्रियाओ का एक विशिष्ट कोड (Code) ही बन गया है जो सैकडो वर्षों से धरोहर के रूप मे उन्हे प्राप्त हुआ है। यह कोड (Code) भारत की प्राय सभी पुतलियो पर समान रूप से लागू होता है। पुतलियो की भावमूलक आकृतियो की रेखाओ मे कुछ विशिष्ट परम्पराएँ धरोहर के रूप में कायम हुई हैं, जिनका पालन लगभग सभी परम्परागत पुतलीकार करते हैं। हास्य-प्रधान पुतलियो के नाक और होठ को दाएँ-बाएँ विकृत रूप से बनाने की प्रथा प्रायः सभी पुतलियो मे विद्यमान है। भयानक पात्रों की पुतलियो की भौंहे ऊपर चढा दी जाती हैं और उनके गाल फुला दिये जाते हैं। इसी तरह दीन, दुर्बल, असहाय पात्रो की पुतलियो की आँखें गडी हुई, गाल पिचके हुए तथा गर्दन तनिक झुकी हुई होती है। छायापुतलियो के चेहरे तथा अन्य अग अधिक नुकीले होते हैं। उनकी नाक विशेष रूप से नुकीली, भौंहे अधिक तेजी से कटी हुई, होठो के बीच की जगह अधिक स्पष्ट, हाथ की उँगलियाँ अधिक नुकीली बताई जाती हैं, ताकि उनकी छायाएँ स्पष्ट रूप से उन भावो को प्रकट कर सकें जो गीत-सवादो से व्यक्त किये जाते हैं। पुतलियो की ये अतिरजनात्मक आकृतियाँ, उनके अतिरजनात्मक हाव-भाव, क्रिया-कलाप, रग-रोगन, अग-भगिमाएँ सभी किसी विशिष्ट प्रयोजन से निर्दिष्ट की गई हैं। निर्जीव पुतलियो मे प्राण और स्पदनकारी स्थितियाँ पैदा करने के लिये इन सब अतिरजनाओ का सहारा लेना पडता है। जो कलाकार इस गूढाशय को नही समझते और पुतलियो को मानव की वास्तविक अनुकृति बनाने की कोशिश करते हैं वे अपने कार्य मे पूर्णरूप से असफल होते हैं। भारत मे आज के आधुनिक कठपुतली-प्रयोग इसीलिये असफल हो रहे हैं तथा यूरोप के आधुनिक पुतलीकार इस कठपुतली-विज्ञान को पूर्णरूप से समझ गये हैं इसलिये उन्हें अपने प्रयोगो में आशातीत सफलता मिल रही है।

पुतलियो का रंगमंचीय विधान

परम्परागत भारतीय पुतलियो का रगमचीय विधान भी नाट्यतत्वो से से परिपूर्ण है। वम्मोलोटम पुतलीकार बहुधा किसी रगमच का प्रयोग नही करते। जहाँ कही भी पुतली का तम्बूनुमा रगमंच बनाकर इन पुतलियो के परिचालको को छिपाने की कोशिश हो रही है, वह आधुनिक प्रयोग है। परपरा से उनका कोई सबध नही है। वम्मोलोटम पुतलीकार स्वय कुछ गहरे रंग के कपड़े पहिनते हैं। उनकी पुतलियाँ आदमक़द से छोटी, परन्तु अन्य शैलियों की काष्ठपुतलियों से काफी बड़ी होती हैं। उनके सिर पर बडी-बडी

ईडोनियाँ रहती हैं, जिनसे पुतलियो की डोरियाँ बँधी हुई होती हैं। इनकी पुतलियों के हाथो मे छडियाँ होती है जो पुतली परिचालको के दोनो हाथो में थमी हुई रहती हैं। काठ या पत्थर के किमी ऊँचे मच पर इनके प्रदर्शन होते हैं। वहुधा एरण्डी या खोपरे के तेल के दीपक से प्रकाशित रगमच पर ये प्रदर्शन दिये जाते हैं। विजली या पेट्रोमेक्स की रोशनी इनके लिये अनुकूल नही पडती। जो नीली-पीली प्रकाश रेखाएँ इन तेलदीपो से परिस्फुटित होती है, वे इन पुतलियो को एक विशिष्ट आकर्षक रग-रूप देती हैं। पुतली परिचालक स्वय पुतलियो के साथ इम तरह नाचता-कूदता है कि उसकी ईडोनियों से सवद्ध पुतलियाँ हाथ की छडियो के झटके से नाना प्रकार के क्रिया-कलाप करने मे समर्थ होती हैं। दर्शको पर इन प्रदर्शनो का ऐसा प्रभाव पड़ता है कि वे पुतलियो को तो देखते हैं परन्तु उनके परिचालको की तरफ उनका ध्यान नही जाता। जापान की वुनराकु पुतलियो की तरह उनका सचालन होता है और इस वात की पुष्टि करता है कि कालान्तर मे विश्व की पुतलियो की सभी परम्पराएँ भारत से ही परिपुष्ट हुई हैं। वम्मोलोटम पुतलियो की यह रंगमचीय प्रणाली वहुत अधिक लोकप्रिय इसलिये भी रही कि दर्शकगण पुतलियो को अधिक से अधिक सख्या मे देख सकें। पुतलियो को खुले रूप मे पेश करने की यह प्रणाली सर्वाधिक कारगर इसलिये भी हुई कि जनता की पुतली-परिचालको को पुतली-परिचालन करते हुए देखने की रुचि इसमे परिपुष्ट होती है। इस रगमचीय विधि मे पुतलियो के अनुपात और दर्शको की दृष्टि-रेखा के अनुसार ही रगमच की ऊँचाई-निचाई का निर्धारण होता है। इसी तरह दर्शको की सख्या के आधार पर ही प्रकाश-व्यवस्था की जाती है। इस ओर सर्वाधिक ध्यान इसलिये भी दिया जाता है कि पुतलियो के रंग-रूप, परिचालको की अदृश्यता तथा प्रदर्शन की प्रभावोत्पादकता प्रकाश-व्यवस्था पर ही आधारित हैं।

राजस्थानी कठपुतली नाट्य की रगमचीय प्रणाली भी अत्यत महत्त्वपूर्ण है। आज तो ये घुमक्कड पुतली वाले दो खटिया खडी कर के वीच मे वांस के सहारे अपने परदे आदि लगाकर अपना काम पूरा कर लेते हैं परन्तु वयोवृद्ध स्वर्गीय नाथू भाट का कहना था कि उसके पूर्वज किसी समय वडे-वडे राजा-महाराजाओ के यहाँ आश्रित थे तथा उनकी पुतलियो के लिये विशिष्ट रगमच वनाये जाते थे। विक्रमादित्य के समय तो स्वय विक्रमादित्य का सिंहासन ही कठपुतलियो द्वारा निर्मित था जो दिन मे सम्राट् के सिंहासन के रूप मे प्रयुक्त

होता था और रात्रि को वही कठपुतलियो का रगमच बन जाता था। उस सिंहासन मे सिंहासनबत्तीसी नामक कठपुतली नाटिका की ३२ ही पुतलियाँ निवास करती थी जो रात को क्रियाशील हो जाती थी। नाथू का कहना था कि हमारे दल एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र को बडे लवाज़मे के साथ जाते थे। उनके पास कई सुसज्जित बैलगाडियाँ तथा हाथी-घोडे रहते थे, जिन पर हमारी रगमंचीय साज़-सज्जाएँ और कठपुतलियाँ देश-देशान्तरो की यात्राए करती थी। प्रदर्शन से पूर्व समस्त नगर मे एलान कर दिया जाता था और हमारे प्रदर्शन को देखने के लिये जनता लालायित रहती थी। पहले इन पुतलियो के विविध दृश्य उपस्थित करने के लिये कई रगीन यवनिकाओ का प्रयोग होता था। आज राजस्थानी पुतलियो मे जो ताजमहल नामक प्रमुख यवनिका का प्रयोग होता है वह किसी समय एक आशिक परदा मात्र था जो केवल मुगलदरबार का दृश्य उपस्थित करता था। इन राजस्थानी पुतलियो के परिधान, अलकरण आदि सच्चे होते थे, जो राजा-महाराजा तथा धनिकवर्ग द्वारा भेंटस्वरूप दिये जाते थे। इन नाट्यो मे भी तैलदीपो का प्रयोग होता था जिनसे पुतलियाँ प्रकाशित तो होती ही थीं पर उन पर एक अद्वितीय आभा के दर्शन भी होते थे। उनके दल मे लगभग १० पुतलीकार होते थे जिनमें गायन तथा वाद्यवादन के लिये स्त्रियो का उपयोग होता था। उनके प्रदर्शनो मे सौ-सौ दो-दो सौ पुतलियाँ काम आती थी और उनकी लम्बाई, ऊँचाई आज की पुतलियो से काफी अधिक होती थी।

आन्ध्र के छायापुतलीकारो का रगमच आज भी बडा पेचीदा होता है। एक विशिष्ट तम्बू ताना जाता है जिसके अगले हिस्से पर लगभग १० फुट ऊँचा और १५ फुट चौडा पतला सफेद कपडा किसी लकडी की चौखट के सहारे तान दिया जाता है। यह तम्बू ऐसा बनाया जाता है कि उसमे अदर की रोशनी बाहर नही जासके और न बाहर की रोशनी अंदर आसके। तम्बू के अदर परिचालक और परिचालिकाओ का दल अपनी पुतलियो के साथ तैयार रहता है। चूंकि ये प्रदर्शन रात-रात भर चलते है, इसलिये अदर भोजन, निवास आदि का पूरा प्रबध रहता है। पीछे से एरण्डी या खोपरे के तैल के दीपक की रोशनी परदे पर फेंकी जाती है। विविध दृश्यो के अनुसार परदे के इर्दगिर्द वृक्ष, पहाड, मकान, झोपडी आदि के कटे हुए साधन परदे पर काटो के सहारे पिरो दिये जाते हैं और बीच मे पुतलियाँ परिचालित होती हैं। पुतलियाँ खडे हुए परिचालकों के हाथ मे रहती हैं, इसलिये जमीन से उनकी ऊँचाई अनायास ही चार-पाच फीट हो जाती है ताकि दर्शको को देखने मे पूरी

सुविधा रहे। चर्मपुतलीकार केवल एक-दो प्रदर्शन के लिये ही किसी क्षेत्र मे नही जाते। वे कम से कम १५ दिन का निवास तो एक स्थान पर करते ही हैं। उनके द्वारा प्रस्तुत की गई रामायण, महाभारत तथा भागवत कथाएँ रात-रात भर तो प्रदर्शित होती ही हैं, परन्तु विशिष्ट परिस्थितियो तथा जनरुचि को देखकर वे कथाप्रसगो के विस्तृत रूप कई दिनो तक भी प्रदर्शित करते हैं। ये छायानाट्य किसी समय आन्ध्र और कोचिन के विशिष्ट जनरजन के साधन थे और हजारो की सख्या मे जनता उनका आनन्दलाभ लेती थी।

उडीसा की पुतलियो का नाट्यमच लगभग राजस्थानी पुतलियो जैसा ही होता है। अन्तर केवल दृश्यावलियो तथा परदो का है। राजस्थानी पुतलीकार मध्यकालीन इतिहास, रस्मरिवाज तथा कथाप्रसगो से बहुत अधिक प्रभावित थे इसलिए उन पर मुगली तथा राजस्थानी कला की विशिष्ट छाया दृष्टिगत होती है। उडीसा के कलाकारो पर अभी भी धार्मिक परम्पराओ का विशेष पुट है तथा रगमचीय साज़-सज्जाओ मे मदिरो की पिछवाई, झालर, कमलवेल, कलशपक्ति, हस्तीकतार आदि विशिष्ट चित्राकन के प्रकार प्रयुक्त होते हैं। पुतली की आकृतियो मे जगन्नाथपुरी के मदिर मे प्रतिष्ठापित मूर्तियो की विशिष्ट आकृतियो का भान स्पष्ट होता है। ये पुतलियाँ किसी समय मदिरो के प्रागण मे ही प्रर्दाशत होती थी, अत मदिरो के वैभव की उन पर स्पष्ट छाप है।

जयपुर (उडीसा) मे आज भी अनेक कठपुतली-परिवार अपनी पुतलियो को आधुनिक प्रभावो से वचाकर दीन-हीन अवस्था मे मौजूद हैं। इनके घरो मे पुरातन कठपुतलियो के अनेक सग्रह आज भी विद्यमान हैं तथा जिन विशिष्ट सुसज्जित रगमचो पर वे कालान्तर मे प्रदर्शित होती थी, उनके ध्वसावशेष अव भी उनके घर के अटारे मे परिलक्षित हो सकते हैं। भारतीय नाट्यसघ के दिल्ली स्थित कठपुतली सग्रहालय मे इन पुरातन पुतलियो और उनकी साज़-सज्जाओ के अनेक अवशेष वडे सुन्दर ढग से प्रर्दाशत किये गये हैं। यूरोपीय सग्रहालयो मे भी इन पुतलियों के अनेक नमूने वडे कलात्मक ढग से सगृहीत हैं। लेखक ने अपनी यूरोपीय यात्रा मे म्युनिक स्थित स्टूट सग्रहालय मे, जो विश्व का सर्वश्रेष्ठ कठपुतली सग्रहालय है, राजस्थानी, उडीसी, भारतीय छायापुतली आदि के अनेक ऐसे नमूने देखे हैं जो भारत मे भी उपलब्ध नही हो सकते हैं। भारतीय पुतलियो की रगमचीय साज़-सज्जाओ के भी कई नमूने वहाँ विद्यमान है।

भारतीय पुतलियो का चरम उत्कर्ष देखने तथा उनके अति पुरातन वैभव के दर्शन करने के लिये हमे जावा, सुमात्रा तथा इण्डोनेशिया की पुतलियो का अध्ययन करना पडेगा। पुतलियो की इतनी परिपक्व और सुन्दर विरासत उन्हें भारत से ही प्राप्त हुई है। अतर इतना ही है कि हम भारतवासियो ने उस वैभव को खो दिया है और इन पूर्वी-दक्षिणी एशियाई देशो ने अपनी प्रतिभा द्वारा उस वैभव की अभिवृद्धि की है। रुमानिया मे होने वाले द्वितीय एव तृतीय अतर्राष्ट्रीय कठपुतली समारोहो मे लेखक को इन देशो की पुतलियाँ देखने और उनके अध्ययन करने का सुअवसर प्राप्त हुआ था। उनके कथा-प्रसंग, पुतलियो की साज-सज्जा, नाट्यविधा, प्रस्तुतीकरण आदि भारत की ही देन हैं। जिस उच्चस्तरीय नाट्य-स्वरूप के रूप मे वे आज भी वहाँ प्रतिष्ठित हैं, उसी तरह भारत मे भी उनका किसी समय परम आदर था। इन देशो की भारतीय पुतलियाँ मानवीय नृत्य को टक्कर लेती हैं। मानवीय नाट्यविधायें जितनी आज इन देशो मे विकसित हैं उतनी ही कठपुतलियों का वहाँ विकास हुआ है।

भारतीय नाट्य की जननी कठपुतलियाँ हमारे देश मे जिस स्थिति मे आज विद्यमान हैं उससे यह कल्पना नहीं करनी चाहिये कि हमारी पुरातन पुतलियाँ भी इसी तरह पिछड़ी हुई और अविकसित थी। मानवीय नाट्य की लगभग सभी विधायें पुतलियो की कल्पना से ही साकार हुई हैं। उन्ही पुतलियो ने मानवीय पात्रो को वाचन की शक्ति प्रदान की है। मानवीय पात्रो की साज-सज्जाओ, उनके रग, परिधान, अलकरण आदि का पूर्ण प्रभाव है। मानवीय पात्रो के इन सब आगिकी साज-सज्जाओ के प्रयोग सर्वप्रथम पुतलियों पर ही हुए। वाचन तो सर्वप्रथम पुतलियो पर ही आरोपित किये गये। नर्तन आदि की भगिमाओ का परीक्षण भी सर्वप्रथम पुतलियो पर ही हुआ। रगमचीय प्रस्तुतीकरण तो मानवीय नाट्यो ने ज्यो का त्यो कठपुतलियो से ही ग्रहण किया है। ऐसा ज्ञात होता है जैसे कि किसी स्वरूप को सजाने तथा उसे विविध क्रिया-कलापयुक्त बनाने के लिये सर्वप्रथम पुतलियो के रूप मे मोडल (Model) बनाये गये तथा उन पर रग, परिधान, आकृति सृजन आदि के पूर्व प्रयोग करके ही मूल मानवीय पात्रो को रगमच पर लाया गया। पुतलीनाट्य जब देश मे परिपक्व हुए, उनमें जनरजन तथा जनशिक्षण की पूर्ण सामर्थ्य आई तथा उनकी समस्त विधायें चरमोत्कर्ष पर पहुँची तभी भारतीय नाट्य ने हमारे देश मे जन्म लिया। यद्यपि मानवीय नाट्य किसी भी तरह पुतलीनाट्य की हूबहू अनुकृति नहीं है फिर भी उसकी समस्त प्रेरणा पुतलीनाट्य से प्राप्त हुई, इसमें

कोई संदेह नही है । यही कारण है कि पुतलियो का प्रतिनिधि सस्कृत नाट्य का सूत्रधार न केवल साधारण पात्र है, वल्कि वह समस्त मानवीय नाट्य का निदेशक भी माना गया है ।

लोकनाट्यो की विशेषताएँ

अन्य लोककलाओ की तरह ही किसी भी लोकनाट्य का कोई विशिष्ट रचयिता नही होता । वह समस्त समाज की अभिव्यक्ति का प्रतीक तथा अनेक प्रतिभाओ के सम्मिलित चमत्कार का एक साकार स्वरूप होता है । उसमे जन-जीवन की भावनाओ तथा उपलब्धियो की प्रतिच्छाया होती है तथा नाटक की सफलता-असफलता का भागीदार समस्त समाज होता है ।

आज हमारे देश मे जो विविध क्षेत्रीय नाट्य उपलब्ध होते हैं, उनमे अधिकाश तो ऐसे हैं, जो विशिष्ट लेखको की देन हैं और जिन्हें लोकनाट्यो की सज्ञा अवश्य दी जाती है, परन्तु वास्तव मे वे उस श्रेणी मे नही आते हैं । लोकगीतो की तरह लोकनाट्यो के स्वाभाविक सृजन की प्रक्रिया इतनी सहज और सरल नही है । लोकगीत एक व्यक्ति की प्रतिभा की उपज हैं, जो वाद मे अनेक सामाजिक प्रतिभाओ के समिश्रण से लोकगीतो का दर्जा प्राप्त करता है । परन्तु नाट्य प्रारम्भ से ही किसी भी व्यक्तिविशेष की उपज नही हो सकता । उसका प्रारभ ही सामाजिक प्रतिभा की उपज है । गीत की तरह उसकी उत्पत्ति व्यक्ति से नही होकर समष्टि से होती है ।

समष्टिगत सृजन एक अत्यत जटिल और उलझी हुई प्रक्रिया है । समाज जिन धार्मिक, सामाजिक तथा राजनैतिक भावनाओ से आक्रान्त रहता है उनकी गहरी छाप सामाजिक मानस पर अकित हो जाती है और मनुष्य के जीवन का प्रत्येक पक्ष उनसे ओतप्रोत रहता है । यदि वह सामाजिक भावना प्रवल धार्मिक चेतना के रूप मे प्रकट होती है और उसका लगाव किसी महान् धार्मिक व्यक्तित्व से है, जो समाज का धार्मिक नेतृत्व ग्रहण कर लेता है, तो समस्त समाज उस व्यक्तित्व से अत्यधिक प्रभावित होता है । उसके अवसान के वाद भी उसका यह लौकिक व्यक्तित्व आध्यात्मिक व्यक्तित्व वन जाता है । जनता उसे अपनी अटूट श्रद्धा और भक्ति का पात्र वना लेती है, उसकी गुण-गाथायें गाने लगती है तथा उसकी स्मृति मे पर्व, समारोह मनाती है । उसके व्यक्तित्व के सवध मे गीत रचती है, स्मारक वनाती है, पूजा अर्चन करती है । अर्चन, स्मरण के ये ही विविध साधन अनुकृतिमूलक वनकर विशाल जन-समूह के वीच नर्तन, गायन तथा कथा-प्रवचन के रूप ले लेते हैं । शनै शनै

ये ही गीत, प्रवचन, भजन, कथोपकथन आदि उस व्यक्तिविशेप के जीवन संवंधी प्रसगो की झाँकियो का स्वरूप ग्रहण कर लेते हैं। गेय वोल को गायक स्वर देता है। स्वागो तथा अनुकृतिमूलक झाँकियो को भापाकार सवाद प्रदान करता है, विविध क्रियामूलक प्रसंगो को नर्तक पदचापो में वाँधकर क्रियाशील वनाता है तथा झाँकीकार की कल्पना को सामाजिक मस्तिष्क रंगमच पर प्रस्तुत करता है।

ऐसे भीमकाय, राष्ट्रीय तथा वृहत् सामाजिक महत्त्व के नाटक किसी भी समाज या राष्ट्र के जीवन मे युगो से चले आ रहे हैं। प्रत्येक सवेदनशील तथा आक्रान्त क्षणो मे इन वृहत् नाटको का कलेवर उत्तरोत्तर वढता जाता है। उनमे प्रयुक्त गीतो में ताकत आती है। उनके कथोपकथन तथा नृत्य परिपक्व होते रहते हैं और कालान्तर में किसी आध्यात्मिक तथा सामाजिक महत्त्व के व्यक्तित्व के इर्द-गिर्द एक अत्यन्त समर्थ नाटक गुथता जाता है जो आये दिन विशिष्ट प्रसंगों पर अभिनीत होकर उस युगप्रवर्तक नेता की स्मृति और शिक्षा को कायम रखता है। ऐसे नाट्यो मे यह पता नही लग सकता कि उनके गीत किसने लिखे हैं, कथाप्रसग का चयन किसने किया है तथा कथोपकथन किस व्यवस्था से नाटक को सार्थक और जोरदार वनाता है। ऐसे नाटक वहुक्षेत्रीय, दीर्घजीवी तथा वहुसख्यक जनता को प्रभावित करनेवाले होते हैं।

ऐसे स्थाई मूल्य वाले दीर्घजीवी नाटक अधिकांश धार्मिक व्यक्तित्व के साथ ही गुथे हुए होते हैं और उनका प्रचार और प्रसार क्षेत्र भी वड़ा होता है। सामाजिक व्यक्तित्व पर आधारित नाटक सख्या मे न्यून और प्रभाव मे सशक्त नहीं होते। ऐसे व्यक्तित्व वहुधा विवादास्पद होते हैं। समाज के किसी एक वर्ग को उनके सिद्धान्त ग्राह्य होते हैं तो दूसरे के लिये वे ही निरर्थक और घातक सिद्ध हो सकते हैं। समाज का प्रगतिशील पक्ष ऐसे व्यक्तित्व का पुजारी होता है और अप्रगतिशील लोग उसके घोर विरोधी होते हैं। यही कारण है कि वास्तविक लोकनाट्यो की सूची में सामाजिक नाटको की सख्या वहुत कम होती है। वहुधा तो ऐसे सामाजिक तत्त्व धार्मिक नाटको के साथ ही जुडे रहते हैं क्योंकि समाज को आदेश-निर्देश का कार्य सर्वदा ही धर्माचार्यो के जिम्मे रहा है। भारत की सांस्कृतिक और सामाजिक परम्परा मे समाज-सुधार और धर्माचरण मे पहले कोई विशेष अन्तर नही था। धर्म के आचरण तथा परंपरागत धर्मपरिपाटी के अनुशीलन पर आधारित समाज-सुधार ही समाज-सुधार समझा जाता था। निरे समाज-सुधार की वातें कहने वाले तथा तद्‌विपयक आचरण

करने वाले का प्रभाव समाज पर विशेष गहरा नही होता था। इसी तरह अनेक ऐतिहासिक प्रसग, जिनमे धर्म तथा राष्ट्र के लिये त्याग, तपस्या तथा बलिदान के कृत्य जनता के हृदय पर अमिट छाप छोडते हों कभी-कभी जन-रुचि को पा जाते है और वे भी झाँकियो, समारोहो तथा स्मृति-दिवसो का रूप धारण कर लेते हैं। उनका एक अत्यन्त स्थूल रूप पहले खेल-तमाशो के रूप मे जनता के समक्ष आता है, तत्सबधी गीतो की प्रारम्भिक धुन मे अनेक धुनें मिल जाती हैं, नृत्य की पदचापो मे अनेक चापें आत्मसात् होती हैं, एक चरित्र के अभिनय के लिये अनेक पात्र रगस्थली मे उतर आते हैं तथा इस प्रकार के प्रारम्भिक रूपक की रूपरेखा निर्धारित करने के लिये समस्त जनमानस तैयार रहता है।

मौलिक लोकनाट्यो का विकास उक्त कथन के अनुसार होता रहता है। जनमानस की रुचि तथा अन्य मनोरजनात्मक तत्त्वो तथा साधनो के अनुसार उनमे परिवर्तन होता रहता है। उदाहरण के रूप मे उत्तरप्रदेश की पुरातन रामलीला ही को लीजिये। वह मूलरूप मे कुछ और ही थी परन्तु कालान्तर मे पारसी नाटक तथा अन्य नाट्य-प्रकारो के प्रभाव से उसमे दृश्यावलियो के परदो का उपयोग होने लगा और बहुस्थलीय वास्तविक स्थितियो पर प्रदर्शन होने की अपेक्षा उसका प्रदर्शन एक ही रगमच पर पारसी नाटको की तरह होने लगा। कलेवर की दृष्टि से भी इन रामलीलाओ ने तुलसीकृत रामायण से अपना कथोपकथन प्राप्त किया। सर्वाधिक परिवर्तन तो यह हुआ कि उनका सामाजिक प्रदर्शनकारी रूप व्यवसायिक रामलीलाओ मे परिवर्तित हो गया।

मथुरा-वृन्दावन की रासलीलाओ ने भी अपनी मौलिक नृत्यशैली को कत्थकनृत्य-शैली मे परिवर्तित कर दिया और उनके लोकधर्मी स्वरूप को शास्त्रीय सगीत की ध्रुपद-शैली ने अत्यधिक प्रभावित किया। वृन्दावनी रास-लीला का आधुनिक स्वरूप वास्तव मे उसके उस मौलिक लोकधर्मी स्वरूप मे नही है जो आज भी गुजरात के 'रासडो, गरबारास' राजस्थान की 'रासधारी' तथा 'रासक' मे विद्यमान है। वह धीरे-धीरे आचार्यो और पडितो के ससर्ग से प्राय शास्त्रीय स्वरूप बन गया। इसी तरह बगाल की जात्रा का भी पूरा रूपान्तर हो गया। एक समय ये जात्राएँ, खेलकूद, स्वाँग, कीर्तन, सवाद, गीतो के रूप मे तथा भक्तजनो की यात्रा के रूप मे थी जिनमे भक्तजन अपने इष्टदेव की विविध झाँकियो को अपने यात्राकाल मे प्रदर्शित करते चलते थे। चैतन्य महाप्रभु के समय तक भक्तजन कृष्णभक्ति को प्रधानता देने लगे और ये सभी

यात्राएँ कृष्ण-जीवन से सबधित हो गईं। धीरे-धीरे इन यात्राओ ने भी अन्य लोकनाट्यो की तरह ही समकालीन नाट्यशैलियो से प्रभाव ग्रहण करना शुरू किया। ये यात्राएँ व्यवसायिक मडलियो की धरोहर बन गईं और रईसो और धनिको के मनोरंजन का माध्यम बन जाने के कारण उनमे अनेक आधुनिक विषय समाविष्ट हो गये। मेवाड़ प्रदेश की रासधारी, जो किसी समय राम, कृष्ण जीवन सबधी प्रसंगो की एक अत्यन्त लोकरजनकारी सामुदायिक नाट्यशैली थी, आज राजा केसरीसिंह, अमरसिंह राठौड़ आदि ऐतिहासिक पुरुषो के कथा-प्रसंग अपनाने लगी है।

इस तरह सैकडो वर्षों के निरतर प्रयोग-उपयोग से धार्मिक तथा अनुष्ठानिक नाटक विशेष स्वरूप धारण करने लगते हैं और उनके अग-प्रत्यग विकसित होने लगते हैं। इनकी शैलीगत नीवें गहरी होने लगती हैं और उनके प्रचार-प्रसार क्षेत्र की अभिवृद्धि के साथ ही वे जीवन के साथ अनुष्ठान की तरह जुड जाते है। उनकी अभिनय, रचनाविधि, प्रस्तुतीकरण, गायन, नर्तन तथा रगमचीय प्रकटीकरण की शैली भी रूढ होने लगती है। उनकी धुनें निर्धारित हो जाती हैं, तथा भावाभिव्यजनकारी नृत्य-मुद्राएँ भी निश्चित हो जाती हैं। कवित्त तथा गीत-रचना के विविध छन्द-प्रकार भी एक विशिष्ट परम्परा में पड जाते हैं, वाद्य-वादन आदि के निश्चित बोल, परन आदि नियमो मे बँध जाते हैं। ऐसी एक प्रगाढ़ सारगर्भित और अनुभवगत परम्परा कायम होने के बाद अनेक ऐसे रचयिता भी प्रकट हो जाते हैं जो स्वय उक्त मर्यादाओ मे रहकर नाट्यरचना करने लगते हैं। उनके गीत, कवित्त आदि परम्परागत धुनो तथा छदो में ही रचे जाते हैं। उनकी नाट्य प्रस्तुतीकरण की शैली भी वही होती है। केवल विषय का चुनाव रचियता अपनी इच्छा के अनुसार करते हैं। ऐसे स्वरचित नाट्य भी आजकल लोकनाट्यो में ही शुमार होते हैं। यद्यपि उनकी रचनाविधि सामाजिक कसौटी पर नही उतरी है फिर भी उनमे पारपरिक तथा शैलीगत साम्य होने के नाते उन्हे भी विद्वानो ने लोकनाट्य ही माना है।

पिछले १०० वर्षों मे लिखे हुए राजस्थान के लगभग सभी लोकनाट्य (ख्याल) ऐसे हैं, जिनके साथ विशिष्ट लेखक जुडे हुए हैं और जिनके नामों से ही उनके ख्याल चलते हैं। ये सभी ख्याल उत्तरप्रदेश की रामलीला, रासलीला, बगाल की जात्रा, दक्षिण भारत के यक्षनाट्य तथा यक्षगान की तरह अनुष्ठानिक नाट्य नहीं हैं, फिर भी शैलीगत परम्परा का उनमें निभाव होने के कारण वे लोकनाट्य ही में शुमार हैं। इन स्वरचित लोकनाट्यो मे कुछ

ऐसे भी हैं, जो प्रदर्शित होने पर लोकरुचि को पकड लेते हैं और जनता उनके कलेवर को वढाती जाती है। अकुर रूप मे लिखा हुआ या पनपा हुआ ऐसा नाटक कालान्तर मे कल्पवृक्ष के रूप मे विकसित होता है और वैयक्तिक प्रतिमा के वदले वह सामाजिक प्रतिमा का प्रतीक वनता है। ऐसी स्थिति में ऐसे नाटको का लेखक प्रकट रूप मे अवश्य रहता है, परन्तु वास्तव मे वह समाज ही का प्रतिनिधित्व करता है। ऐसे लेखक, जो अपने मूल नाटक मे समाजी-करण का स्वागत करते हैं और अपना व्यक्तित्व उनमें तिरोहित कर देते हैं, वे समाज द्वारा पूजे भी जाते हैं और उनकी कृति अत्यधिक फलती-फूलती भी है। समाज द्वारा उपलव्व हुई इस ख्याति को भी वे समाज ही को देते हैं, परन्तु ऐसे लेखक, जो अपनी कृति मे सामाजिक प्रतिमा का स्वागत नही करते, उसमे किसी प्रकार का सशोधन-परिवर्धन स्वीकार नही करते, उनकी कृति उनके जन्म के साथ ही मर भी जाती है।

मध्यप्रदेश के माच और तुर्रा कलगी के अनेक खेल ऐसे हैं जिन पर विशिष्ट लेखकों के नाम अंकित है। महाराष्ट्र मे भी कई तमाशे विशिष्ट लेखको द्वारा लिखे गये हैं। उनमे से कुछ तो विकास की इस चरम सीमा तक पहुँच चुके हैं कि वे थियेटरो मे आधुनिक नाटको की तरह ही खेले जाते हैं। वगाल और आसाम की कई जात्राएँ भी आधुनिक साज-सज्जाओ के साथ थियेटरो मे खेली जाने लगी हैं। लोकनाट्यो का यह आधुनीकरण उनके लिये विकृतिमूलक न होकर निश्चय ही विकासमूलक है। उन्हें समाज के वौद्धिक तत्त्वो का आश्रय मिल जाने से वे विकासोन्मुख हैं। हीर रांझा, सोहनी महिवाल, मूमल महेन्द्र, ढोला मारू, मीरा मगल जैसे पजावी और राजस्थानी लोकनाट्य भी शिक्षित समाज का ध्यान आकर्षित करने लगे हैं और उन्हे नया जीवन मिला है। इसी तरह आन्ध्र, कन्नड तथा केरल देश के यक्षगान, यक्षनाट्य, कथकली तथा कामनकोट्टू नाट्य जो कि उत्तर भारतीय लोकनाट्यों से कही अधिक सस्कृत नाटको से प्रभावित हैं. आधुनिक रगमच की अनेक परम्पराओं को अपने मे समाविष्ठ कर अधिक प्राणवान वन गये हैं। गुजरात के प्रमुख नृत्यकार श्रीयुत जयशकर सुन्दरी ने तो भवाई नाटक को आधुनीकरण के रग मे इस तरह रगा है कि उसमे पुन जीवन का सचार हुआ है।

विशुद्ध लोकनाट्य की कृतियाँ वे हैं जिन पर किसी लेखकविशेष का नाम जुडा नही रहता और जिनके प्रसग विस्तृत जनमानस पर युगो से अकित रहते हैं। ऐसे नाटक वहुधा अलिखित होते हैं। उनके कथानक सर्वविदित

धार्मिक, आध्यात्मिक तथा ऐतिहासिक प्रसग होते है। ये नाटक बहुधा विश्रृंखल और पथ-विचलित जनता के समक्ष मानवीय आदर्श उपस्थित करने के लिये अवतरित होते हैं। इन नाटको की परम्परा बहुत पुरानी होती है और वे राष्ट्रीय और सामुदायिक महत्त्व के नाटक होते हैं जो बहुधा किन्ही विशिष्ट प्रसगों तथा अनुष्ठानिक पर्वों पर खेले जाते हैं। इन नाटको के कथानक तथा उनके द्वारा निरूपित आदर्श और उनकी परम्परागत मान्यताएँ इतनी प्रबल होती हैं कि उनके अभिनय मे विशिष्ट रगमचीय उपकरणो तथा प्रदर्शनात्मक दक्षता द्वारा जनता को प्रभावित करने की आवश्यकता नही होती। वे बहुधा ऐसे महापुरुषो की जीवन-घटनाओ से सबधित रहते हैं, जिन्हें समाज युगो से प्रगाढ स्नेह और श्रद्धा की दृष्टि से देखता है।

लोकनाट्यो मे धार्मिक तथा सामाजिक आदर्श उपस्थित करने वाले नाटको के अलावा ऐसे नाटक भी बहुत प्रचलित है, जिनमे कभी-कभी सामाजिक आदर्शों की पूरी-पूरी अवहेलना रहती है। इन नाटको मे श्रृंगारिक पक्ष की प्रधानता रहती है तथा जीवनादर्शों से कही अधिक पारिवारिक आनन्द तथा हल्के-फुलके मनोरजन की ओर सबसे अधिक ध्यान रहता है। कभी-कभी समाज का मनचला वर्ग ऐसे नाटको के इन असामाजिक तत्त्वों पर अनायास ही आकर्षित हो जाता है और उनके साथ अपनी कुप्रवृत्तियो और चेष्टाओ को आत्मसात कर लेता है। ऐसे प्रसगो मे अनेक असामाजिक तत्त्वो को प्रश्रय मिलता है। नाट्य मे प्रकट होने वाली कुलटा नारी सती स्त्री से कही अधिक लोकप्रिय बन जाती है। लुटेरा पात्र ईमानदार पात्र से अधिक पसन्द किया जाता है। इश्कमिजाज नौजवान पात्र चरित्रवान युवक पात्र से बाजी ले जाता है। विवाहित स्त्री-पात्र से कही अधिक छिप-छिपकर प्रेम करने वाली मनचली स्त्री-पात्र दर्शकों के मन की साम्राज्ञी बन जाती है। राजस्थान के इश्कबाज पनवाडी, छैला दिलजान, छोटा बालम नामक ख्याल तथा मध्यप्रदेश के माचो मे छबीली भटियारिन तथा नौटकियो मे आँख का जादू, जवानी का नशा, सियाह पोश आदि लोकनाट्य भी इसी कोटि के हैं। रात-रात भर असख्य जनता इन नाटको के प्रदर्शनो का लाभ लेती है, उनकी स्वरलहरियो तथा नृत्यभगिमाओं से आत्मविभोर हो जाती है। ये नाटक कला की दृष्टि से अत्यधिक कुशल नाटक होते हैं और दर्शक उनकी अदायगी की कलात्मक कारीगरी में इतने उलझ जाते हैं कि उनके हीन चरित्रनायको का उन पर कोई कुप्रभाव नही पड़ता। ये अतिशय मनोरजनकारी नाट्य दर्शको को नाच, गान,

हँसी, मज़ाक ही मे इतना उलझा देते हैं कि ये असामाजिक चरित्र उन पर कोई प्रभाव नही डालते । पतिव्रता दर्शक स्त्रियाँ भ्रष्ट नाट्य-पात्र को घृणा से नही देखती, ईमानदार दर्शक वेईमान नाट्य पात्र का तिरस्कार नही करता । वह खूब जानता है कि समस्त नाटक मे इन सब पात्रो की सृष्टि केवल मनोरजन के लिये हुई है और वे सब असल नही हैं, नकल हैं । दर्शक यह भी खूब जानता है कि ये नाटक, जो समाज का कुत्सित चित्र प्रस्तुत करते हैं, मनुष्य की आँखें खोलने के लिये हैं और पथभ्रष्ट को उनसे सतर्क रहने का सबक सिखलाते हैं ।

इन नाटको के अत्यधिक शृ गारिक तथा असामाजिक कुप्रभावो का प्रतिशोध करने के लिये उन्हे अतिशय कलात्मक और प्रभावशाली होना आवश्यक होता है । इन नाट्यो के अभिनेता अतिशय कलाप्रवीण, नाट्यमर्मज्ञ एव कुशल प्रदर्शक होते हैं । वे वहुधा व्यवसायिक मडलियो द्वारा ही प्रदर्शित होते हैं । इन नाटको मे भी वे ही नाटक सर्वाधिक लोकप्रिय होते हैं, जिनमे अधिकाधिक सामाजिक गुण विद्यमान हो और जिनके क्रमवद्ध सृजन मे समाज का अधिकाधिक हाथ हो तथा जिनका प्रत्यक्ष लेखक केवल निमित्तमात्र हो । ऐसे नाटक निम्न आदर्शी होते हुए भी जनता के कठो के हार होते हैं तथा उनके कुचरित्र तथा कुत्सित पात्र भी जनता की रुचि को पकड लेते हैं ।

समाज के वौद्धिक तथा सास्कृतिक विकास के साथ ही इन नाटको की अभिवृद्धि होती रहती है और समाज के कलात्मक स्तर के अनुसार ही उनका कलात्मक स्तर बढता रहता है । वे चाहे कितने ही उन्नत हो जावें, कितनी ही कलामर्मज्ञ व्यवसायी मडलियाँ उनका उपयोग करें, परन्तु वे अपना लोकधर्मी गुण नही छोडते । वंगाल की अनेक जात्राएँ, महाराष्ट्र के कई तमाशे और आंध्र तथा कन्नड के यक्षनाट्य आधुनीकरण की प्रक्रिया से ओतप्रोत होकर थियेटरो और नाट्यगृहो मे प्रदर्शित होने लगे हैं । केरल का कथकली और आंध्र तथा कर्नाटक का यक्षगान-नाट्य सैंकडो वर्षो की सामाजिक तथा लोकधर्मी परम्पराओ के साथ ही पिछली १८ वी शताब्दी से शास्त्रीय तत्त्वो को ग्रहण करने मे सलग्न हैं । परिणाम यह हुआ कि इनके प्रदर्शनो मे अत्यधिक कलाप्रवीणता और मर्मज्ञता की आवश्यकता होती है और अनेक शास्त्रीय जन उन्हे शास्त्रीय नाट्यो मे भी शुमार करने लगे हैं । परन्तु इनकी समस्त शास्त्रीय विशेषताएँ और नाट्यविधाएँ आज भी जनसुलभ रुचि के अनुसार ही प्रगति पर पहुँची है, इसलिये वे इतनी उन्नत अवस्था मे भी लोकनाट्यो मे ही शुमार हैं । दक्षिण

भारतीय जनता की बौद्धिक और कलात्मक रुचि इतनी बढी हुई है, इसलिये उसकी समस्त लोककलाएँ धीरे-धीरे शास्त्रीय कलाओ के समकक्ष पहुँचने की कोशिश मे हैं। वृन्दावन की रासलीलाएँ भी बडे-बडे समृद्ध वैष्णव मन्दिरो के सम्पन्न वातावरण मे बडे-बडे पंडितों और ब्राह्मणो द्वारा परिपोषित हो ने के कारण शास्त्रीय तत्त्वो से भारी-भरकम हो गई हैं, फिर भी उनका प्रस्तुतीकरण का ढग और दर्शको की अभिरुचि को देखते हुए वे अभी भी लोकनाट्य की श्रेणी मे ही आती हैं। उड़ीसा की उडीसी नृत्यनाट्य-शैली, जिसका विकास अनेक उडीसी यात्राओ तथा कुचपुडी शैली के नाट्यो के रूप मे पिछले वर्षों मे हुआ है, पुरी के मदिरो मे आचार्यों के ससर्ग से शास्त्रीय तत्त्वो को अपनाने लगी हैं। इसके लोकतत्त्व वडी तेज़ी से लुप्त हो रहे हैं। आज तो ये नृत्यनाट्य न तो लोकशैली ही मे शुमार हैं न शास्त्रीय शैली मे ही।

लोकनाट्य का समाजीकरण एवं व्यवसायीकरण

लोकनाट्यो का सृजन सर्वदा ही एक प्रवल सामाजिक प्रक्रिया है। किसी विशिष्ट सामुदायिक प्रसग पर उनका अभिनय होता है। अनेक सामाजिक प्रतिभाएँ उनका मिलकर प्रदर्शन करती हैं। उनके लिये विशिष्ट रगमच वनाया जाता है तथा प्रदर्शन सवधी सभी सामग्रियाँ जुटाई जाती हैं। अभिनेता अपनी पोशाकें स्वय लाते हैं। संगीतकार अपना सार्वजनिक कर्तव्य निभाने के लिये साजो के साथ अपनी सेवाएँ देते हैं। गाँव का रगरेज नि शुल्क पोशाकें रंग देता है। दर्जी नि शुल्क कपडे सींता है। रोशनीवाला नाई नि शुल्क रोशनी का प्रवन्ध करता है। गाँव का हलवाई अपनी तरफ से नि शुल्क जलपान का आयोजन करता है। गाँव का खाती रगमच वनाने मे अपनी नि शुल्क सेवाएँ प्रदान करता है। गांव के भंगी, भिश्ती आदि भी सफाई तथा छिडकाव मे किसी से पीछे नही रहते। सामाजिक स्तर पर इन नाटको का प्रदर्शन होता है। इसलिये सभी कलाकार खुलकर अपना प्रदर्शन करते हैं और उनकी अभिनयात्मक दुर्वलता की ओर कोई भी ध्यान नही देता। यदि कोई अभिनेता गाने मे कमज़ोर है तो दर्शक तुरन्त गाकर उसकी कमज़ोरी को छिपा देते है। यदि किसी नृत्यकार की नृत्य-अदायगी ठीक नही है तो दर्शको मे से कोई प्रवीण कलाकार रगमच पर चढकर उसकी कमी को पूरी कर देता है। इस तरह नाटक के समस्त गुण-दोष जनता के गुण-दोष वन जाते हैं और दर्शक-प्रदर्शको के वीच एक भारी सहानुभूति का वातावरण परिलक्षित होता है।

इस तरह सामुदायिक स्तर पर प्रदर्शित होनेवाले नाटको मे कुछ नाटक ऐसे भी होते है, जो जनरुचि को सर्वाधिक पकड लेते हैं। उनकी रचना तथा गीतनृत्य-विधि मे एक विशेष आकर्षण होता है। उनके सफल प्रदर्शन मे कभी-कभी प्रवीण गायक तथा नर्तक की आवश्यकता होती है तो गांव के लोग स्वय किसी निकटवर्ती गांव या शहर से किन्ही प्रवीण कलाकारो को रंगमच पर लाते हैं और उनकी सेवाएँ नि शुल्क या सशुल्क उपलब्ध करते हैं। ऐसे कलाकार कुछ ही समय मे अपनी कलात्मक अदायगी के कारण चमक उठते हैं और गांव-गांव, नगर-नगर मे होनेवाले ऐसे प्रदर्शनो मे वे बुलाये जाते हैं। उनके विना वे प्रदर्शन फवते भी नही हैं और जनता भी उन्ही का नाम सुनकर कोसो दूर से दर्शनार्थ उमड पडती है। धीरे-धीरे लोकरुचि तथा जनता का आग्रह देखकर ही ये विशिष्ट कलाकार अपनी नाट्य मडलियाँ स्वय वना लेते हैं और पूर्वप्रचलित लोकनाट्यो मे नानाप्रकार के रग भरकर उनको अत्यधिक चमत्कारिक वनाते हैं। प्रचलित नाट्य गीतो को वे अत्यन्त आकर्षक ढग से गाते हैं और उनकी स्वररचनाओ को अत्यधिक मनोरजक वनाते हैं। नृत्यो को वे अत्यधिक चमत्कारिक करके प्रस्तुत करते हैं। उनके स्वय के साजिंदे होते हैं जो अत्यधिक चमत्कारिक ढग से वजाते हैं और प्रवीण कलाकारो की अदायगी मे चार चाँद लगाते हैं। इस तरह के व्यवसायिक प्रयोग से नाट्य अत्यधिक परिपुष्ट होता है और जनरुचि को अपनी ओर आकर्षित करता है। इस प्रक्रिया से नाटक का कलेवर भी वढता है और उसके अनेक अग, जो सामुदायिक स्तर पर परिपुष्ट नही होते हैं, परिपक्व हो जाते हैं। इन नाटको की प्रदर्शन-विधि अधिक पुष्ट वनती है और समाज मे विखरे हुए अनेक प्रवीण कलाकार नाटक को अपना व्यवसाय वना लेते हैं। इस तरह अनेक नाट्य मडलियाँ कुछ ही समय मे निखर पडती हैं और पारस्परिक होड के कारण नाटको मे भी अधिकाधिक रग भरने लगता है। सामाजिक स्तर के नाटको की तरह ये व्यवसायिक नाटक विखरे हुए नही होते। उनमे पर्याप्त मात्रा मे कसावट आ जाती है। नाटको के गीत, नृत्यो मे जो पुनरावृत्ति का दोप रहता है वह दूर हो जाता है और उनकी जगह नवीन गीत, नृत्यो का समावेश होता है।

ये नाटक भी रात-रात भर चलते हैं, क्योकि मीलो चलकर दूर-दूर गांवो से आने वाले दर्शक अपनी सारी रात इन्ही प्रदर्शनो मे लगाना चाहते हैं ताकि वची हुई रात मे विश्राम के लिये उन्हे कोई स्थान नही ढूंढना पडे और सवेरा होते ही वे सीधे अपने घर लौट जावें। दर्शको के इस आग्रह के कारण प्रदर्शको को विवश होकर नाटक के कलेवर को वढाना पडता है और

इस तरह अनेक अप्रासगिक प्रसग भी मूलनाटक के साथ जुड जाते हैं जिनका उनके साथ कोई सम्बन्ध नही रहता। पारस्परिक प्रतिस्पर्धा के कारण अपने नाटकों को अधिक आकर्षक बनाने के लिये उन्हे रगमचीय साधनो आदि मे कई परिवर्तन करने पड़ते हैं। इन लोकनाट्यो मे रगीन परदो तथा नाटकीय सामग्री का प्रयोग इसी प्रतिस्पर्धा के फलस्वरूप होने लगा है। यह प्रतिस्पर्धा कभी-कभी इतना ईर्ष्यात्मक और विकराल रूप धारण कर लेती है कि इन मडलियो को अपने प्रदर्शन-क्षेत्र तथा जातिगत मनोरंजन के लिये परिवार बाँटने पड़ते हैं। इस बँटवारे से प्रदर्शनों का समय, पारिश्रमिक की रकम तथा जातियाँ निर्धारित हो गई हैं। ये प्रदर्शन अब कई जगह जाति तथा क्षेत्र के जीवन मे एक परम्परा के रूप में प्रविष्ट हो गये हैं। राजस्थान और गुजरात की भवाई नाट्य मंडलियाँ इसी तरह जातिगत परिवारो के साथ जुड गई हैं, जिन्हें वे निश्चित पारिश्रमिक पर मनोरजित करती है। ये भवाई मडलियाँ इस तरह विविध परिवारो के लिये विभक्त होकर अनेक समस्याओ से बच गई हैं।

राजस्थान का गवरी नाट्य भी एक धार्मिक अनुष्ठान के रूप मे परिपुष्ट हुआ है, जो विधिवत् विशिष्ट मडलियो द्वारा विशिष्ट क्षेत्रो और परिवारो के लिये विशिष्ट समय पर प्रदर्शित होता है। भारतवर्ष मे यही एक ऐसी नाट्य परम्परा है, जो व्यवसायिक नही होते हुए भी प्रदर्शन की दृष्टि से क्षेत्रीय और जातीय आधार पर विभक्त होती है और किसी भी आर्थिक प्रलोभन के बिना ही डेढ माह तक पूरे समय की मंडलियो की तरह गठित होकर अनुष्ठानिक रूप से गाँव-गाँव प्रदर्शन करती फिरती हैं। इन व्यवसायिक मडलियो के प्रसार के कारण सामुदायिक नाट्य प्रदर्शनो को आघात अवश्य पहुँचा है। सधेसधाये नाट्यप्रदर्शन यदि बिना किसी परिश्रम के ही उपलब्ध हो जावें तो गाँव के लोग स्वयं क्यों प्रदर्शन करें ? आज से ५० वर्ष पूर्व जब देश मे सामुदायिक नाट्यो का बाहुल्य था, तब इन नाटको के लिये विशेष स्थान था, उनके विशेष रग-मंच तथा चबूतरे निर्मित होते थे, विशिष्ट नाट्य-सामग्री एक जगह सुरक्षित रहती थी, वर्ष भर में कम से कम एक बार नाटक करने के लिये विशिष्ट समितियां बनती थी, उनके विशिष्ट चदे एकत्रित होते थे, सामूहिक भोज होता था, सब परिवारो को एक बृहत् सास्कृतिक आयोजन के रूप मे मिलने का अवसर मिलता था। वह एक प्रकार से गाँव का महत्त्वपूर्ण सार्वजनिक त्यौहार था। गाँव के अनेक उदीयमान कलाकारों को रगमच पर आकर अपनी प्रतिभा दर्शाने का अवसर मिलता था। गाँव में कुछ वयोवृद्ध लोग ऐसे होते थे जो इन सैकडो वर्ष पुराने नाटको के अलिखित गीत-सवादो के चोपड़े सुरक्षित रखते

थे। वे नाट्य की परम्पराओ के रक्षक समझे जाते थे। उनके लिये नाट्य रगमच पर एक विशिष्ट आसन निश्चित रहता था तथा समस्त गाँव उनको पूज्य दृष्टि से देखता था। लोकनाटचो के इस व्यवसायीकरण से निश्चय ही नाटचो के सामुदायिक तत्त्वों को क्षति पहुँची है।

दक्षिण भारत तथा महाराष्ट्र के लगभग सभी लोकनाटच सामुदायिक स्तर से ऊपर उठकर व्यवसायिक स्तर पर पहुँच गये हैं। इसके मूल मे केवल यही कारण है कि जनसाधारण का कलात्मक स्तर औसत से ऊपर उठ गया है और सामुदायिक तथा व्यवसायिक नाटचविधियो मे वहुत कम अन्तर रह गया है। महाराष्ट्र का तमाशा जव सामुदायिक स्तर पर था तो उसका प्रारम्भिक रूप गम्मतो के रूप मे विद्यमान था, उसका सामुदायिक रूप 'गोधल,' 'स्वाग' तथा 'ललित' के रूप मे आज भी परिलक्षित होता है। पहले ये ही तमाशे 'सुरतिया' 'सौगडिया' नर्तकी की सहायता से गीतिकथाओ के रूप मे विद्यमान थे, वाद मे शायरो तथा कवियो की विशिष्ट प्रतिभाओ ने और पेशवाओ तथा राजा-महाराजाओ के विशिष्ट सरक्षण ने इनको उच्चकोटि के व्यवसायिक तमाशो मे वदल दिया और लावणियाँ आदि प्रचलित धुनो ने उन पर गजव का रग चढाया। आज तमाशा महाराष्ट्र के गाँवो से वाहर निकल कर शहरो के वडे-वडे थियेटरो की शोभा वन गया है। महाराष्ट्र के दक्षिणपूर्व के कोंकण क्षेत्र मे दशावतार जैसा सामुदायिक लोकनाटच विशिष्ट कलाकारो और शास्त्रो के सम्पर्क से इसी तरह व्यवसायिक नाटक मे परिवर्तित हो गया।

दक्षिण भारत का यक्षगान और कथाकली नाटक भी अपने लोकधर्मी स्वरूप को छोडकर कालान्तर मे व्यवसायिक और शास्त्रीय नाटको के रूप मे वदल गया। यक्षगान का सामुदायिक स्वरूप 'कुरवजु' कभी केवल गीतिकथाओ के रूप मे गाँवो मे प्रचलित था, धीरे-धीरे उसने भी अनेक पौराणिक कथाओ को अपने मे समेटकर व्यवसायिक नाटचो का स्वरूप पकड लिया। १६ वी शताब्दी के राजा-महाराजाओ का सरक्षण प्राप्त होने से वे सभी नाटच यक्षगानी स्वरूप मे आ गये, जिनकी अदायगी विशिष्ट व्यवसायिक लोककलाकार ही करने लगे। १८ वी शताब्दी से पूर्व दक्षिण भारत मे कथकली नाटच केवल कथागान के रूप में विद्यमान था, गाँव के लोग नगाडे, मृदग, वासुरी, मजीरे आदि लेकर अपने इष्टदेवो के जीवन सवधी गीत गाते और नृत्य करते थे, गाँव के खुले वातावरण मे लोगो के सहयोग से ये नाटच अकुर रूप मे प्रस्तुत किये जाते थे। वाद मे यही नाटच-परम्परा नवूदरी ब्राह्मणो की सहायता

से शास्त्रोक्त नृत्य-सामग्री प्राप्त कर कथकली जैसे समुन्नत तथा अत्यत विकसित शास्त्रीय नाट्यो मे परिवर्तित हुई, जिसका प्रतिपादन विशिष्ट कलाकारो के अलावा किसी साधारण कलाकार द्वारा एक असाध्य कार्य था।

इन व्यवसायिक तथा शास्त्रीय कोटि के विशिष्ट नाटको मे उच्चकोटि के सधे हुए और परमुन्नत कलातत्त्वो के दर्शन अवश्य होते हैं परन्तु वे एक सार्वजनिक तथा सामुदायिक समारोह का रूप धारण नही करते। उनमे सार्वजनिक उत्साह तथा सार्वजनिक सहयोग के दर्शन नहीं होते तथा इन नाट्यो के पात्र जनता के स्नेह और श्रद्धा के पात्र नही होते। उत्तर भारत की रास-लीलाओं, रामलीलाओ तथा विशिष्ट सामुदायिक यात्रा के पात्रो की जिस तरह नाट्य-समाप्ति पर आरती उतारी जाती है, उनके लिये मिठाइयो और उपहारो के ढेर लग जाते है, उस तरह का सार्वजनिक आदर इन व्यवसायिक नाट्यकारो को नही मिलता। सामुदायिक नाट्यो के पात्रो को नाट्यारंभ से पूर्व मिरचों की धूनी दी जाती है, काले डोरो से उनके हाथो मे गडे बांधे जाते हैं ताकि उनको कोई नजर न लगे। नाट्य की समाप्ति पर जनता उनकी आरती उतारती है, घर-घर उनका स्वागत-सत्कार होता है तथा जिन घरो मे उनका निवास होता है वहाँ दीप जलाये जाते है। व्यवसायिक नाट्य अभिनेताओ को आदर अवश्य मिलता है तथा उनकी उपलब्धियो पर उन्हें पर्याप्त मात्रा मे धन भी मिलता है परन्तु वे समाज के हृदय मे सदा के लिये स्नेहपूर्ण स्थान प्राप्त नही करते।

सामुदायिक नाट्यो के प्रदर्शन हेतु दूर-दूर से आये हुए दर्शनार्थियो के लिए समस्त गाँव निवास, भोजन, विश्राम आदि का प्रबन्ध करता है तथा उनका गाँव के अतिथि के रूप मे स्वागत-सत्कार किया जाता है। लोकनाट्यों के सामुदायिक और व्यवसायिक स्वरूपों मे एक सामान्य बात अवश्य है जो इन दोनो को एक ही जाति मे शुमार करती है, वह है इनका कथानक। नाट्य के इन दोनों ही स्वरूपो मे काल्पनिक कथानकों के लिये कोई स्थान नही है। वे ही चरित्र लोकनाट्यो मे चलते हैं जिनका परिचय जनता को पहले से होता है तथा जो उनके जीवन के साथ किसी तरह अनुष्ठानिक रूप से जुडे हुए होते हैं। इन पात्रो मे अधिकाश तो ऐसे होते हैं जो जीवनादर्श के रूप मे उनको प्रेरणा देते रहते हैं। इनमे से कुछ पात्र ऐसे भी होते हैं जो कुत्सित एव घृणित होते हुए भी पूज्य चरित्रनायको के चरित्र को उभारनेवाले होने के नाते जनता के चिर-परिचित पात्र बन जाते हैं। जनता इन चरित्रो की अदायगी मे किसी प्रकार का परिवर्तन या रूपान्तर नही चाहती, न उनसे सम्बन्धित गीत, नृत्य

तथा प्रस्तुतीकरण और वेश-विन्यास के तरीको मे कोई भी आज़ादी पसद करती है। यदि उनकी आकाक्षाओ और स्वीकृत कल्पनाओ और मूल्यो के अनुकूल उनके पात्र नही उतरते तो चाहे वह प्रदर्शन सामुदायिक मडलियो द्वारा प्रस्तुत किया हुआ हो या व्यवसायिक, वे उस पात्र को रगमच पर एक क्षरण के लिये भी नही टिकने देते हैं। यही कारण है कि सामुदायिक मडली के मुकाबले मे कोई व्यवसायिक मडली प्रदर्शन प्रस्तुत करती है तो उसमे किसी प्रकार की कमज़ोरी जनता वर्दाश्त नही करती। इन व्यवसायिक मडलियो द्वारा काल्पनिक प्रसगो पर आधारित नृत्य-नाटिका प्रस्तुत करने का साहस इसलिये कोई नही करता क्योकि वे जानते हैं कि जनता उन्हें तुरन्त उखाडकर फैंक देगी।

लोकनाट्यो का प्रस्तुतीकरण तथा दृश्यविधान

लोकनाट्यो की विशेपता इसी मे है कि वे अनौपचारिक ढग से रगमच पर प्रस्तुत होते हैं। उनके लिये व्यवस्थित ढग के डिवियावाले रगमंच, विजली से चलनेवाले दृश्यमय परदे तथा रगमच के विविध विधान की आवश्यकता नही होती। इन नाट्यो मे प्रशिक्षण तथा पूर्वाभ्यास की भी आवश्यकता नहीं होती, न उनके लिये विशिष्ट पोशाको की ही आवश्यकता होती है। साधारण जीवन मे जो स्त्री-पुरुष पोशाकें पहिनते हैं, वे ही रगमच पर भी प्रयुक्त होती हैं। पोशाको का मोटा-मोटा वर्गीकरण केवल लिगभेद के अनुसार होता है। लोकनाट्यो के पात्र, चाहे पौराणिक हो चाहे ऐतिहासिक, आचरण की दृष्टि से सदा ही आधुनिक वने रहते हैं।

दृश्यावली के सबध मे भी केवल प्रतीको का सहारा ही लिया जाता है। पूरे परदो का उपयोग लगभग वर्ज्य ही है। स्थल, स्थान तथा समय परिवर्तन के सवध मे पात्रो के वाचन ही मे पर्याप्त संकेत रहता है। कभी-कभी जगल की जगह एक पेड की शाखा लेकर खडा हो जाना ही केवल पेड ही नही, समस्त जगल का भान करा देता है। रगमच के आरपार किसी नीले रग के साफे को हिला देने मात्र से वहती हुई नदी का भान हो जाता है। जिन अट्टालिकाओ और मकानो की छत पर वैठकर दर्शकगण नाटक का आनन्द लेते हैं वे ही नाट्य के विशिष्ट दृश्य-स्थल वन जाते हैं। रगमच पर ही, पात्रो द्वारा दस वीस दफा चक्कर लगा लेने से, राम लक्ष्मण सीता की वनयात्रा समझ ली जाती है। रगमच की एक छोटी सी छलाग ही हनुमान द्वारा सीता की खोज के लिये सात समदर की छलाग समझ ली जाती है। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस तरह रगमच के पात्र अपनी भूमिका की अदायगी मे परम

प्रवीणता का परिचय देते हैं, उसी तरह दर्शक भी अपनी विशद कल्पनाशक्ति की अदायगी में पूर्ण पटुता का परिचय देते है। उनकी कल्पना तो यहाँ तक कमाल दिखलाती है कि रंगमच पर अभिनय करते हुए पात्र को एक स्थिति मे तो वास्तविक नाट्य का पात्र मान लेती है और उसी समय किसी दूसरी स्थिति मे वह दर्शक के समान ही साधारण मनुष्य। भगवान राम जब रगमच पर काम करते हुए थक जाते हैं तो तनिक विश्राम भी कर लेते हैं और दर्शकों मे से किसी से बीडी मागकर धूम्रपान करते हैं। इस समय दर्शकगण उन्हें भगवान राम का स्वरूप नही मानते। वे सही माने मे सच्ची भावना से राम का अभिनय करेंगे तभी वे राम कहलावेंगे, शेष सभी क्षणो मे वे साधारण मनुष्य बने रहेंगे, अभिनेता नही।

रगमच पर प्रवेश आदि के लिये भी किसी विशेष औपचारिकता की आवश्यकता नही होती। पात्रो का प्रवेश लोकनाट्यो मे जिस विधि से होता है वह अत्यत मौलिक और हृदयग्राही है। भिखारी का अभिनय करनेवाला पात्र दर्शको मे से ही भीख माँगता हुआ रगमच पर चढ जाता है। राजा का अभिनय करने वाला नाट्यस्थली से किसी निकटस्थ मकान की अट्टालिका से उतरकर रगमच पर आता है। यदि किसी कोतवाल को किसी अभियुक्त को पकडना है तो वह दर्शको मे से ही किसी को पकडकर रगमच पर ले आता है। ये रगमच पर लाये जानेवाले असवधित व्यक्ति भी इस तरह रगमच पर आने मे मे अपना गौरव समझते हैं। दर्शक-प्रदर्शको का यह समन्वीकरण लोकनाट्यो का प्राण है।

लोकनाट्यों का अपना कोई विशिष्ट पोशाकघर भी नही होता। बहुधा तो पात्र अपने घरो से ही पोशाक पहिनकर आते हैं और दर्शकों मे बैठ जाते हैं। कुछ पात्र अपनी पोशाकें दर्शको मे बैठकर ही बदल लेते हैं। चलते नाट्य मे पात्र-परिवर्तन के प्रसग में पोशाको का आमूलचूल परिवर्तन आवश्यक नहीं है। यदि किसी पुरुष-पात्र को तत्काल ही किसी स्त्री की भूमिका अदा करनी है तो वह तुरन्त ही अपने शरीर पर चादर लपेटकर स्त्री का अभिनय करने लगता है। इसी तरह राजा का अभिनय प्रस्तुत करनेवाला पात्र अपने सिर पर एक चमकदार पगडी रख लेने से ही राजा मान लिया जाता है।

लोकनाट्यो मे दर्शक-प्रदर्शको की पारस्परिक सहानुभूति, कथा-सवेदन आदि बहुत ही मार्के के होते हैं। राजस्थान के लगभग सभी लोकनाट्यों मे दर्शक-प्रदर्शको का पारस्परिक योग नाट्यप्रदर्शन को बहुत ही जानदार बना देता है। भवाई नाट्य मे प्रासगिक-अप्रासगिक अनेक ऐसे दृश्य आते हैं, जिनमे सौदा बेचनेवाला

बनिया तथा नाई के प्रसग प्रधान रहते हैं। ऐसी परिस्थिति मे जब उन्हे नाई और बनिये के प्रसग रगमच पर प्रस्तुत करने होते हैं तो दर्शकों मे से किसी असली नाई और बनिये को रगमच पर ले आते है और अपना वांछित अभिनय उन पर आरोपित करते हैं। दर्शकगण, गाँव के इन दो दुष्ट तथा शोषक तत्त्वो की अच्छी बेइज्जती देखकर, हँस-हँस कर लोटपोट हो जाते हैं। देश का कोई नाट्य-प्रकार ऐसा नही है जिसमे इस प्रणाली का प्रतिपादन नहीं होता हो। उत्तर प्रदेश की रामलीलाओ और कृष्णलीलाओ के भगवान राम और कृष्ण असली भगवान के स्वरूप ही समझे जाते है। प्रदर्शन के समय जनकपुरी मे धनुषयज्ञ के समय समस्त दर्शकसमुदाय जनकपुरी का निवासी समझा लिया जाता है तथा राम वनगमन के दृश्य मे जब राम सीता लक्ष्मण रगमच से नीचे उतरकर दर्शको के बीच होकर वन को प्रस्थान करते हैं तो दर्शकगण अपने को अयोध्या की जनता समझकर उनके के चरण स्पर्श करते है। उनके वियोग मे झूर-झूर कर रोते हैं।

नाट्य प्रस्तुतीकरण की कला मे लोकनाट्य बडे-बडे उन्नत तथा आधुनिक शैली के नाटको को भी पाठ पढा सकते हैं। इतने भव्य रगमचीय विधान, प्रकाशव्यवस्था तथा खर्चीले नाट्यप्रसाधन के बावजूद भी यह अनुभव किया जाता है कि जनता उनके साथ आत्मसात् नही होती। वह उनकी अभिनयात्मक तथा रगमचीय व्यवस्था सम्बन्धी सूक्ष्म से सूक्ष्म गलतियो को पकड़कर उसे राई से पर्वत बना डालती है। परन्तु लोकनाट्य प्रस्तुतीकरण के हर पक्ष की दृष्टि से अनायास ही दर्शको के दिल मे बैठ जाते हैं। जिस समय गाँव की नाट्यमडली गाँव छोडकर किसी दूसरे गाँव मे जाती है तो जनता का दिल फट जाता है, स्त्रियाँ फूट-फूटकर रोती हैं, विदाई के समय विशिष्ट स्वरूपो को सिरोपाव, नारियल तथा मिठाई की भेंट देती हैं। गाँव के वे लोग जो बहुधा नाट्य मे हँसी-मज़ाक तथा सामाजिक कटाक्ष के शिकार बने हो, भी इस विदाई के समय अपने आपको बडा सूना-सूना सा महसूस करते हैं। गाँव का जागीरदार, जमीदार तथा धनाढ्य बनिया, जिनकी इन लोकनाट्यो मे बुरी तरह मरम्मत होती है, इन नाट्यो के सबसे बडे सरक्षक होते हैं।

लोकनाट्यो के प्रस्तुतीकरण की कला मे राजस्थान के तुर्राकलगी विशेषरूप से उल्लेखनीय है। उनकी गगनचुम्बी अट्टालिकाएँ जो रगमच के दोनो तरफ विशेषरूप से बनाई जाती हैं वे नाट्यप्रदर्शन मे महत्त्वपूर्ण भाग अदा करती हैं। एक अट्टालिका से स्त्री-पात्र उतरकर रगमच पर आता है तथा

दूसरी से पुरुष-पात्र। ये दोनो अट्टालिकाएँ एक तरह से नाट्यमच की साइड-विंग्ज़ (Side-wings) हैं, जिनमे पात्रो का प्रवेश खुले आम डके की चोट होता है। प्रथम प्रवेश मे ही जब ये पात्र २० फीट की ऊँचाई से अपने गीत-सवादो की अदायगी करते हैं तो जनता के मानसपटल पर उनकी गहरी छाप अकित हो जाती है। दोनो अट्टालिकाओ के लम्बे फासले के बावजूद भी उनके पारस्परिक संवाद दर्शको पर तीर की तरह चुभ जाते हैं। उन्हे किसी प्रकार के लाउडस्पीकर या माइक की आवश्यकता नहीं होती क्योकि लोकनाट्यो मे प्रयुक्त होनेवाले सभी पात्र मीलो दूर प्रसारित होनेवाली बुलन्द आवाज़ मे गाने के अभ्यस्त होते हैं।

इस नाट्यशैली मे एक विशेष प्रणाली और है जो आकर्षण की वस्तु है। वह है पात्रो द्वारा अभिनय करते समय छडियाँ घुमाना। ये छडियाँ पात्र अपने हाथों मे थामे रहते हैं। उनके सिरो पर कागज़ के अत्यन्त आकर्षक फूल लगे रहते हैं। नृत्य के समय ये छडियां पात्रो की अगभगिमाओ के साथ घूमती रहती हैं और अत्यन्त मनमोहक दृश्य उपस्थित करती हैं। हज़ारो की सख्या मे दूर-दूर बैठी हुई जनता को ये छडियां अभिनेताओं के अगो की ही अश प्रतीत होती हैं और दूरी के बावजूद भी पात्रो की क्रियाएँ स्पष्ट दिखलाई देती हैं। मेवाड की रासधारियो मे भी मूल रगमच के साथ ही एक महल या अट्टालिका ऐसी बनाई जाती है जिसमे नाट्य के अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य-कलाप दिखलाये जाते हैं। मध्यप्रदेश के माच ज़मीन से आठ फीट ऊँचे बांधे जाते हैं जिन पर पात्र अपने कार्य-कलाप दिखलाते हुए अत्यन्त प्रभावशाली मालूम होते हैं। ये माच इतनी ऊँचाई पर प्रदर्शित होते हैं कि कभी-कभी जनता अपनी छतो पर बैठकर ही उनका श्रव्य और दृश्य लाभ ले लेती है। उनके नृत्यो व गीतो मे इतनी ताकत होती है कि पनघट पर पानी भरती हुई स्त्रियाँ उन्हे सुनकर आत्मविभोर हो जाती हैं और रोटी पकाती हुई गृहिणियां अपना हाथ जला बैठती हैं। पानी भरती हुई स्त्रियां उन्हें सुनकर ठिठकी हुई खडी रह जाती है। ये माच-प्रदर्शक अपनी कलात्मक अदायगी के कारण अनेक स्त्रियो को मत्रमुग्ध कर लेते है और उन पर ऐसा वशीकरण मंत्र छोड देते है कि कभी-कभी वे अपनी हरीभरी गृहस्थी को छोड इन माचवालो के साथ हो लेती हैं। यही कारण है कि माच-प्रदर्शन के समय आज भी पुलिस को अत्यन्त सावधान रहना पडता है।

मेवाड के भीलो के गवरी नाट्य मे तो उत्साह और भावोद्रेक का एक समुद्र ही देखने को मिलता है। नाट्यप्रदर्शन के समय जब उसका प्रमुख अभिनेता

बूढिया रौद्र रूप धारण कर लेता है तब दर्शको मे बैठी हुई स्त्रियां भावोद्रेक के कारण कम्पायमान हो जाती हैं। लौकिक दृष्टि से उनमे देवताओ का प्रवेश हुआ समझा जाता है। आराध्यदेव बूढिया जब अपनी मोर पखी से उन्हे झाडता हैं तभी वे चैतन्य अवस्था मे आती हैं। उसी भावोद्रेक मे गवरी के प्रदर्शक तीन-तीन मजिल से ज़मीन पर कूद पडते हैं तथा पेडो पर चढ़े हुए डाकू-अभिनेता फूल की तरह ज़मीन पर लटक जाते हैं। ये सब चमत्कारिक घटनायें नाट्य को आकर्षक बनाने मे समर्थ होती हैं। कभी-कभी बंजारे की बालद गांव के एक छोर से गाती नाचती हुई रंगस्थली में प्रवेश करती है। कभी बादशाह की सवारी मे सारा गांव शरीक हो जाता है। कभी-कभी गांव की झोपड़ियां ही कजरो के डेरे बन जाती हैं। ये गवरी-नाट्य, जो कि दिन मे सुबह से शाम तक अभिनीत होते हैं, मूल ग्रामीण जीवन के अंश बन जाते हैं। कभी-कभी यह भी यान होना कठिन होता है कि नाटक कौनसा है और दैनिक जीवन की मूल क्रियाएँ कौनसी हैं? नाटक-पात्र अपना अभिनय करने के उपरान्त वही पास के किसी घर मे जाकर सुस्ता लेते हैं और पुनः अभिनय मे शामिल हो जाते हैं। इसी तरह दर्शक भी कुछ देर प्रदर्शन देखकर अपना खेत सभालने चले जाते हैं और विशिष्ट प्रसग मे पूजा आदि के लिए पुन लौट आते हैं। नाट्य का नायक बूढिया जब थक जाता है तो अपना मुखौटा (mask) किसी दर्शक के मुँह पर बांध देता है और वह दर्शक बूढ़िया की भूमिका अदा करने लगता है। गवरी नाट्य इसी धार्मिक अनुष्ठान के रूप मे सैकड़ो वर्षों से हो रहा है और दर्शक भी उसे अनेक बार देख चुके हैं, फिर भी वह चिरनवीन ही रहता है और दर्शक-प्रदर्शक अपना दैनिक कर्म करते हुए भी पारस्परिक सहयोग तथा समन्वय से इसे सफल बनाते हैं। दर्शक-प्रदर्शको का यह अद्वितीय समन्वय भारतवर्ष में किसी भी नाट्य मे परिलक्षित नही होता। सारा गांव ही प्रदर्शन-स्थल बन जाता है। इस नाट्य मे सभी दर्शक प्रदर्शक हैं और सभी प्रदर्शक दर्शक भी।

गवरी नाट्य की संवाद-विधि भी अद्वितीय है। देश के किसी नाट्य मे उसके दर्शन नही होते। इस नाट्य मे किसी प्रकार के औपचारिक शब्द या गीत-सवादो का प्रयोग नहीं होता। नृत्य, अंगभंगिमाओ तथा भावमुद्राओ से ओत-प्रोत यह नाट्य दर्शको के मन पर स्थायी प्रभाव डालता है तथा रौद्र, वीभत्स, वीर, शृ गार और हास्य रसो के परिपाक द्वारा उत्कृष्ट आनन्द की सृष्टि करता है। नाटक का सूत्रधार कुटकड़िया ही इस नाट्य का प्राण है। वही समस्त नाट्य के कथानको को अपनी विशिष्ट सवादशैली मे सुलझाता

है। वह पात्रो से स्वयं प्रश्न करता है और उनका उत्तर भी एक विचित्र शैली मे खुद ही देता है। गवरी नाट्य मे कुटकडिया के माध्यम से समस्त कथा का रहस्योद्घाटन स्वय मे एक अत्यन्त रोचक और आकर्षक प्रक्रिया है।

लोकनाट्यों की भावाभिव्यजना मे अतिरजना और प्रतीकात्मकता की प्रधानता रहती है। गद्य-सवादो की अनुपस्थिति मे गीत-नृत्यो के माध्यम से प्रकट होने वाले प्रयोजन, अतिशयोक्ति और प्रतीको का आधार ग्रहण नहीं करें तो वे भी सार्थक नही हो सकते। क्रोध और आवेश प्रकट करने के लिए लोकनाट्यो का अभिनेता अपने पाँवो की नृत्य-चालें अत्यन्त गतिमान और तीव्रतम बना देता है और आगिक मुद्राओ को अतिरंजित कर एक विचित्र-से तनाव की सृष्टि करता है। पृष्ठभूमि मे गाये जाने वाले गीत-सवाद की समाप्ति पर उसकी विशिष्ट चालें दर्शको पर अद्वितीय प्रभाव उत्पन्न करती हैं। यक्षगान, दशावतार तथा कथकली नाट्यो मे पहाड़ पर चढ़ने का उपक्रम पात्र अपनी टागें विचित्र ढग से ऊपर से नीचे रखकर करता है तथा बिना किसी पहाड़ या टीले पर चढे ही चढने का अद्भुत प्रभाव उत्पन्न कर देता है। उत्तरप्रदेश की रासलीलाओ मे जब वासुदेव भगवान् कृष्ण को कस की क्रूर दृष्टि से बचाने के लिए जमुना पार करते हैं तो रगमच पर अपने कपड़े उठाकर इस ढग से चलते हैं कि बिना नदी दिखलाये ही नदी का प्रभाव उत्पन्न हो जाता है। राजस्थानी ख्यालो, मध्यप्रदेश के माचो तथा महाराष्ट्र के तमाशो और ललित मे अपने गीत-सवादो के प्रयोजन को अधिक हृदयग्राही और मर्मस्पर्शी बनाने के लिए सवादसलग्न पात्र एक दूसरे को पार करते हुए विपरीत दिशाओ मे तीव्रगति से नाचते हैं और गीतो के भान पर चक्कर खाकर अत्यन्त चमत्कारिक ढग से खडे हो जाते हैं। यह पद्धति पूर्वी भारत की जात्राओ, दक्षिण भारत के यक्षगान तथा विधिनाट्य कथकली आदि मे अत्यन्त प्रभावशाली ढग से प्रयुक्त होती है। सवाद-कथन की यह अद्भुत शैली भारतीय लोकनाट्यो की प्राण बन चुकी है। अन्तर केवल इतना ही है कि किसी नाट्य शैली मे स्वर प्रधान रहते हैं, किसी मे शब्द तथा किसी मे ताल। कथकली और यक्षगान मे सवादगान के अन्त मे ताल-लय-सयुक्त पदचापो की प्रधानता रहती है जबकि राजस्थानी ख्यालो और मालवी माचो मे शब्दो की। उत्तर प्रदेश की रासलीलाओं, बगाल की जात्राओ और बिहार की बिदिसिया मे स्वरो का लालित्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भाग अदा करता है। संवादगान के छदबद्ध शब्द दर्शको पर चुभ जाते हैं। कभी स्वरो की रसधार अमृतपान कराती है और कभी तालबद्ध नृत्य की पदचापें दर्शको को चकित कर देती हैं।

अभिनेता के व्यक्तित्व की छाप इन्ही विशिष्ट स्थितियो मे दर्शकों पर अकित होती है। लोकनाट्यो की यह परम प्रभावकारी युक्ति किसी भी आधुनिक नाट्यो मे परिलक्षित नही होती। ये परिस्थितियाँ सवाद तथा नृत्यमय गीतों द्वारा पल-पल मे उपस्थित होती हैं। दर्शको की भावभूमि पर बार-बार चोट पडने से वे स्वय आत्मविभोर हो जाते हैं और नाट्य के अन्य सभी दोषो को भूलकर इन स्वर, ताल तथा आगिक भगिमाओ की चमत्कारपूर्ण अदायगी के कायल हो जाते हैं।

लोकनाट्यो के प्रस्तुतीकरण मे एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि उनकी अदायगी मे रगमच, रोशनी, सजावट, दृश्य-विधान, वेश-विन्यास आदि कोई महत्त्व नही रखते। उनके प्रस्तुतीकरण की समस्त कला अभिनेताओ की नृत्य-गायन, अदायगी तथा स्थिति, स्थान, प्रसग-वेशभूषा, चरित्र तथा प्रयोजन की प्रतीकात्मकता मे है। जो अभिनेता इन कलाओ मे प्रवीण नही होता उसका रगमच पर कोई स्थान नही है। लोकनाट्यो के अभिनेता सैकडो मे एक होते हैं। किसी औसत आदमी का उसमे काम ही नही है। यही कारण है कि किसी विशिष्ट क्षेत्र मे प्रचलित लोकनाट्य के विशिष्ट पात्रो के अभिनय के लिये कुछ ही विशिष्ट कलाकार होते हैं। या तो वे अपनी आजीविका के लिये व्यवसायिक नाट्यमडलियो मे शरीक हो जाते हैं या सामुदायिक नाट्यो मे बुलावे पर काम करते हैं। ऐसे कलाकार उस विशिष्ट क्षेत्र मे चमक जाते हैं और दर्शको के हृदय के हार होते हैं। उनके रगमच पर आने से जनता के दिल हरे हो जाते हैं और प्रदर्शन मे चार चाँद लग जाते हैं। ऐसे कलाकार जीवनपर्यन्त यही काम करते हैं। वे दैनिक जीवन मे भी कलाकार बनकर ही रहते हैं। कोई दूसरा धधा करने मे वे असमर्थ रहते हैं और गाँव-गाँव बुलावे पर जाकर अपना जीवन धन्य समझते हैं। ये लोक-कलाकार अपने इस काम को आजीवन बिना किसी आर्थिक आकाक्षाओ के शौकिया ढग से करते हैं और द्रव्य सदा ही उनके पीछे-पीछे दौडता है। जनताजनार्दन उनको हथेलियो पर उठाकर रखती है और उन्हे अपनी आजीविका के लिये एक क्षण भी कोई प्रयास नही करना पडता।

लोकनाट्यो में नारी

भारतीय लोकनाट्यो मे नारी का अभिनय पुरुषो के ही जिम्मे रहता है। स्त्री को यह अवसर कभी प्राप्त नही होता, चाहे स्त्रियाँ अभिनय के लिये प्रचुर मात्रा मे ही क्यो न उपलब्ध होती हो। स्वय भील जाति के गवरी नाट्य मे

भी स्त्रियो का काम पुरुष ही करते हैं जब कि उनके अन्य सभी नृत्यो में स्त्रियो को सम्मिलित होने की पूरी छूट है। दक्षिण भारत, महाराष्ट्र, बगाल, आसाम, उड़ीसा आदि के यक्षगान, कथकली, कुचपुडी, तमाशा, जात्रा आदि लोक-नाट्यो मे पुरुष ही स्त्रियो का भाग अदा करते हैं, जब कि इन क्षेत्रो मे सामाजिक दृष्टि से स्त्रियाँ प्रत्येक कलात्मक कार्य मे अग्रणी रहती है। परन्तु फिर भी नाट्य की सफलता तथा प्रभावोत्पादकता के लिये स्त्रियो का कार्य पुरुष ही करें तो नाटक मे रगत आती है अन्यथा नही। उत्तरप्रदेश की कुछ आधुनिक नौटकियो मे नर्तकियो का प्रयोग होने लगा हैं, परन्तु यह देखा गया है कि जनता कुछ अशो मे तो उन्हे बर्दाश्त करती है परन्तु उनका रगमचीय आधिपत्य उन्हें स्वीकार नही। किसी भी नाट्य की प्रमुख नायिका, विशेष करके चरित्रवती नायिका, का अभिनय पुरुषो द्वारा किया जाना ही गौरवपूर्ण समझा जाता है। हमारे समाज मे ऐसी मान्यता भी घर कर गई है कि रगमच पर काम करने वाली अधिकाश स्त्रियाँ चरित्रहीन होती हैं और ऐसी भ्रष्ट नारियो द्वारा सती स्त्रियो तथा सन्नारियो का अभिनय कराना प्रतिष्ठा के विरुद्ध है। आगरा की एक प्रसिद्ध नौटकी मे सती तारामती का अभिनय आगरा की एक प्रसिद्ध तवायफ द्वारा किये जाने पर एक भयकर अदावत हो गई थी। इस पुस्तक का लेखक स्वय दर्शको मे मौजूद था। जब तक उस तवायफ के स्थान पर दर्शको का मनचाहा बालअभिनेता चिरजीव स्त्री वेश मे तारामती का अभिनय नही करने लगा, दर्शको ने अपना आग्रह नही छोडा। यह बात केवल स्त्रियो के अभिनय तक ही सीमित नही है। सच्चरित्र नायको के चरित्र भी सच्चरित्र पुरुषो द्वारा ही अभिनीत होने चाहिएँ, ऐसी परम्परा भी भारत के लगभग सभी धार्मिक लोकनाट्यो मे आज भी प्रचलित है। उत्तरप्रदेश की रामलीलाओ और कृष्णलीलाओ के राम, कृष्ण, सीता, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, हनुमान आदि चरित्रनायको की भूमिका उच्चकुलीन, सच्चरित्र तथा सदाचारी बालको तथा युवको पर ही निर्भर रहती है।

लोकनाट्यो मे स्त्रियों के अभिनय के लिये स्त्रियो का प्रयोग वर्ज्य इसलिये भी है कि वे लोकनाट्यो के ओजपूर्ण और कष्टसाध्य कार्यों के लिये शारीरिक और मानसिक दृष्टि से भी योग्य नही समझी गई हैं। राजस्थान के भवाई नाट्य मे तो भवाई अभिनेता अपनी स्त्री को उनके द्वारा अभिनीत होने वाले नाट्यो को देखने भी नहीं देते। यदि वे लुक-छिपकर उन्हे देख भी लें तो उसी समय तलवार से उनके गले काट दिये जाते हैं। ऐसी घटनाएँ राजस्थान मे अनेक बार हुई हैं और कई भवाइयो को इसी कारण आजीवन

कारावास भी सहना पडा है। भवाई लोग अपनी स्त्रियो की सर्वाधिक कद्र करते हैं और उन्हे सोने-चांदी से भी लादे रहते हैं। उनकी प्रदर्शन-यात्रा मे वे साथ भी रहती हैं, परन्तु प्रदर्शन के समय उन्हें अपने खेमो मे ही छिपा रहना पड़ता है। ये स्त्रियाँ नाट्य से पूर्व खेमो मे ही अपने पतियो की खूब सजावट करती हैं और वेशभूषा तथा अलकरणो से उन्हे लादकर सम्पूर्ण स्त्री का रूप धारण कराती हैं। इस भावना के पीछे प्रमुख मत यही है कि रगस्थली मे काम करते समय वे अपनी स्त्रियो को देखकर कामातुर नही हो जायँ और उनकी अभिनयात्मक अदायगी मे कमज़ोरी न पैदा हो। प्रत्येक भवाई कलाकार वीस वर्ष से नीचे की आयु तक ही स्त्री की भूमिका अदा करता है। सच पूछिये तो प्रत्येक भवाई कलाकार स्त्री-पार्ट करने के लिये ही इस ससार मे अवतरित हुआ है और भवाई नाट्य मे इसीलिये स्त्री-चरित्र पुरुषो की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं। वीस वर्ष की आयु के वाद वे पुरुषो का अभिनय अवश्य करते हैं परंतु तब तक तो उनके जीवन का वासन्ती उल्लास समाप्त सा हो जाता है। वीस वर्ष की आयुतक वह सामान्य जीवन मे भी खूब सजाव-श्रृंगार से रहता हैऔर अपने आपको अत्यन्त आकर्षक वेश-भूषाओ से सुसज्जित करता है।

लोकनाट्यो मे वास्तव मे स्त्रियो का अभिनय स्त्रियोचित है भी नही। किसी भी स्त्री की यह सामर्थ्य नही कि वह शाम से लेकर सुवह तक रंगमच के कष्टसाध्य और पौरुषपूर्ण कार्यों को अदा कर सके। मध्यप्रदेश के प्रसिद्ध माच अभिनेता श्रीयुत् फकीरचन्द का कहना है कि — 'मर्द हो सो चढे माच पर।' माच के काम मे स्त्रियो का काम भी मर्दानगी और पुरुषार्थ का कार्य है। माच को तख्तातोड नाच भी कहते हैं। उसकी नृत्य-अदायगी इतनी कठिन और श्रमसाध्य है कि मामूली कार्य करने वाले के तो छक्के छूट जाते हैं। ढोलक की थापो पर पदो का द्रुत सचालन और शरीर की हृदयविदारक उछलकूद वडे-वड़े वहादुरो को आश्चर्यचकित कर देती है। भवाई नाट्य मे, भाले को आकाश मे फेंक देने के वाद पूरी रगस्थली का तूफानी चक्कर लगाकर पुन ढोलक के मान के साथ उसे उसी स्थल पर पकड लेना, किसी जादूगर का ही काम है। कथकली, यक्षनाट्य और दशावतार के अभिनेताओ की गगनस्पर्शी और तूफानी उछलकूद किसी सधे हुए और अनुभवी कलाकार का ही काम है। मेवाड के गवरी नाट्य मे माता राइयो की भूमिका अदा करने वाले पुरुष यदि स्त्री-पात्र होते तो गवरी की अनुष्ठानिक और तूफानी चकरियो मे वे कदापि साथ नही दे सकते थे।

उत्तर प्रदेश की नौटकियो में कोई भी धार्मिक तथा अनुष्ठानिक विशेषता नही होते हुए भी वहाँ रगमंच पर, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, स्त्रियाँ वर्दाश्त नही होती। हर तरह से अपने अभिनय की सफल अदायगी के बावजूद भी वे दर्शको की आँखो मे खटकती हैं, कारण कि वे न तो सच्चरित्र स्त्रियो की और न कुचरित्र स्त्रियो की भूमिका को वास्तविक रूप मे प्रस्तुत कर सकती हैं। नौटकियो मे स्वभाव से ही स्त्री-पात्रो के लिये हल्के-फुल्के पदसचालन की व्यवस्था पहले से ही है। फिर भी दर्शक यह नही चाहते कि स्त्रियाँ ही स्त्रियो की भूमिका अदा करें। वे चाहते हैं कि स्त्रियो का अभिनय करने वाला पात्र विना सकोच के वे सभी स्त्रियोचित भाव वतला सके जो आमतौर से एक स्त्री भी नही वतला सकती। यही कारण है कि नौटकियो मे स्त्रियो का आधुनिक प्रयोग प्राय असफल हो रहा है। रात-रातभर असख्य जनसमुदाय के सन्मुख निरन्तर नाचते रहना और महीनो अपने समस्त परिवार से अलग होकर दिन-रात एक गाँव से दूसरे गाँव को भटकते रहने का कार्य किसी हालत मे स्त्रियो के हाथों में छोड देना खतरे से खाली नही है। यक्षनाट्य, कथकली, विदिमिया, लावणी, माच, तमाशा, दशावतार आदि मे अनेक वार स्त्रियो के उपयोग की दृष्टि से प्रयोग हुए परन्तु वे प्राय असफल रहे हैं। कारण यही है कि इन नाट्यशैलियो की गगनचुम्वी उछलकूद तथा भयकर चालें उनके लिये असभव सिद्ध हुई हैं और गायन मे भी उनकी आवाज़ें पुरुषो की तरह फैल नही सकती हैं।

लोकनाट्यो में आधुनिक नाट्यो की तरह रगमचीय व्यवस्था, पोशीदा कपडे पहिनने की सुविधा, दर्शको से दूर डिविया वाले रगमच, किसी भी प्रकार के विघ्नवाधा से मुक्त होकर काम करने की सहूलियत नही रहती। उनमे दर्शक-प्रदर्शक वहुधा मिलेजुले ही काम करते हैं। अनौपचारिकता के वातावरण मे एक-दूसरे मे विशेष भेद भी नही रहता। स्त्री-पात्रों के लिये यह अनौपचारिक स्थिति अनुकूल नही होती। वेशभूषा, हावभाव, लुकावछिपाव, खुलकर काम करने की स्वतत्रता आदि की दृष्टि से लोकनाट्यो का यह समस्त वातावरण स्त्रीसुलभ लज्जा और मानमर्यादाओ के लिये अनुकूल नही है।

लोकनाट्यों में प्रतीक, अतिरजना, कल्पना तथा दर्शको की सूझबूझ का आधार विशेष रहता है। जहाँ महल नही हैं वहाँ भी महलो की कल्पना करनी पडती है। जहाँ जगल नही हैं वहाँ केवल एक डाली को ही जंगल मान लेना पडता है। जहाँ एक व्यक्ति, पुरुष की भूमिका अदा करते हुए, एक चादर अपने शरीर पर डालकर हावभाव करने लगता है उसे भी स्त्री समझ लिया जाता

है, वहाँ किसी लड़के या युवा पुरुष को स्त्री की भूमिका अदा करते हुए स्त्रियोचित सभी गुणो से सम्पन्न मान लेना बिल्कुल ही कठिन नही है। यदि वह पुरुष गाने मे निपुण, नृत्य मे पारगत है और अपने अभिनय मे दर्शको पर अमिट छाप छोडता है तो उसका भौंडा चेहरा और वेडौल शरीर भी दर्शको को आकर्षक लगने लगता है। उस भावोद्रेक की चरम स्थिति मे वे इन पुरुष-पात्रो मे अत्यन्त सुन्दर कोमलागिनी स्त्री के दर्शन कर लेते हैं। वह पुरुष-पात्र भी अपनी अद्वितीय अभिनयपटुता के कारण एक स्त्री-पात्र की तरह ही लोकप्रियता अर्जित कर लेता है।

लोकनाट्यों मे स्त्रियों को रंगमच पर नही लाने का एक कारण यह भी है कि कही किसी का गार्हस्थ्य जीवन नही विगड जाय। वहुधा लोकनाट्यो मे काम करने वाले अधिकाश पात्र दीन दुनिया से वेफिक्र रहते हैं। उन्हे व्यवसायिक मडलियो मे गाँव-गाँव घूमकर प्रदर्शन देने पडते हैं, अत वे सदा ही जनता की आँखो के तारे वने रहते हैं। समस्त पारिवारिक सुख ही इनका भ्रमण मे तथा मडलियो के जीवन मे निहित रहता है। स्त्री-कलाकारो को इन मडलियो में रखने से स्थिति और भी अधिक विगड़ सकती है। इन मडलियो के कारण जव दर्शक समुदाय ही के पारिवारिक जीवन क्षत-विक्षत हो सकते है तो स्वय प्रदर्शको के पारिवारिक जीवन का कहाँ निर्वाह हो सकता है? मध्यप्रदेश के माच किसी समय सार्वजनिक जीवन के लिये खतरा वने हुए थे। इन माचो से प्रभावित होकर अनेक स्त्रियाँ घर छोडकर माच वालो के साथ भागती हुई नजर आई हैं। माच मडलियो के पीछे पुलिसवालो की सदा ही आँखें लगी रहती हैं। सामाजिक और शृगारिक नाट्य प्रस्तुत करने वाली मडलियो के नैतिक स्तर वहुत ऊँचे नही होते। धार्मिक भावना के प्रतिपादन के अभाव मे इन्हे अपने शृगारिक और व्यग्यप्रधान प्रसगो से जनता की रुचि को पकडे रहना पडता है। धार्मिक नाट्यो के वोझिल उपदेशो के अभाव मे शृगारिक भावनाएँ अत्यधिक मनोरजनकारी होती हैं तथा जनता की शृगारिक प्रवृत्तियो को उभारती हैं। यही कारण है कि धार्मिक मडलियो से कही अधिक समस्याएँ सामाजिक और शृंगारिक नाट्य प्रस्तुत करनेवाली मंडलियो की है। आये दिन घर छोड़कर स्त्रियो के भागने के उदाहरण सामने आते हैं। इसलिये राष्ट्रीय दृष्टि से भी स्त्रियो का लोकनाट्यो मे प्रवेश उचित नही समझा गया है। आधुनिक ढग के नाटको मे स्त्रियो के प्रवेश की छूट इसलिये भी दे दी गई है कि ये नाटक अत्यन्त सभ्य तथा नियत्रित ढग से होते हैं और अभिनेताओ को लोकनाट्यो के अभिनेताओ की तरह खुलकर घूमना तथा काम नहीं करना पडता।

एक विशेष बात यहाँ ध्यान देने योग्य यह भी है कि जहाँ लोकनाट्यो मे अपनी-अपनी भूमिकाओं की अदायगी का सवाल आता है वहाँ स्त्री-पुरुष का भेद प्राय नगण्य सा होता है। गीतनृत्यों की तीव्रतम शैली दोनो ही प्रकार के पात्रो पर समान रूप से लागू होती है। उनकी अदायगी की शैली भी दोनो ही के लिए एक समान है। अत किसी स्त्री या पुरुष-पात्र के लिए अभिनय सबधी कोई विशेष अन्तर नही रहता। परम्परा से दर्शको की रुचि इस तरह से रूढ हो गई है कि उसमे कोई भी परिवर्तन सभव नही है। जब तक रात्रि को बुलन्द आवाज़ से नही गावें, तीव्रतम गति से नही नाचें तब तक समस्त नाटक का रग फीका ही रहता है। रगमचीय अभिनय मे पात्रो द्वारा अभिव्यक्त किये हुए गीतनृत्यो के अलावा लगभग सभी रूप-विधान की कल्पना दर्शको को स्वय करनी पड़ती है। इन नाट्यो मे नाट्यलेखक, गीतगायक और नर्तक का भाग सर्वोपरि रहता है, शेष रगमचीय परिस्थितियाँ, चरित्रानुकूल वेशभूषा, हावभाव, साज़-सज्जा, रूपस्वरूप की समस्त कल्पना दर्शको पर ही आधारित रहती है। अतः पात्रो के बुलन्द और सुरीले गले और उनके द्रुतगामी पदसचालन ही से उनका मतलब रहता है, शेष सभी बातो की पूर्ति वे अपनी उर्वर कल्पना द्वारा कर लेते हैं। शेखावाटी के चिडावा ख्यालो मे ५० वर्षीय डढियल दूलिया कुछ ही वर्ष पूर्व तक हीर-राझा नाट्य के प्रदर्शन मे सुन्दर हीर की भूमिका अदा करता था। उसकी अदायगी की समानता करनेवाला राजस्थान मे आज तक भी कोई नही जन्मा है। राजस्थानी लोकनृत्यो मे स्त्री की भूमिका अदा करने वाले पुरुष-पात्र बहुधा अपना मुँह घूंघट से ढककर ही रगमच पर उतरते हैं। इसलिए डाढी मूँछ का प्रश्न तो आसानी से हल हो जाता है। राजस्थान मे चूकि आम-तौर से परदे की प्रथा है इसलिए घूँघट मे रगमच पर उतरने वाले ये पात्र अस्वाभाविक नही लगते। हीर-राझा के अभिनय मे ५० वर्षीय दूलिया जब हीर बन कर रगमच पर उतरता था और अपनी अत्यत मर्मस्पर्शी गायकी और नृत्य-गरिमा से दर्शको पर छा जाता था तो दर्शक ५० वर्षीय डढियल दूलिया की कल्पना नही करते। उनके कल्पनाजगत मे अत्यत कमनीय षोडषी हीर की भव्य मूर्ति प्रत्यक्ष रहती थी।

भारतीय लोकनाट्यो मे नारी का प्रवेश यदि कभी हुआ भी तो वह समस्त नाट्य-परम्परा को बदलकर ही होगा। लोकनाट्यो की प्राचीन पृष्ठभूमि तथा गौरवगरिमा को अक्षुण्ण रखते हुए भारतीय नारी अभिनेता के रूप मे लोकनाट्यो मे कदाचित कभी भी प्रवेश नही पा सकेगी। यदि लोकनाट्य अपने

गेय गुणो को त्याग कर अभिनेय गुणो को अपनाले तो वह कभी भी लोकनाट्य नही रहेगा। दक्षिण भारत की कथकली नाट्यशैली, जो कभी अत्यत प्रबल तथा सशक्त लोकशैली थी, आज अभिनेय गुणो के कारण अपना लोकपक्ष खो बैठी है और शास्त्रीय नाट्य मे शुमार हुई है। जिन लोकनाट्यो मे हस्त, ग्रीवा, कटि आदि मुद्राओं से गीत तथा वाचनविहीन भावाभिव्यक्ति की परम्परा प्रविष्ट हुई है, वे अब तीव्रगति से शास्त्रीय नाट्यो मे रूपान्तरित हो रहे हैं, साथ ही स्त्रियो का प्रवेश भी उनमे अब वर्ज्य नही है।

लोकनाट्यों के दर्शक

मनोरजनात्मक प्रदर्शनो को प्राय सभी पसद करते हैं तथा उनके लिए किसी विशेष प्रकार के दर्शकसमुदाय की आवश्यकता नही होती। परन्तु लोकनाट्य ही ऐसा विशिष्ट मनोरंजन है जिसमे किसी विशेष प्रकार के दर्शक-समुदाय की आवश्यकता होती है। लोकनाट्यो के प्रदर्शक और दर्शक विशेष प्रकार के होते हैं। बचपन से ही उन्हे नाटक करने और देखने का शौक होता है। उनमे विशेष प्रकार के सस्कार पडे हुए होते हैं। ये नाटक उनके जन्ममरण के साथी हैं तथा उनके साथ उनकी विशेष आत्मीयता है। दर्शको को सदा ही यह आकाक्षा होती है कि उन्हे नाट्य-प्रदर्शन के समय कभी भी रगमच पर चढकर अभिनय करने का अवसर प्राप्त होगा। रगमच पर काम करनेवाले किसी थके हुए अभिनेता को विश्राम देने का कार्य दर्शकगण ही करते है। कोई भी उत्साही दर्शक इस महत्त्वपूर्ण काम को करने मे अपना गौरव समझता है। जब वह रगमच पर चढता है तो जनता तुमुल करतलध्वनि से उसका स्वागत करती है। उत्साह और सहानुभूति की इन घड़ियो मे इस स्थानान्तरित अभि-नेता के कमजोर अभिनय मे भी जनता एक उत्कृष्ट अभिनय की कल्पना कर लेती है। कलाकारो का यह आदान-प्रदान लोकनाट्यो की अत्यन्त स्वस्थ पर-म्परा है जो दर्शक-प्रदर्शक के बीच प्रगाढ आत्मीयता कायम रखती है। लोक-नाट्यो के दर्शक हॉकी या फुटवाल मेच के उन दर्शको के समान हैं जो अपने दल को विजयी वनाने के लिए प्रोत्साहन और प्रेरणास्वरूप करतलध्वनियाँ करते रहते हैं और खेल की समाप्ति तक जिनकी नसें तनी रहती हैं और ऐसा अनुभव करते हैं कि जैसे वे स्वय क्रीडागण मे खेल रहे हैं।

लोकनाट्यो के दर्शको की ये मनोभावनाएँ वरसो मे तैयार होती हैं। निरन्तर नाट्य देख-देख कर वे उनकी गहराई तक पहुँच जाते है और उनकी वृत्तियाँ उनके अनुकूल वन जाती हैं। कोई नव आगन्तुक इन लोकनाट्यो को

पसन्द नही कर सकता। बिना गहरी सहानुभूति और समझ के उसे ये नाट्य अत्यन्त प्राथमिक लगते हैं। यह भी मार्के की बात है कि इन नाटको मे बाल-दर्शको की संख्या बहुत ही कम रहती है क्योंकि उनका मानसिक स्तर उन्हे समझने के लिए पर्याप्त नही होता और न उन नाट्यो की अत्यधिक लम्बाई के अन्दर से कोई सार निकालने की उनमे क्षमता रहती है। माता पिता स्वयं भी अपने बच्चो को इन नाट्यो से दूर रखते हैं।

इन नाट्यों के प्रति दर्शको की रुचि इसलिए भी तीव्र बनी रहती है कि उनके आत्मीयजन, नाती, पोते, सगे, सम्बन्धी तथा मित्र उनमे काम करते हैं। उन्हीं के घरों की पोशाको तथा जेवरों का उनमे प्रयोग होता है। उन्ही के घरो की छतें, झरोखे तथा अट्टालिकाएँ उन नाट्यो की विविध रंगस्थलियाँ बनती हैं। सामुदायिक नाट्यों मे इस प्रकार उत्साह की पराकाष्ठा रहती है कि जनता बिन माँगे ही अपने घरो से श्रेष्ठतम पोशाकें लेकर नाट्यस्थल पर जाती हैं। यदि कोई उनका आत्मीय कलाकार ठीक पोशाक पहिन कर काम नही कर रहा है तो चलते नाट्य ही मे वे उसकी पोशाक बदल देते हैं। उत्तर प्रदेश की रामलीलाओ और बंगाल की यात्राओ मे तो धार्मिक पात्रो की समस्त पोशाकें दर्शको द्वारा ही भेंट दी हुई होती हैं। चलते प्रदर्शन मे अनेक दुपट्टे तथा अंग-परिधान सिरोपाव के रूप मे भगवान् को समर्पित किये जाते हैं।

दर्शको में सभी लोकनाट्य संस्कारवत् ही प्रविष्ट होते हैं। कोई नया नाट्य वे बर्दाश्त नहीं करते। जिस तरह जनता के जीवन मे होली, दिवाली, दशहरा जैसे त्यौहार वृहद् अनुष्ठान के रूप मे प्रवेश करते हैं और उनके साथ उनकी भावनाएँ जुड जाती हैं, उसी तरह ये लोकनाट्य भी उनके जीवन मे महान् अनुष्ठान के रूप मे प्रवेश करते हैं, चाहे वे व्यवसायिक नाट्य ही क्यो न हों! दर्शको की सदा ही यह वृत्ति रहती है कि ये नाट्य गाँव की घनी बस्ती मे ही हो और गाँव के बीचो बीच अनेको घरो से आवृत्त चौराहो पर ही उनके मंच बनें ताकि उनके घरो के चबूतरे, झरोखे, आगन तथा उनकी समस्त सामग्री नाटको मे काम आ सके और उनका घर ही उनका रंगस्थल बन सके।

जैसे किसी भोजन-व्यंजन के पीछे संस्कारवत् कोई विशेष स्वाद रहता है जो जन्म से ही जुबान पर चढ जाता है, उसी तरह का स्वाद दर्शको मे इन नाटको के प्रति भी होता है। प्रत्येक क्षेत्र के नाट्य-स्वाद अलग-अलग होते हैं। वहाँ के वेश-विन्यास, रहन-सहन, खान-पान, आचार-विचार तथा गीत-नृत्यो के आकार-प्रकार और धुनो मे विशेषता रहती है। उनके प्रति

वहाँ की जनता का लगाव रहता है। वहाँ के लोकनाट्यो की अदायगी मे भी क्षेत्रीय विशेषताएँ होती हैं, एक विशिष्ट प्रकार का स्वाद होता है जो उसी क्षत्र के लोगो को विशेष पसद होता है। अत. दर्शको की मनोवृत्ति भी उसी के अनुरूप बन जाती है। सामाजिक और सामुदायिक नाटकों को तो दर्शक हर माने मे अपने अनुकूल बना लेते हैं परन्तु व्यवसायिक नाट्यमडलियाँ भी इस बात को भली प्रकार जानती हैं। उनमे इतने सहजबुद्धि कलाकार होते हैं कि वे अपने नाटको मे क्षेत्रानुकूल ही वेशभूषाएँ पहिनते हैं और उन्ही की धुनो मे अपने गीत गाते हैं।

लोकनाट्यो के प्रदर्शनो की आगे की पंक्ति में बहुधा वे ही दर्शक बैठते हैं जिनको अभिनेता खूब जानते हैं। यह जान-पहिचान और मित्रता इन प्रदर्शनो को जानदार बनाती है। अभिनेता यदि दर्शको से पूर्व परिचित न हो तो प्रदर्शनो मे जो प्रेक्षक-अभिनयीकरण (Public Participation) का मज़ा रहता है उससे जनता वचित रह जाती है। चलते प्रदर्शनो मे प्रदर्शक दर्शको को सबोधित करता है तथा उनकी तरफ केन्द्रित होकर अनेक वाद-सवाद करता है। दर्शक-प्रदर्शको का यह पारस्परिक तारतम्य मूल नाटक को आघात पहुँचाये बिना ही अभिनय का जाल गुँथता रहता है। कभी-कभी इसी आत्मीयता के कारण अभिनेता एक पद का उच्चारण करता है और दर्शकगण मूल पदो मे ही उनका जवाब देते हैं। इस तरह प्रश्न-उत्तर की झडियाँ लग जाती हैं तथा लोकनाट्यो का कलेवर भी बढता जाता है। सामुदायिक नाटकों के अलावा नौटकी, माच तथा राजस्थानी ख्यालो के व्यवसायिक स्वरूपों मे यह परम्परा अत्यत स्वस्थ रूप धारण कर चुकी है। नौटकियो की गायकी तो इसी तरह रात-रात भर बढती जाती है। अभिनेता जो पद नही गाते वे दर्शक गाकर सुना देते है और पद-पद पर उनके लोकप्रिय गीतो की पक्तियो मे अभिवृद्धि होती जाती है। राजस्थान तथा मालवा के तुर्रा कलगी के खेलो की रचना तो प्रेक्षक-अभिनयीकरण की परम्परा से ही होती है। लोकनाट्यों की इस विशिष्ट रचना-विधि को समझे बिना तथा उन नाट्यो मे दर्शको का कितना शक्तिशाली योग है, इसको जाने बिना कोई भी आगन्तुक दर्शक इन नाट्यो का मज़ा नही ले सकता।

इन नाट्यो के वास्तविक दर्शक वे ही होते हैं जिनमे कई दिनो तक रात भर जागने और दिन भर काम करने की सामर्थ्य होती है तथा जिन्हे समस्त नाटक कंठस्थ याद रहते हैं। नाट्य की समाप्ति पर जब आरती फिरती है तो

वे रुपया, पैसा, सोनेचाँदी की अगूठियाँ थाली मे रखने को तैयार रहते हैं। कई दर्शक इन नाटको के इतने रसिक होते हैं कि नाट्यमडलियो के साथ-साथ एक स्थान से दूसरे स्थान तक चलते ही रहते हैं। बंगाल की जात्राओ में आज से ५० वर्ष पूर्व अनेक भक्तजन धार्मिक अनुष्ठान के रूप में साथ-साथ चलते थे। जब इन जात्राओ का यह यात्रारूप रईसो और धनिको द्वारा आश्रय पाकर केवल मात्र व्यवसायिक मंडलियो का रूप ही रह गया तो उसके साथ ही उसका धार्मिक स्वरूप भी नष्ट हो गया और दर्शको का लगाव भी उनसे धीरे-धीरे कम होता गया। बाद मे बगाल में १८ वी शताब्दी मे ऐसी परम्परा चल पडी कि स्त्री-पात्रो का अभिनय भी स्त्रियाँ ही करने लगी। शिक्षित और धनिक समाज को पुरुषो का स्त्री बनना रुचा नहीं इसलिये केवल मनोरजनार्थ ही स्त्रियाँ जात्राओ मे प्रविष्ट होने लगी। इस प्रवाह से जात्राओ का रहा-सहा धार्मिक स्वरूप भी खत्म हो गया और जात्राएँ केवल कुछ धनाढ्य लोगो के मनोरजन का साधन बन गईं। प्रदर्शक और, दर्शको के बीच जो पावन सबंध पहले विद्यमान था वह बिल्कुल ही नष्ट हो गया तथा अनेक भक्तजनो तथा दर्शको की रुचि इनसे हट गई। जात्रा का एक स्वरूप कीर्तनिया है जो केवल भक्तजनो द्वारा ही प्रदर्शित होता है। इसमे भक्तदर्शक अपने को कीर्तनियो का एक अंग ही मानते हैं और प्रदर्शको के साथ ही भावोद्रेक मे गाते नाचते हैं, परन्तु १६ वी शताब्दी मे कीर्तनियो का स्वरूप भी व्यवसायिक हो गया और दर्शक स्वय इस शैली से घृणा करने लगे।

उत्तर प्रदेश की अनुष्ठानिक रामलीलाओ मे तो दर्शकगण परिस्थिति के अनुसार स्वय ही नाट्य के अग बन जाते हैं। सीता-स्वयवर मे दर्शक ही जनकपुरी के सभासद होते हैं। राम की बरात मे समस्त दर्शक बराती बनकर जनकपुरी को प्रस्थान करते हैं। भगवान राम की वानरसेना मे ये ही दर्शक बदरो के चेहरे लगाकर लंकापुरी पर धावा बोलते हैं तथा लका-विजय के उपरान्त भगवान को सीता लक्ष्मण सहित अयोध्या मे लाते हैं। जिस नगरी मे यह लीला रची जाती है उसके समस्त निवासी अयोध्यावासी बनकर अपने घरो में दीपक जलाकर भगवान का स्वागत करते हैं। काशी नरेश की रामलीला मे दर्शक-प्रदर्शको का विचित्र योग आज भी देखा जा सकता है। राजस्थान के तुर्रा कलगी के खेलो मे भी दर्शक नाटक में बहुत ही महत्त्वपूर्ण भाग अदा करते हैं। वृन्दावन की रासलीलाओ का दर्शक परम भक्त होता है। वह रास के राधाकृष्ण को भगवान का असली रूप समझता है। रास समाप्त होने के उपरान्त दैनिक जीवन मे भी वह इन स्वरूपो की भक्तिपूर्वक आवभगत करता

है। मध्यप्रदेश के माच-दर्शक माच-प्रदर्शको को अपना परम गुरु मानते हैं। दर्शक ही प्रदर्शक बन जाएँ, इसकी कल्पना माचो मे नहीं की जा सकती। दर्शक माच-प्रदर्शको का खूब सम्मान करता है परन्तु किसी भी परिस्थिति मे वह उनके अतिशय कठिन और कष्टसाध्य काम को अदा नही कर सकता। अनेक दर्शक इन माच-प्रदर्शको की अद्वितीय कला से प्रभावित होकर उनके इशारो पर चलते हैं परन्तु वे कभी भी माच-प्रदर्शक बनने के योग्य नही बनते। दक्षिण भारत के लगभग सभी लोकनाट्यो मे दर्शक-प्रदर्शक सम्बन्ध इतना प्रगाढ नही है क्योंकि वहाँ के लगभग सभी लोकनाट्य व्यवसायिक बन गये है।

आमतौर से सभी भारतीय लोकनाट्यो मे दर्शकगण नाट्यावलोकन के लिये रगस्थली पर जाते हैं; परन्तु भारत के बहुरूपी नाटक ही ऐसे हैं जो स्वय दर्शको के पास जाते हैं। दर्शकगण अपने-अपने घरो और दुकानो पर अपने काम मे व्यस्त रहते हैं और ये बहुरूपी नाटककार स्वाँग बनाकर घर-घर और दुकान-दुकान पर अपनी लीलाओ का प्रदर्शन करते हैं। ये लीलाएँ कई दिनो तक चलती रहती हैं और प्रत्येक दर्शक के सम्मुख एक ही दिन मे बार-बार प्रदर्शित होती हैं। इस तरह अनेक लीलाएँ महीनो तक चलती हैं और उनकी समाप्ति पर अपने दर्शको से ये पर्याप्त इनाम प्राप्त करती हैं। दर्शको के इस विश्रृखल समुदाय की विभिन्न रुचियो को ये बहुरूपिये खूब जानते हैं। अत प्रत्येक दर्शक के सामने इनका एक ही अभिनय विविध रूप ग्रहण करता है। दर्शको की इस विभिन्नता ने इन बहुरूपियो को अतिशय चतुर और गुणी बनाया है। अपनी आश्चर्यजनक कला के माध्यम से ये अपने दर्शको पर अतिशय कटाक्ष करके भी लोकप्रियता अर्जित करते हैं।

महाराष्ट्र के परपरागत तमाशे भी किसी समय दर्शको के दरवाजो पर फिरा करते थे और एक ही रात मे उनका मनोरजन करके धन और कीर्ति दोनो ही प्राप्त करते थे। तमाशे के दर्शक अभी भी बडी रुचिपूर्वक इन तमाशो को देखते हैं और किसी भी शर्त पर उनके साथ स्वय नाचने भी लगते हैं। उनका कोई विशेष स्वरूप नही होता। तमाशे का स्नेह जन्म से ही उनके साथ चलता है तथा तमाशो के साथ ही वे अपना स्थान भी बदलते रहते है।

लोकनाट्यो के दर्शको पर किसी प्रकार का आरोपण कारगर नही होता। आधुनिक नाट्यो मे टिकट लगाकर जो दर्शको को प्रविष्ट करने की पद्धति है वह लोकनाट्यो मे नही चल सकती। टिकट खरीद कर नाटक देखने जाना दर्शक अपना घोर अपमान समझता है, जैसे वह अपनी ही धरोहर को पैसा

खर्च करके पा रहा हो। वैसे अनौपचारिक रूप से दर्शक इन नाट्यो की तैयारी मे सैकड़ो रुपया खर्च करते हैं परन्तु टिकट खरीदकर प्रदर्शन देखना इनको कभी नही रुचता। संसार में यही एक नाटक-प्रणाली है जो बिन पैसा खर्च किये देखी जा सकती है। नाट्य की अदायगी को दर्शक-प्रदर्शक कभी भी पैसो से नही आंकते। व्यवसायिक मंडलियाँ भी आर्थिक दृष्टि से अपने दर्शको पर ही निर्भर रहती हैं; परन्तु दर्शक यह कभी नही चाहेगे कि यह रकम उनसे भी टिकटो के रूप मे वसूल की जावे। लोकनाट्यो के शौकीन दर्शक अपनी तरफ से अधिक से अधिक खर्च करके हजारो को नि शुल्क दिखाने मे अपना गौरव समझते हैं। अत लोकनाट्यो का वास्तविक दर्शक अपना हृदय देकर नाट्य देखता है, पैसा देकर नही। भारतवर्ष के जो नाट्य टिकटो से प्रदर्शित होते हैं वे लुप्तप्राय ही हैं। बिना टिकट जहाँ नाट्य होते हैं वहाँ चाहे दर्शकगण अपनी तरफ से टिकटो पर एक भी पैसा खर्च न करते हो परन्तु फिर भी लोकनाट्यो की समाप्ति पर वे खाली जेब ही घर लौटते हैं। नाट्य स्वय मे इतने प्रसग आते है जब दर्शको की जेबो से अनजाने ही पैसा प्रदर्शको की जेबो मे जाने लगता है। भावोद्रेक की यह परम स्थिति विरले ही भाग्यशालियो को प्राप्त होती है। इस तरह श्रद्धापूर्वक जमा किया हुआ धन नाट्य की अभिवृद्धि के लिये ही प्रयुक्त होता है।

लोकनाट्यों की विशिष्ट संगीत तथा नृत्यपद्धति

साधारणतया दैनिक जीवन के प्रसगो मे गाये जाने वाले नृत्यगीत लोक-नाट्यो मे प्रयुक्त होनेवाले गीतनृत्यो से बिलकुल भिन्न होते हैं। इन गीतोकी बन्दिशें तथा शब्दरचनाएँ एक दूसरे से बिलकुल अलग होती हैं। दोनो के गायक-नर्तक भी अलग-अलग होते हैं। रगमंच पर नाट्यप्रदर्शन के समय गानेवाला कलाकार साधारण जीवन मे उसी गीत को फटे बांस की तरह गाता है जब कि उसकी रगमचीय अदायगी अत्यत मधुर ढग से होती है। इसी तरह साधारण दैनिक जीवन मे इधर-उधर धक्के खाने वाला दुर्बल कलाकार जब रगमच पर उतरता है तो तीर की तरह नाचने-गाने लगता है। इन कलाकारो का कहना है कि रगमच पर उतरते ही नाटक की सरस्वती इनकी जिह्वा पर बैठ जाती है। गीतो की रचना मे भी सवादवहन की अद्वितीय शक्ति होती है। चू कि हजारो दर्शक इन नाट्यो को देखते हैं और उनमे ध्वनिविस्तारक यत्र का प्रयोग नही होता है इसलिये इन गीतो की स्वररचनाएँ अधिकाश तार सप्तक ही मे घूमती रहती हैं। वे इस तरह निर्मित होती है कि उनमे स्वर-गु फन कम

होता है तथा सवादवहन की शक्ति अधिक होती है। ये गीत इन लोकनाट्यो मे प्रश्नोत्तर के रूप मे प्रयुक्त होते हैं। इन गीतो मे स्वर-ताल का जजाल नही होता और वे सीधे दर्शको के मन पर तीर की तरह चुभते हैं। ये गीत रगमच पर ही रुचते हैं और उनको यदि नाटक से असबद्ध करके गाया जाय तो वे बहुत ही फीके लगते हैं। इन गीतो मे भी विविध रसो के अनुसार बदिशें होती हैं। क्रोधयुक्त एव आवेशपूर्ण सवादो मे इन गीतो की स्वररचनाएँ गेयप्रणाली को छोडकर तालबद्ध गद्यप्रणाली मे उतर जाती हैं जिनमें ताल-स्वर अवश्य होते हैं परन्तु गाते समय ऐसा प्रतीत होता है जैसे केवल शब्दोच्चार हो रहा है। इसी प्रकार करुणापूर्ण प्रसगो के गीतो की बदिशें धीमी और वक्र चलने वाली झूमरा, तेवरा, दीपचन्दी जैसी तालो मे ही बँधी रहती हैं। विलाप के गीतो मे कोमल स्वरो की प्रधानता रहती है और बहुधा पीलू, सोहनी तथा कालीगडा रागो की छाया से वे आवृत रहते हैं। वे विशुद्ध लोकशैली मे ही गाये जाते है परन्तु उनकी बदिशो का प्रभाव जनता को रुला-रुला कर छोड देता है। उनकी लय इतनी मदगति मे होती है कि कभी-कभी नक्कारा, ढोलक और तबले की सगत बद करनी पड़ती है। साधु-सतो के गीत भी इसी तरह शान्त रस सयुक्त होते हैं और इनकी बदिशें भी मर्म को स्पर्श करती हैं। राग-रग, हर्ष-उल्लास के क्षणो मे ये गीत अपनी कलात्मक पराकाष्ठा तक पहुँच जाते हैं। गीत-लय की मस्ती मे स्वर-ताल की प्रतिस्पर्धा चलने लगती है और सवादो की लम्बाई भी बढती जाती है। ये गीत दमतोड गीतो मे शुमार होते हैं।

नाट्यगीतो के स्थायी अतरे बहुधा एक दूसरे मे निहित रहते हैं तथा स्पष्ट तौर से कभी भी बाहर नही आते। इनकी धुनें लयप्रधान होती हैं। गीत का प्रथम चरण समाप्त होते ही अभिनेताओ के पाँव थिरकने लगते हैं और वे अपनी पदचापो से अनंत बोलो की सृष्टि करते हैं। उस समय भावोद्रेक और उत्साह के वातावरण मे लय-ताल सबधी अनेक उत्कृष्ट कल्पनाएँ साकार होती हैं जिनका शास्त्रीय संगीत या नृत्य से कोई सबध नही रहता। कभी कभी ये कल्पनायें साजिन्दो तथा विशिष्ट कलाकार की प्रतिभा पर ही निर्भर नही रहती बल्कि समस्त नाट्यदल ही अपनी अद्वितीय कल्पनाओ मे थिरक उठता है। राजस्थान के गवरी नाट्य मे प्रत्येक प्रसग के बाद समस्त कलाकारो की एक अद्वितीय गम्मत होती है जिसे समस्त नाटक की टेक या स्थायी समझनी चाहिये। इस टेक मे सब कलाकार मादल व थाली की झकार पर अद्वितीय अगभगिमाओ की सृष्टि करते हैं। गवरी नाट्य की यह सामूहिक गम्मत समस्त नाटक की प्राण है तथा उसका विशेष स्वरूप निर्धारित करती है।

मध्यप्रदेश के माच तथा उत्तर प्रदेश की नौटंकियो मे यह टेक अद्वितीय पद-मचालन तथा ढोलक-नगाडा-वादन मे परिणत हो जाती है। टेक के समय नाट्य के मूलगीत या नृत्य कही धरे रह जाते हैं और कलाकार तथा वाद्यकार की सहज उपज ही सर्वोपरि रहती है। महाराष्ट्र के तमाशे मे यह टेक तमाशे की नर्तकी को अपने कलाप्रदर्शन की पूर्ण स्वतत्रता दे देती है और उसे अपने नृत्य-गीत-प्रदर्शन द्वारा पूर्व अभिनीत समस्त नाट्यप्रसग को सार रूप प्रस्तुत करने का अवसर मिल जाता है। मवाई तथा राजस्थान की रामधारियो मे यह टेक ढोलक की अद्वितीय चाल पर कलाकारों को समस्त प्रेक्ष स्थली मे घूमकर नृत्य दिखलाते हुए पुन मूल रगस्थल पर आने को वाध्य करती है। कथकली और यक्षगान मे यह टेक कलाकारों को धरती से गज-गज भर ऊपर उछलने और अपनी अगभगिमाओ तथा पदसचालन के अद्वितीय प्रदर्शन का मौका देती है। उत्तर प्रदेश के रास मे प्रत्येक प्रसग की समाप्ति पर यह टेक गोप-गोपिकाओं के बीच कृष्ण को अनेक सामूहिक रास-महारासो मे अपना चमत्कार दिखलाने का अवसर देती है। उस समय गोप-गोपिकाओ के बीच कृष्ण अनेक कृष्ण वन जाते हैं। वे कभी गोपियो की वग़ल मे नज़र आते हैं, कभी राधा के गले मे लिपट जाते हैं तथा कभी घुटनों के वल समस्त रगस्थली का चक्कर लगाते हैं।

गीतो की इस गेयपद्धति की दृष्टि से मध्यप्रदेश के माच और महाराष्ट्र के तमाशे सर्वोपरि हैं। माच और तमाशो मे नृत्य से भी अधिक गीतो की प्रधानता है। अभिनय करते समय नृत्यकार गीत की एक अद्वितीय धुन उठाता है और टीप पर जाकर आलाप बाँधता है। ये आलापें बहुधा तीन-चार स्वरो में संचरित होती हैं और अत में जाकर किसी एक स्वर पर टिक जाती हैं। मध्यप्रदेश के माचो मे ये धुनें रगतो का स्वरूप धारण करती हैं और 'दोकडी', 'इकहरी' और 'लगडी' मे इनका स्वरूप निखरता जाता है। इन टेको के उपरान्त माचो में साधारण और सरल धुनो मे सवादो की व्यवस्था होती है जिनकी रचना दोहापद्धति मे होती है। प्रत्येक सवाद के वाद फिर टेकें दोहराई जाती हैं। महाराष्ट्र के तमाशो मे, जव सुरतिये गा-गा कर दर्शको का अभिवादन करते हैं, उसके वाद ही नर्तकी सोलह शृगार मे अपने नाट्य-अभिनेताओ के साथ प्रवेश करती है। वहुधा शृंगार मे डूबी हुई लावणी की धुन मे नर्तकी अपना चमत्कार वतलाती है और फिर नाटक के पात्र पवाडा छद मे सवाद कहते है और अत में नर्तकी पुन उनकी टेक पकड़कर समस्त नाट्याभिव्यक्ति को चार चाँद लगा देती है।

दक्षिण भारत के यक्षगान तथा कुचपुडी नाट्यो मे भी प्राय: यही महाराष्ट्र की पद्धति अपनाई जाती है। उनमे एक विशेष बात यह है कि प्रत्येक अभिनेता गीतो मे पद गाता है और उनको अगभगिमाओ द्वारा अभिनीत करता है। गीत के प्रत्येक शब्द के अर्थ को वह अपने अगों से अभिव्यक्त करता है। अभिव्यक्ति की यह सूक्ष्म पद्धति भारत के किसी लोकनाट्य मे नही है। अर्थ निकालने की इस पद्धति मे इन अभिनेताओ का अग-प्रत्यग काम आता है और अगो की पूर्वनिश्चित मुद्राओ से वह अर्थ और भी अधिक सार्थक होजाता है। उत्तर भारत की अन्य सब नाट्यशैलियो मे अग-प्रत्यगो द्वारा अर्थ निकालने की इतनी सूक्ष्म प्रणाली का प्रतिपादन कभी नही होता। उनमे संवाद-गीतो की समाप्ति पर नृत्य-गीतो की लयदारी मे और उनकी पेचीदगियो मे अभिनेता इतने उलझ जाते है कि कभी-कभी उनका अभिनयपक्ष दुर्बल हो जाता है। दक्षिण भारत के प्राय सभी लोकनाट्यो मे नाट्याभिनय तथा सवादात्मक गीतो की प्रधानता रहती है तथा नृत्य गौण होते हैं। उत्तर भारत की लगभग सभी नाट्यशैलियो मे गीत और नाच नाट्य को दवा देते हैं और ऐसे अप्रासगिक प्रसगो को दर्शको के मनोरंजनार्थ वीच मे लाना पडता है कि समस्त नाट्य की आत्मा ही मरने लगती है।

हरियाना के स्वाँगो मे गीतो की सर्वाधिक प्रधानना रहती है। उनमे हरियानी गीतो की गगा वहती है तथा नृत्यो की न्यूनता रहती है। इन स्वाँगो मे अधिकाश प्रसग प्रेमाख्यानो पर आधारित रहते हैं। अत प्रेम-गीतो की रचनाएँ उनमे प्रमुख होती हैं। ये गीत वुलन्द आवाजो मे गाये जाते हैं और अत मे लम्वी-लम्वी आलापें उनके साथ जुड जाती हैं। अभिनेता एक दूसरे के सामने दल वनाकर खडे हो जाते हैं। सवादो मे समस्त दल ही गा उठता है। उसमे मूलपात्र का पता लगाना वहुत मुश्किल हो जाता हैं। ये धुनें इतनी मार्मिक होती हैं कि दर्शक रात-रात भर उनको सुनकर मर्माहत हो उठते हैं।

उत्तर प्रदेश की रामलीलाओ और कृष्णलीलाओ के गीतो मे एक विशेषता रहती है। वे लोकनाट्य तुलसीकृत रामायण और भागवत जैसे ग्रथो पर आधारित रहते हैं। अत इन नाट्यो के गीत अलग से नहीं रचे जाते हैं। इन ग्रथो के प्रति जनता की इतनी प्रगाढ श्रद्धा है कि कोई अन्य गीतकार इन नाट्यो के लिये अलग से सवाद गीत लिखने की धृष्टता नही करता है। ये गीत नाट्य-पद्धति के अनुकूल नही होते हुए भी इन्हे समाज ने श्रद्धापूर्वक स्वीकार किया है।

तुलसीकृत रामायण के दोहो तथा चौपाइयो की गायन-विधि नाट्योचित नहीं होने के कारण उनका अर्थ अभिनेताओ द्वारा गद्य मे उलथाने की परम्परा डाली गई है जिससे इस समस्त नाट्य-प्रणाली मे जान सी आ गई है। राम-लीलाओ मे कही भी सगीत और नृत्य की प्रधानता नहीं है। उनके रामायण-पाठो का रामायण पाठ ही सर्वोपरि है। रामजीवन सबधी कथानक समस्त हिन्दू-समाज के लिये श्रद्धा का विषय होने के कारण यह लोकनाट्य नाट्य-गुणो के अभाव के बावजूद भी अत्यन्त लोकप्रिय बन गया है। इसकी लोकप्रियता मे विशेष स्थलो का दृश्य-विधान, पात्रो की वेशभूषा तथा कथानक की विविधता ने चार चाँद लगा दिये हैं। मथुरा शैली की रगमचीय रामलीला, जिसका प्रादुर्भाव पारसी नाटक की प्रेरणा से हुआ है, तुलसीकृत रामायण की गेय-प्रणाली के साथ अपनी स्वतत्र गायन-विधि के कारण भी लोकप्रिय बन गई है। इसका मूलपाठ तुलसीकृत रामायण की चौपाई तथा दोहो के माध्यम से होता है परन्तु बीच-बीच में तुलसीकृत गीतावली के रागबद्ध गीतों की गायकी से इस प्रणाली मे प्राणो का संचार हुआ है। धौलपुर, भरतपुर मे पिछले पचास वर्षो मे रामलीला की एक विशिष्ट प्रणाली का विकास हुआ है, जिसमे तुलसीकृत रामायण की चौपाइयो को अक्षुण्ण रखते हुए बीच की कड़ियों को विशिष्ट गीतो से जोडा गया है। इन गीतों मे लोकगायकी का एक बहुत ही स्वस्थ स्वरूप परिलक्षित होता है। इस विशिष्ट रामलीला का एक सार्वजनिक सगठन आज भी इन क्षेत्रो मे विद्यमान है, जिसके पास पचास वर्ष पूर्व लिखित इस विशिष्ट रामलीला का स्क्रिप्ट (script) है। इस विशिष्ट प्रणाली पर निश्चित ही नौटकियो और राजस्थानी ख्यालो की गायकी का प्रभाव स्पष्ट है। इस रामलीला मे लावणी के प्रकार में कालिंगडा तथा भैरवी की धुनो की विशेषता है। नौटकियों के बहरेतवील के ढग के छदबद्ध गीत भी इस रामलीला मे प्रचुर मात्रा में प्रयुक्त होते हैं। हाथरस निवासी श्री नत्थाराम के चौबोलों के ढग के गीत भी इसमे प्रवेश कर गये हैं। राजस्थान के पूर्वी क्षेत्र की इस विशिष्ट रामलीला में निश्चित ही उत्तर प्रदेश की सभी रामलीलाओं की गायनपद्धति का समन्वय हुआ है। भरतपुर की स्थायी रामलीला समिति के भवन मे आज भी दशहरे के एक माह पूर्व इस विशिष्ट गायकी में रामलीला के भावी पात्र प्रशिक्षित किये जाते हैं और रामलीला के विविध दृश्यस्थल नगर के चारो ओर निर्मित होते हैं।

व्रज की रामलीलाएँ भी प्रसिद्ध भक्तकवियो की रचनाओ पर आधारित रहती है। इन लीलाओ का प्रचलन अधिकाश मदिरों तथा भक्तजनो के प्रांगण

मे होने के कारण उनका लगाव पडितप्रवरो, आचार्यों तथा शास्त्रज्ञो से बहुत रहा है। इसीलिये इन लीलाओ मे शास्त्रीय ध्रुपदो, शास्त्रीय नृत्यो तथा शास्त्रोक्त कथानको की त्रिवेणी बहती है। प्रसिद्ध भक्तकवि नन्ददास, ध्रुवदास तथा व्रजवासीदास की रचनाओ तथा गायकी का इन रासो पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। इन लीलाओं की ध्रुपद गायकी मुस्लिम घरानो की ध्रुपद गायकी से भिन्न है तथा उसके साथ जो रास बांधे गये है, उनकी नृत्यमुद्राएँ कत्यकनृत्य से प्रभावित होते हुए भी प्राचीन नटवरी शैली का भान कराती हैं। जहां रामलीलाओ में नृत्यों का नितान्त अभाव रहा है वहाँ रासलीलाएँ नृत्यगीतो से भरपूर होती हैं। रामलीलाओ के चरित्रनायक भगवान् राम के गम्भीर तथा नीतिज्ञ जीवन के साथ नृत्य मेल नही खाते परन्तु भगवान् नटवर कृष्ण की जीवनलीलाएँ नृत्य-प्रधान होने के कारण ये रास भी नृत्यमय हो गये हैं। रासलीलाओ की नृत्यप्रणाली मे जहां शास्त्रीय नृत्य की छाप है, वहां लोकशैली के डाडिया नृत्य का भी पर्याप्त प्रभाव है। इन लीलाओ के सवादो के साथ जो गीत जुडे हुए हैं उन पर शास्त्रीय संगीत का प्रचुर प्रभाव होने पर भी उनमे सवादो को परिपुष्ट करने की प्रबल शक्ति है।

रासलीला की एक पुष्ट परम्परा मणिपुर मे भी विद्यमान है, जिसके समस्त गीतनृत्य लोकशैली से अनुप्राणित हैं। इसमे मणिपुरी गीतो के साथ मणिपुरी नृत्य की अनुपम छटा निखर आई है। व्रज की रासलीला और मणिपुर की रासलीलाओ मे गीतनृत्य की दृष्टि से कोई साम्य नही है। व्रज की वर्तमान रासलीलाओ मे सूरदास तथा अन्य अष्टछाप के कवियो की कवित्तमय गायकी का पर्याप्त प्रभाव पडा है। परन्तु इन गीतो की बदिशो मे कही भी अभिनयात्मक पक्ष नही है। ये गीत सगीतमडली द्वारा अलग से गाये जाते हैं तथा अभिनेता उनके अर्थ उलथाता है। प्रत्येक प्रसग की समाप्ति पर समस्त रासमडली सामूहिक रूप से नाचती है। चरित्रनायक भगवान् श्रीकृष्ण की लीलाओं से सभी भक्तजन परिचित होते है अत इन लीलाओ के लिये अन्य लोकनाट्यो की तरह अलग से सवादात्मक गीतो की आवश्यकता नही होती है। जहां सवादो की आवश्यकता होती है वहाँ गद्य का प्रयोग भी प्रचुर मात्रा मे होने लगा है।

बगाल की जात्राओ मे भी सवादात्मक गीतो का नितान्त अभाव होने के कारण अधिकांश जात्राएँ आधुनिक नाटको की तरह गद्य-सवादो मे अभिनीत होती हैं। जात्राओ का वह पुरातन, धार्मिक तथा गेय स्वरूप प्राय लुप्त हो

हो गया है। अब ये जात्राएँ अलग से लिखी जाने लगी हैं, जिनमे गेयपक्ष की प्रधानता रहती है तथा उनका गीतनृत्य-पक्ष नाटय से बहुधा असबद्ध-सा रहता है। वह सवादों का भार वहन नही करता। वह केवल मनोरंजन के लिये ही प्रयुक्त होता है।

भारतवर्ष मे गीतनृत्यो की अनुपम बहार जितनी राजस्थान के ख्यालो मे परिलक्षित होती है उतनी किसी भी शैली मे नही। राजस्थान के ख्याल नाट्यतत्त्वो से जितने दुर्बल होते हैं उतने ही गेयतत्त्वो से परिपुष्ट हैं। यही कारण है कि राजस्थानी ख्यालों मे ख्यालियो का सर्वोपरि गुण गायन, वादन तथा नर्तन है। मध्यप्रदेश के माच भी लगभग-लगभग इसी श्रेणी मे आते हैं परन्तु उनके नाट्यतत्त्व इतने खटकनेवाले नही हैं जितने राजस्थानी ख्यालो के। मीरा मगल, ढोला-मरवण, मूमल-महेन्द्र तथा हीर-रॉझा के ख्याल तो जैसे गाने के लिये ही रचे गये हैं। लच्छीरामकृत चदमिलयागिरी तथा रिढमल नामक ख्यालो मे गेयधुनो की अद्वितीय छटा है। इन धुनो में चिडावा के नौटंकी-प्रभावित नानू दूलिया के ख्यालो की तरह छदप्रधान रगतो, चौबोलो, दुबोलो, लगडी, इकहरी, दुहरी लयो की ओर विशेष आग्रह नहीं है। मेवाड प्रदेश की रासधारियो मे भी, जिनमे भक्त हरिश्चंद्र, ध्रुव चरित्र, रुक्मणी-मगल आदि ख्याल प्रमुख हैं, इन छदो की कही प्रधानता नहीं है। अभिनेता स्वतत्र रूप से पूर्वनिश्चित तथा परम्परागत धुनो मे गाता है और साज उसकी सगत करते हैं। ये धुनें परम्परागत धुनें हैं जिनकी मर्यादा मे इस शैलीविशेष के सभी नाट्य खेले जाते हैं। प्रत्येक शैली की धुनें प्राय निश्चित सी होती हैं। केवल विषय और कथानक बदलते है। ये धुनें यद्यपि सवादवहन की दृष्टि से विशेष उपयुक्त नही होती फिर भी ये मर्मस्पर्शी होती हैं और गायको को अपनी कल्पना के विस्तार मे पूरी छूट देती हैं। इन धुनो का तालपक्ष मध्यप्रदेश के माचो, चिड़ावा के ख्यालो तथा उत्तर प्रदेश की नौटकियो से कहीं सरल और सुगम होता है। इन ख्यालो का नृत्यपक्ष भी उक्त लोकनाट्यो से अपेक्षाकृत सरल और दुर्बल होता है। राजस्थान के तुर्राकलगी के खेलो मे तो नृत्यपक्ष प्राय है ही नहीं। उनका गेयपक्ष भी बहुत ही दुर्बल है। सारा खेल प्राय एक या दो धुनो मे बँधा रहता है जिन्हे बार-बार सुनकर दर्शक ऊब से जाते हैं। यदि तुर्राकलगी का साहित्यिक तथा दर्शनीय पक्ष प्रबल न हो और नाट्य के सामुदायिक गुण चरमसीमा तक न पहुँचे हो तो यह प्रकार नाट्य की दृष्टि से कमज़ोर सिद्ध होगा।

लोकनाट्यों में प्रचलित जीवन-व्यवहार तथा जीवनादर्शों का प्रतीकीकरण

लोकनाट्य प्रचलित जीवन-व्यवहार तथा जीवनादर्शों के प्रतीक होते हैं। सामाजिक चिन्तन, आचारविचार, रीतिनीति, निष्ठा तथा पारम्परिक विश्वास लोकनाट्यो मे अत्यत छद्म रूप मे प्रकट होते हैं। नाट्य के कथानक, उनकी घटनाएँ, प्रसंग, पात्र आदि कितने ही प्राचीन क्यो न हो, जीवन-व्यवहार की दृष्टि से वे सोलह आना आधुनिक हैं क्योकि वे किसी शास्त्र, विशिष्ट परम्परा तथा परिपाटी का अनुशीलन नही करते। अतः परम्परा-प्रतिपादन की उनसे आशा भी नहीं रखी जा सकती। उसके सवादगीत पुरातन होते हुए भी नवीन इसलिये हैं कि उनका प्रवाह गगा की तरह पावन तथा निर्मल है। गगा सहस्रों वर्षो से इस पावन धरती पर वह रही है परन्तु प्रतिपल उसमें नवीन जल का सचार हो रहा है। इसी तरह जो गीत-सवाद परम्परा से प्रचलित हैं उनमें प्रतिपल परिवर्तन हो रहा है और चिरनवीन सामाजिक प्रतिभा का चमत्कार उन्हे चमत्कृत कर रहा है। पारम्परिक आदर्श, कथानक, विचारधारा तथा जीवन-व्यवहार का निभाव उनमे बिलकुल आवश्यक नही है। मौलिक आदर्श और मूलभूत व्यवहार की विशेषताओं का निभाव तो होता है परन्तु उनको आधुनिक जीवन मे ढालने की प्रवृत्ति इन नाट्यो मे बराबर बनी रहती है।

उदाहरणार्थ परम पावन भगवती सीता अपने पतिव्रत धर्म को निभाने के लिये भगवान् राम के साथ वनगमन करती है। उनके साथ कष्ट सहती है। अपने पति के साथ भारतीय आदर्शानुकूल बराबरी का दर्जा पाती है। उसके हरण पर भगवान् राम विरहव्यथा से व्यथित हो जाते हैं। राम अपनी पत्नी के आग्रह पर स्वर्णमृग का चर्म लेने के लिये शिकार को जाते हैं परन्तु लोकनाट्यो मे वही सीता प्रचलित लोकाचार की दृष्टि से राम के चरण दबाती है, कुटिया मे राम, लक्ष्मण के लिये भोजन बनाती है, जगल से कडे और लकडी बीन कर लाती है, कपड़े धोती है, बर्तन माँजती है और प्रतिपल पति से दबकर रहती है। राजस्थानी रासधारियो मे सीता राम का घूँघट भी निकालती है, रावण द्वारा हरी जाकर जब वह अशोकवाटिका मे निवास करती है तो पति की विरहवेदना से कही अधिक उसको यह डर है कि उसका पता लग जाने पर राम उसको अवश्य ही पीटेंगे। राजस्थान के इस विशिष्ट लोकनाट्य मे रावण के प्रति राम का रुख भी वैसा ही दर्शाया गया है जैसा कि किसी आज के ग्रामीण व्यक्ति का अपनी स्त्री के चुराये जाने पर होता है। अपनी पत्नी

के हरण पर राम यही भावना व्यक्त करते हैं कि जिस तरह रावण ने मेरी स्त्री का हरण किया है, उसी तरह मैं भी रावण की स्त्री का हरण करूँगा।

धार्मिक भावनाओ और संस्कारो पर आधारित रामलीलाओ को छोडकर लगभग सभी रामाधारित लोकनाट्यो मे कथाप्रसग का काफी निभाव होते हुये भी चरित्रचित्रण में लोकाचार की दृष्टि से काफी परिवर्तन दिखाया गया है। रामयुग के सभी पात्र इन लोकनाट्यो मे पोशाके भी वही पहिनते हैं जो आजकल गाँवो मे पहनी जाती हैं। यदि वह राजस्थानी लोकनाट्य है और राजस्थानी मडलियो द्वारा अभिनीत होता है तो सीता उसमे साड़ी, लँहगा पहिनेगी और घूंघट निकालेगी। राम, लक्ष्मण, रावण आदि पात्र राजस्थानी पगड़ियो, राजसी झग्गो, कमरबंदो, ढाल तलवारो, भालो और बरछियो का प्रयोग करेंगे। रावण जब सीता को हरने के लिये आयेगा तो उसकी वेशभूषा आधुनिक फकीर की सी होगी और प्रकट हो जाने पर वह आधुनिक प्रेमी की तरह व्यवहार करेगा। दशरथ महाराज की मृत्यु पर भरत सैंकड़ो मन मालपुओं का मौसर (मृत्यु-भोज) करेंगे।

भीलो के गवरी नाट्य मे भी माता गौरी शिवजी के घर मे साधारण गृहिणी की तरह गोबर के कडे बनाती हैं। शिव के अवतार बूढिया जब अपनी बहिन खेतूड़ी के घर जाते हैं तो वह मकई की रोटी तथा लहसुन प्याज की चटनी खाते हैं। वृन्दावन की धार्मिक लीलाओ को छोडकर सभी कृष्णाधारित लोकनाट्यो मे कृष्ण गोपियो से उसी तरह छेडछाड करते हैं जैसे आज के मनचले नौजवान रास्ते चलती हुई छोकरियो को छेडते हैं। इस तरह लोकनाट्यो के चरित्र, चाहे कितने ही पौराणिक और ऐतिहासिक क्यो न हो, क्षेत्रीय विशेषताएँ लिये हुए होते हैं। जैसे राजस्थानी लोकनाट्यो का राम राजस्थानी वेशविन्यास मे होता है और राजस्थानी भाषा बोलता है। पजाबी राम पजाबी लिबाज़ मे पजाबी वीरो का सा व्यवहार करता है। यही नहीं वह अपनी स्थानीय समस्याओ को अपने व्यवहार तथा अभिनय मे प्रयुक्त करता है। यदि किसी क्षेत्र में किन्हीं विशेष त्यौहारों, पर्वों, समारोहो तथा धार्मिक विश्वासों का प्रचलन है तो वहाँ के नाटको मे वे सभी त्यौहार, पर्व तथा विश्वास महत्व प्राप्त कर लेते हैं। यदि किसी क्षेत्र मे किसी विशिष्ट विचारधारा का प्रचलन है तो वही विचारधारा उस क्षेत्र के लोकनाट्यो की विचारधारा बन जाती है। यदि किसी क्षेत्र मे भैरव का महत्त्व है तो वहाँ की रामलीलाओ मे स्वय राम भी भैरव की पूजा करने लगते हैं। यदि किसी क्षेत्र

मे हरिजनो और शूद्रो के प्रति छुआछूत का प्रचलन है तो वहाँ के नाटकों के सभी चरित्र उसी प्रकार का व्यवहार पाते है। वहाँ के रामाश्रित नाटकों मे भगवान् राम शबरी भीलन के जूठे बेर नही खाते, निषाद की नौका में बैठ-कर गगा पार नही करते। पाँच पति वाली द्रौपदी, जो महाभारतकालीन सामाजिक आदर्शों के अनुसार पूजनीय नारी समझी जाती है, लोकनाट्यों मे कुत्सित नारी की तरह चित्रित होती है।

लोकनाट्यो मे पौराणिक तथा ऐतिहासिक पात्रो के महान् आध्यात्मिक आदर्श अधिक चमत्कृत नही होते। उनके जीवन के वे व्यवहार, जो प्रचलित जनसमुदाय की परम्पराओ और भावनाओं को अधिक स्पर्श करते हैं, प्रधानता पाते हैं। राजस्थानी ख्यालो के राजा केसरीसिंह और अमरसिंह के वीरता के चमत्कार समाज को जितने स्पर्श नहीं करते उतने उनके प्रेमाचार स्पर्श करते हैं। पारम्परिक धार्मिक रामलीलाओ को छोड़कर सभी रामाधारित लोकनाट्यो मे राम की पितृभक्ति, लक्ष्मण का भ्रातृप्रेम, सीता का पातिव्रत्य धर्म तथा उनके उच्च मानवीय आदर्शो का जितना चित्रण हुआ है, उनसे कही अधिक चित्रण उनकी दैनिक जीवनचर्याओ का हुआ है। जैसे राम क्या खाते हैं? क्या पहिनते है? सीता अयोध्या मे सास-ससुर के प्रति कैसा व्यवहार करती है? अशोकवाटिका मे किस तरह अपना खाना बनाती है? सीता स्वयम्वर मे राम अन्य राजाओ के साथ कैसे प्रतिस्पर्धा मे उलझते है? सीता के विरह मे किस तरह छटपटाते हैं तथा वनगमन की आज्ञा पाकर किस तरह दु खी होते हैं? लोकनाट्यो का राम जब लका विजय के उपरान्त घर लौटता है तो सर्वप्रथम वह अपना राज्य सँभालता है कि कहीं भरत ने कुछ चतुराई तो नही की।

इस तरह ऐतिहासिक पात्रो की बडी-बडी वीरगाथाये तथा त्याग, बलि-दान के कारनामे लोकनाट्यो मे विशेष महत्त्व नही रखते। उन ऐतिहासिक पात्रो के वे जीवन-व्यवहार, जो गार्हस्थ्य जीवन से सबधित हो या जो प्रचलित दैनिक जीवन-व्यवहार के अनुकूल हो, लोकनाट्यों के आकर्षण बनते हैं। ऐसे ऐतिहासिक पुरुष अपने उच्च जीवनादर्शों से महान् नहीं बनते। यदि उनमे से किसी ने बिच्छू या साँप के काटे हुये को जीवित कर दिया तो वही लोकनाट्यो मे देवता की पदवी पाता है। देश को गुलामी की जजीरो से मुक्त करने वाला महापुरुष लोकनाट्यो मे जितनी प्रसिद्धि प्राप्त नही करता उतनी गाँव की गायो को कसाइयो से बचाने वाला प्रसिद्धि प्राप्त कर लेता है। देश, समाज तथा समस्त जाति को सासारिक और सामाजिक बधनो से मुक्त

करने वाला सत लोकनाट्यो मे जितना महत्त्व नही पाता, उतना गाँव के बच्चो को जादू-टोनो से स्वस्थ करने वाला साधु पा लेता है। देश की महान् आत्माओ के चरित्र यदि लोकनाट्यो मे विषय वनते भी हैं तो उनके उच्च चारित्रिक गुण उनके आकर्षण नही वनते। उनके व्यावहारिक जीवन के चमत्कारपक्ष ही लोकनाट्यो मे स्थान पाते हैं। मीरा-जीवन सबधी 'मीरामगल' नामक राजस्थानी ख्याल मे मीरा की भक्ति, उनके आध्यात्म तथा उनके त्याग को कही महत्त्व नही दिया गया है। उसमे केवल मीरा के शृगार, विवाह तथा उसके लोकाचारो पर ही विशेष वल दिया गया है। 'मीरामगल' की मीरा अत मे मेवाड के महाराणा के साथ अपना विवाह स्वीकार भी कर लेती है। उनके साथ गार्हस्थ्य जीवन भी व्यतीत करती है। उनकी कृष्णभक्ति अपने पति की मृत्यु के उपरान्त वैधव्य की पीड़ाओ को कम करने के निमित्त ही उपजी है।

लोकनाटचो के नाटचतत्त्व

ईसा पूर्व ३०० वर्ष के भरतमुनि प्रणीत नाटचशास्त्र से यह ज्ञात होता है कि नाटच की परम्परा इस देश मे सहस्रो वर्ष पूर्व थी। यह नाटचशास्त्र लगभग आठ अन्य शास्त्रो की रचना के उपरान्त लिखा गया अत्यत परिपक्व शास्त्र है। किसी भी साहित्य तथा कलाप्रसग का शास्त्र तभी लिखा जाता है, जब उसका विकास चरमसीमा तक पहुँच चुका हो तथा अनेक प्रचलित वाद-विवादो के कारण उसे दिशा-निर्देश की आवश्यकता हो। आचार्यगण ऐसी ही अवस्था मे शास्त्र की कल्पना करते हैं और नाटचो को अनेक नियमो मे बाँधकर उनका सीमा-निर्धारण तथा प्रचलित विवादो का शास्त्र द्वारा निराकरण करते हैं। भरतमुनि द्वारा प्रणीत नाटचशास्त्र के उपरान्त अनेक नाटचशास्त्र दशवी शताब्दी तक हमारे देश मे लिखे गये, जिनमे धनजय द्वारा लिखित दशरूपक सर्वोपरि है। उन्होंने नाटचशास्त्र को अनेक अग-प्रत्यगो मे विभाजित करके उसकी एक पूरी व्याकरण ही वना डाली। इन शास्त्रो के आधार पर लिखे और खेले गये नाटक लगभग ११ वी शताब्दी तक हमारे देश मे प्रचलित थे जिनमे कालिदास का मालविकाग्निमित्र, अभिज्ञान शाकुन्तल, विक्रमोर्वशीय, हर्ष लिखित रत्नावली, शूद्रक का मृच्छकटिक, भवभूति का महावीरचरित, उत्तररामचरित और मालतीमाधव, भट्टनारायण का वेणीसहार और विशाख-दत्त का मुद्राराक्षस प्रसिद्ध हैं। यह क्रम सातवी शताब्दी तक लिखे हुए उन नाटको का है, जो कला और साहित्य की समस्त सामग्री से सम्पन्न है तथा जिनमे नाटच के समस्त शास्त्रोक्त तत्त्वो का पूर्णरूप से अनुशीलन हुआ है। नवी

शताब्दी मे भी राजशेखर द्वारा लिखित कर्पूरमजरी तथा बाल रामायण नामक नाटको की रचना हुई। ११ वी शताब्दी मे कृष्णमित्र ने प्रबोध चन्द्रोदय जैसे नाटको की रचना की। यह समय शास्त्रीय नाटको के पतन का समय माना गया है और अनेक साहित्यिक मीमासको ने यह लिखा है कि ११ वी शताब्दी के बाद लिखे गये नाटक हीन और हेय नाटक हैं। यदि इन सभी शास्त्रकारो की बात हम सत्य मान ले तो ग्यारहवी शताब्दी के बाद लगभग ३०० वर्ष तक भारत मे नाटक का विकास अवरुद्ध हो गया। शास्त्रकारो ने इस ह्रास का कारण राजनीतिक और सामाजिक उथलपुथल बतलाया है। परन्तु सच बात यह है कि शास्त्रकारो ने न केवल नाटको को बल्कि साहित्य के लगभग सभी अगो को शास्त्र से ऐसा जकड लिया था कि लेखको तथा रचनाकारो की स्वतत्र अभिव्यक्ति और रचनाविधि को सर्वाधिक ठेस पहुँची। लोकनाट्यो की अति प्रचलित तथा अत्यत लोकप्रिय शैली को भी शास्त्रो मे बाँधने की कोशिश हुई परन्तु वह कभी भी उनकी पकड मे नहीं आई।

भारतीय नाट्य-परम्परा के साथ ही यूनान मे भी नाट्य की एक बहुत ही स्वस्थ परम्परा प्रचलित थी। परन्तु यूनानी नाटक के इतिहास के अनुसार वह कभी भी किसी शास्त्र मे नही बँधी। नाट्य की कुछ स्वस्थ परम्पराएँ अवश्य विकसित हुईं जिनको आधार मानकर यूनानी नाटक सैकडो वर्षों तक कायम रहा और विकास की चरमसीमा तक पहुँचा। उसके बाद रोम, इग्लैंड तथा यूरोप के अन्य देशो मे भी नाटक की अनेक स्वस्थ परम्पराएँ विकसित हुईं। पद्रहवी शताब्दी मे महारानी एलिजाबेथ का समय इग्लिश नाटको का उत्कर्षकाल समझा जाता है जिनमे शेक्सपीयर जैसे नाटककार सर्वोपरि माने गये हैं। उनके सभी नाट्यो मे नाटककार ने अपनी स्वतत्र नाट्यप्रतिभा का परिचय दिया। कही भी और किसी भी देश मे शास्त्रकारो ने उन्हे शास्त्रीय नियमो मे नही बाँधा। भारत मे भी सैकडो वर्षो से जो नाट्य की स्वस्थ परम्परा बन रही थी उसी को कायम रहने दिया जाता तो भारतीय नाट्य का दसवी शताब्दी तक ह्रास नही होता। भारतीय नाट्य की वही दशा हुई जैसी कि भारतीय भाषाओ की हुई। प्रचलित लोकभाषाओ को शास्त्रकारो और आचार्यों ने व्याकरण आदि शास्त्रो से ऐसा जकडा कि लोकभाषा और पडितो की भाषा अलग-अलग होती गई।

भरतमुनि के नाट्यशास्त्र मे अनेक प्राचीन सूत्र हैं जिनके भाष्य आदि भी है। इनसे स्पष्ट है कि उससे पूर्व भी अनेक प्राचीन सूत्रो पर भाष्य, कारिकाएँ

आदि लिखी जा चुकी थी। इसका यह अर्थ है कि नाट्य को ईसा पूर्व कितने ही शास्त्रकारो ने शास्त्रोक्त नियमो से बाँधना प्रारम्भ कर दिया था और नाट्य की व्युत्पत्ति के बाद उसे कितने ही उतारचढाव देखने पडे। कठपुतली के सूत्रधार आदि की कल्पना को मानवीय नाट्य मे प्रयुक्त करने की जो परम्परा है उस पर तथा नाट्य के विकासक्रम पर पूर्व परिच्छेदो मे पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। नाट्य का सूत्रपात तो वैदिककाल ही मे हो गया था क्योकि अनेक नाटकीय सवाद वेदो मे मिलते है। महाभारत आदि ग्रन्थो मे भी नाट्य के अनेक रूप विद्यमान हैं। उसके बाद के हरिवशपुराण मे कौवेररभाभिसार नाट्य का उल्लेख है। उसमे अतिशय उन्नत नाटक के तत्त्व मिलते हैं तथा उसके अभिनय मे उच्चकोटि की रगशाला का प्रयोग हुआ है जिसमे आकाशमार्ग मे जाते हुये रथ तथा कैलाश आदि पर्वतो के दृश्य अत्यत सफलतापूर्वक दिखलाये गये हैं। जैन ग्रन्थो मे भी अनेक नाटको का उल्लेख है। महावीर स्वामी के २०० वर्ष बाद हमारे देश मे नट-नटियो के नाटको की भरमार थी। ये नाटक इतने प्रचलित हो चुके थे तथा नट-नटी की इतनी कलाबाजियाँ इनमे दिखलाई गई थी कि साधु-सतो को उन्हें देखने का निषेध किया गया था। नाट्यो के ये सभी प्रकार लोकनाट्यो के ही उन्नत रूप थे। परन्तु हमारे शास्त्रकारो ने केवल उन्ही नाटको को नाटक समझा जो राजप्रासादो तथा विशिष्टजनो के यहाँ आश्रय पाते थे। वे लोकनाट्य जो सडको, खेत-खलिहानो, मैदानो, चौराहो तथा गाँव-गाँव, नगर-नगर, डगर-डगर पर होते थे उनको ऐसा जान पडता है इन शास्त्रकारो ने कही मान्यता नहीं दी। उन्होंने अपने सूत्रो मे जो नाटक के अग-प्रत्यंग, उपान्ग आदि बताये हैं वे सभी इन प्रचलित लोकनाट्यो की कल्पना से ही ग्रहण किये गये हैं।

उन्होंने जो नाट्य के तत्त्व बतलाये हैं वे इतने एकागी हैं कि लोकनाट्य उनकी परिधि मे आते ही नही है। इन शास्त्रोक्त तत्त्वो को देखते हुए ये लोकनाट्य उनके केवल कटे हुए अग मात्र से प्रतीत होते हैं। इन्ही अग-प्रत्यगो को लोकनाट्यकारो ने जनरुचि के आधार पर परिष्कृत एव विकसित किया है। लोकनाट्यो मे नाट्य के सभी अगो का विशेषीकरण बिल्कुल आवश्यक नही है। कथानक के आधार पर जिस अग के विकास की आवश्यकता होती है उसी का विस्तार किया जाता है। सभी अगो के निरूपण मे लोकनाट्यकार अपनी शक्ति नही लगाता तथा अपनी स्वतत्र कल्पना को नियमो में बाँधकर अवरुद्ध नही करता।

प्राचीन शास्त्रो मे नाटक के विविध प्रकारो का जहाँ वर्णन किया गया है वहाँ उन्ही नाटको को विशुद्ध तथा सपूर्ण नाटक माना है जिनकी कथा इतिहासप्रसिद्ध हो तथा जिनके नायक, उपनायक तथा अन्य पात्र उच्चकुल, उच्चजाति तथा उच्चघराने के हो। जिस नाटच की कथा निम्नवर्ग से सबधित हो, उसे शास्त्रकारो ने उपरूपक माना है और उसके अतर्गत उन्हे प्रेखरण, सनायक, शिल्पक, हल्लीश, भारिणका आदि से सबधित किया है। नाटचाचार्यो ने उपरूपक के भी अनेक अग-प्रत्यग दर्शाये है तथा नायक-नायिकाओ के भी अनेक भेद उपभेद बतलाये हैं। नायिकाओ की विशेष प्रकार की वृत्तियाँ बतलाई हैं, जिनमे कैशिकी जिसके चार भेद नर्म, शृगार नर्म, आत्मोपक्षेय नर्म, भारती, सात्वत और आरमटी आदि प्रमुख हैं। कथाप्रसगो के सबध मे भी नाटचाचार्यो ने बाल की खाल खीची है। वस्तु के भी अधिकाधिक प्रासगिक शीर्षभेद बतलाकर, भेद-उपभेद किये हैं। इन्ही कथावस्तुओ के प्रधान फल की प्राप्ति की ओर अग्रसर होनेवाले अशो को अर्थप्रकृति बतलाया है तथा इन्ही अर्थप्रकृतियों को बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी, कार्य आदि उपागो मे बाँटकर नाटचलेखको के सामने विचित्र प्रकार का गोरखधधा प्रस्तुत किया हैं।

नाटच शास्त्र के इन सभी तत्त्वो के अध्ययन से यही ज्ञात होता है कि नाटचाचार्यों ने केवल शास्त्र लिखने के लिये ही शास्त्र लिखे हैं। इन शास्त्रो का अनुशीलन करके किसी भी आधुनिक नाटचकार ने नाटक नही लिखा है। यदि इन्ही नाटचतत्त्वो को अतिम मान लिया जाय तो एक भी नाटक नहीं लिखा जा सकेगा। हर्ष, भास, भवभूति आदि नाटचकारो ने जो सफलता प्राप्त की है वह शास्त्र के अनुशीलन के कारण नही, वह उनकी प्रतिभा के कारण ही है। शास्त्रो मे वर्णित बातें नाटचरचनाओ को और भी अधिक कुठित बना देती हैं तथा उन्हे गोरखधधे मे उलझा देती हैं। यही कारण है कि चार-पाँच हज़ार वर्ष की इस स्वस्थ नाटचपरम्परा के बावजूद भी कुछ ही इनेगिने शास्त्रोक्त नाटको की रचना हुई है। यदि शास्त्रो की जटिलता से उन्हे नही जकडा जाता तो आज हमारे इतने बड़े देश मे हज़ारो शास्त्रीय नाटक आँखो के सामने होते, परन्तु वे लोकनाटच, जिन्होंने शास्त्रो की परम्परा को नही माना, आज भी हमारे देश मे कई रूपो मे विद्यमान है।

ये असख्य लोकनाटच लोकजीवन मे ऐसे व्याप्त हुए हैं कि इन शास्त्रीय नाटको की ओर बहुत ही कम लोगो का ध्यान आकर्षित हुआ है। ऐसे नाटचो के लिये नाटचशास्त्रो मे वर्णित प्रेक्षालयो की आवश्यकता नही होती। न उनमे

कथानक, कथोपकथन, पात्र, नायक, नायिका तथा उनके भेद, उपभेद तथा पात्रो मे रसनिरूपण के लिये शास्त्रोक्त नियमो का अनुशीलन ही आवश्यक है। इन लोकनाट्यो की सबसे बडी बात यही है कि उनमे भाषा, प्रान्त, जाति, परिवार, शिक्षित, मूर्ख, अशिक्षित, पडित का भेद कतई त्याग दिया गया है। प्रसग, कथानक, नायक, कथोपकथन, पात्र, चरित्र आदि के चुनाव मे उन्होने सबसे अधिक ध्यान जनरुचि का रखा है, जाति तथा वर्ग-भेद का नही। ऐसे नाटचो के कथानकों के लिये शास्त्र तथा इतिहास की कही शरण नही लेनी पडती। लोक-जीवन मे जो सर्वाधिक कथा प्रचलित होती है उसीको नाटचप्रणेता अपना विषय बना डालते हैं। ये प्रसग अत्यत सक्षिप्त, पात्र अत्यत न्यून तथा कथोपकथन अत्यत सरल और सर्वगम्य होते हैं, इसलिये कुछ लोग भाण, प्रहसन, श्रीगदित, विलासिका आदि शास्त्रोक्त नाटको के उपभेदो के साथ उनका तालमेल बिठाने की कोशिश करते हैं तथा उन्हे लोकनाट्यो के अनुरूप ही मानकर उन्हे शास्त्र के दायरे में घसीटते हैं। तथ्य यह है कि ये नाट्य स्वतत्र रूप से ही अनादिकाल से समाज मे व्याप्त हैं। समय, स्थिति तथा सामाजिक आवश्यकताओ के अनुसार इनकी रचना होती रहती है। इनकी लोकरजकता, इनका विस्तृत प्रचारक्षेत्र तथा निम्न समाज मे इनका प्रचलन देखकर ही हमारे नाट्याचार्यो ने उच्चवर्गीय समाज के लिये नाट्यशास्त्र बनाये तथा नाट्य की दिशा बदलने की कोशिश की। परन्तु उनसे लोकनाट्य की यह स्वस्थ परम्परा कभी भी विचलित नही हुई और वह आगे से आगे कदम बढाती ही रही।

अब प्रश्न यह है कि इन लोकनाट्यों के नाट्याग पूरी तरह विकसित नहीं होते हुए क्या वे नाट्य की श्रेणी में आते हैं? अनेक लोकनाट्य ऐसे हैं जिनमें कथावस्तु का कोई महत्त्व नही है, कुछ मे कई कथावस्तुएँ मिलकर नाट्य को परिपुष्ट करती हैं। कही-कही नाट्य का क्रमिक विकास भी नही होता और बीच ही मे समस्त प्रसग टूट जाता है। कही-कही प्रासगिक वस्तु मुख्य वस्तु को गिराकर प्रधानता प्राप्त करती है। कुछ मे नाटच का नायक गुणहीन, नीच तथा दुश्चरित्र है; उनकी नायिकाओ मे भी शास्त्रोक्त नायिकाभेद की दृष्टि से अनेक विरोधी तत्त्वो का समावेश होता है। अनेक लोकनाट्यो मे विरोधी रसो का प्रयोग हुआ है जो रसाभास की अपेक्षा उनमें शक्ति का सचार करते हैं। नाट्यव्यवहार की दृष्टि से भी ये लोकनाट्य रगमच की सभी परम्पराओ को छोडकर व्यवहृत होते हैं। उनमे आगिक, वाचिक, आहार्य तथा सात्विक इन चारो प्रकार के अभिनयो की पूर्ण अवहेलना पाई जाती है।

इन सब शास्त्रोक्त नाट्यतत्त्वो का पूर्ण अभाव इन लोकनाट्यो में रहते हुए भी वे प्रभावोत्पादकता, लोकानुरजन तथा रसानुभूति की दृष्टि से अत्यत सफल नाटक हैं। एक विचित्र वात इनमे यह है कि ये पात्रों को उपयुक्त पोशाको की अपेक्षा विपरीत पोशाकें पहिनाकर भी दर्शको को मौलिक पात्रो का अनुभव करा देते हैं। वाचिक अभिनय मे भी गीत-नृत्यसवादो को अनावश्यक ढग से लम्बा वढाकर भी ये पात्र अपना अभिप्राय पूर्ण रूप से प्रकट कर देते हैं। आगिक अभिनय मे भी ये पात्र शास्त्रोक्त नियमो का पालन नहीं करते। जहाँ अनुकरण के लिये विशिष्ट अगमुद्राओ की आवश्यकता होती है वहाँ विपरीत मुद्राओ का प्रयोग करके भी वाछित प्रभाव उत्पन्न करते हैं। सात्विकी अभिनय मे तो पद-पद पर अनियमितता वरती जाती है क्योंकि जहाँ रोना होता है वहाँ पात्र गाकर रोता है और जहाँ हँसना होता है वहाँ वह रो कर हँसता है। भयकर क्रोध, घृणा तथा रौद्र के भाव भी वे गा-वजाकर प्रकट करते हैं।

इन लोकनाट्यो के वस्तुविन्यास मे भी अनेक असाधारण वातें रहती है। कभी-कभी समस्त नाटक जुलूस ही के रूप मे पूरा हो जाता है। कथाप्रसग उसमे नही के वरावर होता है। उसके सवाद भी प्राय मूक ही होते हैं। कथावस्तु को मोटे-मोटे तौर पर सगीतवाचन के रूप मे व्यक्त कर दिया जाता है। ऐसे नाट्यो की कथावस्तु प्राय लोकविदित होती है। अत नाट्यकार उसकी पेचीदगियो मे फँसकर व्यर्थ जनता का समय नष्ट नही करता। वह इन लोकविदित कथावस्तुओ की पृष्ठभूमि पर नाट्य के मोटे-मोटे तत्त्वो को प्रकट करके समस्त नाट्य का वाछित प्रभाव उत्पन्न करने मे सफल होता है। अनेक लोकनाट्य ऐसे हैं, जिनके पात्र नाट्य की कथावस्तु द्वारा दर्शको को मत्रमुग्ध करते रहते हैं। ऐसे नाट्यो के पात्र नाट्यप्रसग मे अवतरित होते हैं, रगमच पर आते हैं, अपना करतव दिखलाते है और अपना चारित्रिक तथा प्रासगिक उत्कर्ष वतलाये विना ही कहीं विलीन हो जाते हैं, फिर कभी प्रकट नही होते।

यहाँ प्रश्न यह उठता है कि अव्यवस्थित तथा नाट्यतत्त्वों से हीन नाट्यो को नाट्य कैसे मान लिया जाय ? शास्त्रीय नाट्यतत्त्वो की दृष्टि से भी वे नाट्य की परिभाषा मे नही आते। फिर भी जनता को उसमे सम्पूर्ण नाटक का आनन्द मिल जाता है तथा उनसे कथावस्तु, कथोपकथन, पात्रो के चरित्र, उनके उत्कर्ष तथा अभिनयजनित रसो की पूर्ण रसानुभूति हो जाती है।

लोकनाट्यो की कथावस्तु

लोकनाट्य ऐसे ही प्रसगो पर अवलम्बित रहते हैं जिनसे जनता पहले से ही परिचित रहती है। किसी व्यक्तिविशेष के मन मे उपजे हुये काल्पनिक प्रसग का उपयोग लोकनाट्यो मे सर्वथा वर्जित है। ये प्रसग किसी भी पौराणिक, ऐतिहासिक तथा किवदतियो पर आधारित शृ गारिक आधारशिला पर रचे जाते हैं जो दर्शको के जीवन मे सस्कारवत् जुडी रहती हैं और जिनके पात्र सर्वदा ही किसी न किसी रूप मे उनके प्रेरणा-स्रोत होते हैं। उनमे ऐसे अमर प्रेमियो के कथानक भी सम्मिलित हैं जो युवक-हृदय को आह्लादित करते रहते हैं और कभी-कभी उनमे अवाछित प्रभाव भी उत्पन्न करते हैं, जैसे राजस्थान के लैला-मजनू, शीरी-फरहाद, हीर-राँझा, सोहनी-महिवाल, ढोला-मरवण, मूमल-महेन्द्र आदि-आदि। धार्मिक प्रसगो मे उच्च शास्त्रीय प्रसग लोकनाट्यो की कथावस्तु नही बनते। उनमे भी ऐसे ही प्रसग स्थान पाते हैं, जिनके साथ साधारण जन अपने पारिवारिक सुख-दु खो की उपलब्धि मे आधारशिला के रूप मे जुडे होते हैं, जैसे राजस्थान के तेजाजी, गोगाजी, पाबूजी, भैरूजी, रामदेवजी आदि।

उच्चकोटि के भारीभरकम कथाप्रसग तथा दर्शनशास्त्र, वेदपुराण, महाभारत, रामायण, भागवत आदि की उच्चादर्श निरूपित करने वाली कथावस्तु से ये नाट्य सदा ही दूर रहते हैं। नाट्य जैसी हलकी-फुलकी, लोकानुरजनकारी सुखद परपरा को गभीर तत्त्वो से बोझिल बनाना उचित नही समझा जाता। महाभारत तथा रामायण जैसे लोकप्रिय ग्रथो के भी ऐसे ही प्रसग इन लोकनाट्यो मे प्रयुक्त होते हैं जिनमें लोकरुचि तथा लोकादर्श निहित रहते हैं तथा जिनके साथ लोकजीवन की दैनिक तथा लौकिक क्रियाएँ जुडी रहती हैं, जैसे राजस्थान के द्रौपदीस्वयवर, रुक्मणीमगल, विल्वमगल, नलदमयन्ती, भर्तृहरि, सावित्रीसत्यवान, ध्रुवचरित्र, भक्त प्रह्लाद आदि-आदि। इन प्रसगो मे भी उन्ही अंशो पर ज़ोर रहता है जिनका जनता के पारिवारिक जीवन से लगाव हो। उनके सभी आध्यात्मिक तत्त्व निकाल दिये जाते हैं और वे ही तत्त्व प्रयुक्त होते हैं जिनका सबध उनके वर्तमान जीवन से हो। उनके सभी अलौकिक पात्र इन नाट्यरचनाओ मे लौकिक पात्र की तरह ही अवतरित होते हैं। लोकनाट्य-रचयिता यह प्रबल आधार लेकर चलता है कि ये कथाप्रसग जनजीवन मे पूर्णत व्याप्त हैं और उनका सागोपाग प्रयोग, उनकी रचना मे आवश्यक नही हैं, उनकी तरफ केवल इशारा ही काफी है।

शास्त्रीय नाटचो की तरह अविकारिक और प्रासगिक कथानक का विचार इन लोकनाटचो मे बिल्कुल नही रहता। वास्तव मे कथानक का इतना जजाल लोकनाटचो की प्रकृति के विरुद्ध भी है। कभी-कभी तो अनेक प्रासगिक कथाओ मे से एक ही कथाप्रसग शास्त्रीय नाटचो के छोटे-छोटे वृत्त तथा प्रकरी के रूप मे समस्त नाटच की कथावस्तु बन जाता है। अधिकारिक कथावस्तु को तो कभी-कभी ये लोकनाटच छूते भी नही हैं, वस्तु को क्रमश. विकसित करनेवाली – आरभ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति, फलागम आदि अवस्थाओ की तो कल्पना ही नही की जाती, क्योकि इन अवस्थाओ का क्रमिक विकास लोकनाटचो का उद्देश्य नही होता है। कथावस्तु की ये सभी अवस्थाएँ पहले से ही दर्शको मे विद्यमान रहती हैं। लोकनाटचो का रंगमचीय सार्वजनिक प्रदर्शन तो उस सम्पूर्ण नाटक का अवशिष्ट अश है जिसके अन्य दृश्य दर्शक पहले ही अपनी कल्पना मे देख चुका होता है। इसीलिये कथावस्तु के उसी अश को रचनाकार स्पर्श करता है जिसके माध्यम से वह नाटचतत्त्वो को अधिक प्रभावशाली ढग से अभिव्यक्त कर सके। शेप को वह छोड देता है। उदाहरण के तौर पर दो प्रेमियो की लोकविदित कथावस्तु को नाटच मे प्रस्तुत करते समय लेखक जानता है कि ये प्रेमी किन के वशज हैं, किस स्थान, नगर, ग्राम के निवासी हैं? ये अपने प्रेमपात्र की उपलब्धि मे किन-किन कठिनाइयो का सामना करते है? उनके मार्ग मे कौन-कौन व्यवधान आये है, तथा अपने प्रेमपात्रो की खोज मे वे कहाँ-कहाँ की यात्रा कर चुके हैं? इनका सांगोपाग परिचय जनता को पहले से है, अत वह अपनी वस्तु को निरर्थक ही इन प्रसगो मे नही उलझाता। उसकी अपेक्षा वह अपनी अधिकाश शक्ति प्रेमी और प्रेमिकाओ की प्रेमवार्ता को मनोरम गीतो व काव्य-छन्दो मे प्रयुक्त करके रस की गगा बहाने मे लगाता है और वस्तु के उन्ही प्रसंगो पर ज़ोर देता है जो इनकी प्रेमवार्ता को उद्दीप्त कर सके।

लोकनाटचो का कथोपकथन

लोकनाट्यो का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व यदि कोई है तो उनका कथोपकथन ही है। पात्र जो कहते हैं, जिन शब्दो मे कहते हैं, जिन भाव-लहरियो मे गाते है और जिन अगभगिमाओ तथा नृत्यमुद्राओ मे उनकी अभिव्यक्ति करते हैं, उन्ही से दर्शको को मतलब है। कैसा रगमच बना, कितनी रोशनियाँ सजावट मे लगाई गई, कितने परदे टँगे, कितने अको मे नाटक प्रस्तुत किया गया, कैसी वेशभूषा का प्रयोग हुआ, इन सब बातो की

ओर दर्शक ध्यान नही देता। उसकी रुचि केवल पात्र के मधुर कठ तथा उसके गाये हुए मनोरम गीत-सवाद मे है। कथावस्तु, चरित्रचित्रण, नाट्य के उत्कर्ष-अपकर्ष, वेशविन्यास, मुखविन्यास से उसको कोई मतलव नही है। अधिकाश पात्र तो इन लोकनाट्यो मे पोशाक पहिनकर दर्शको के वीच ही वैठे रहते हैं। कोई-कोई तो अपनी पोशाक भी दर्शको के वीच ही वदल लेते हैं परन्तु जनता को उनसे कोई मतलव नही है। वह उनकी तरफ ध्यान भी नही देती, क्योकि रगमच पर उतरने पर ही वे नाटक के पात्र समझे जाते है। जनता को इससे भी कोई सवध नही है कि नाट्य का प्रारभ और अत कहाँ है? उसका सवध तो अपने चिर-परिचित कथानक के उन चिर-परिचित पात्रो से है जो रगमच पर दक्षतापूर्वक गाते, नाचते और अभिनय करते हैं। इसकी पूर्ति मे वह उनसे अत्यन्त सफल और प्रभावशाली अदायगी की अपेक्षा करती है। जो प्रसग और कथोपकथन जनता के हृदय पर पहिले से ही आइने की तरह अकित रहते है उनमे रत्तीमात्र भी सशोधन तथा परिवर्तन जनता सहन नही करती, चाहे पात्र अपनी भूमिका अदा करने मे कितना ही प्रवीण क्यो न हो।

इन नाट्यो के कथोपकथन क्षेत्रीय भाषाओ मे ही होते हैं और वे उन्ही मे अच्छे भी लगते हैं। दर्शकगण इस वात की कल्पना ही नही कर सकते कि राम, कृष्ण, रावण, सीता आदि आज से हजारो वर्ष पूर्व के पात्र हैं और उनका आज के युग से कोई सवध नही है। दर्शको के राम, कृष्ण तो कुछ ही वर्ष पूर्व के पात्र हैं, जो साधारणत रोजमर्रा की पोशाकें पहिनते हैं और उन्ही की तरह खाते-पीते तथा व्यवहार करते हैं। यही कारण है कि इन लोकनाट्यो मे राम, कृष्ण, सीता आदि की पोशाकें पौराणिक नही होकर उस क्षेत्र की प्रचलित पोशाकें हैं जो आम जनता दैनिक जीवन मे पहिनती है। उनके कथोपकथन भी रोजमर्रा की घरेलू भाषा मे गाये जाने वाले गीतो ही मे होते हैं, जो वहुधा समस्त जनसमाज को कठस्थ होते हैं। इन गीतसंवादो की अदायगी जव रगमच पर होती है उस समय नाट्य की कथावस्तु वही रहती है। वह आगे नही वढती। एक ही गीतसवाद यदि अभिनेता चार तरह से अलग-अलग धुनो मे व्यक्त करे तो भी दर्शको को कोई आपत्ति नही है। उन्हे इस वात की भी कोई चिन्ता नही है कि वस्तु ने आरभ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा आदि अवस्थाओ को प्राप्त किया है या नही। यही कारण है कि लोकनाट्यो की सवसे वडी शक्ति उनके कथोपकथन ही

मे है। अन्य सब तत्त्व अति गौण है। इसीलिये नाट्यकार उन्हे शब्दो तथा स्वरो से खूब सजाता सँवारता है। कथोपकथन की इतनी महत्ता के कारण ही लोकनाट्य साहित्य, सगीत तथा लयकारी की दृष्टि से सर्वांगपूर्ण होते हैं। वे विशुद्ध नाटकीय सवादों के रूप मे नही होते जिससे उनके क्रम का पता नही लगता।

लोकनाट्यों के पात्र

लोकनाट्यो मे शास्त्रीय नाट्य की तरह पात्रो के उच्चादर्श या लक्ष्य-पूर्ति की ओर ध्यान नही रहता। कथावस्तु के चुनाव मे भी इस ओर कोई विशेष लक्ष्य नही रहता। नायक, नायिका तथा पात्रो मे भी उच्च चरित्र तथा उच्चादर्शों का होना आवश्यक नही समझा गया है, न जाति, परिवार तथा सामाजिक स्तर की दृष्टि से ही उनका चुनाव होता है। लोकनाट्य का नायक उच्चादर्शी भी हो सकता है और चोर, लम्पट और दुराचारी भी। वह शूद्र भी हो सकता है और ब्राह्मण भी। वह राजा भी हो सकता है और रक भी। लोकनाट्यो मे नाट्यवस्तु, कथोपकथन, पात्र, चरित्र तथा दर्शको की दृष्टि से भी गरीब, अमीर, वर्ण, सवर्ण, जाति, कुजाति तथा ऊँच-नीच का कोई भेदभाव नही रहता। उनका प्रमुख लक्ष्य मनोरजन प्रदान करना है, जनता को शिक्षित करना नही है। अत जिस नाट्य से दर्शको को अधिक से अधिक मनोरजन प्राप्त हो सके, वही सफल नाटक समझा जाता है। ऐसे नाटको मे राजस्थान के दयाराम धाडवी, रिसालू लुटेरा, बदमाश आशिक आदि है जिनको देखने मे जनता कोई ऐतराज़ नही करती। इनमे कई नाटक अश्लील भी होते हैं। इनमे एक विशेष बात यह है कि दुश्चरित्र पात्रो का अत मे अपकर्ष और सत्यवादी तथा न्यायपरायण पात्रो का उत्कर्ष बतलाया गया है। सत्य की विजय और असत्य की पराजय होती ही है। इन नाटको मे अतिरजित, मनोरजनात्मक तथा अश्लील तत्त्वो का बाहुल्य होते हुए भी सगीत, नृत्य की दृष्टि से वे सफल लोकनाट्य माने जाते हैं। उनमे शृ गारिक तत्वो की अभिव्यक्ति निम्नस्तर की अवश्य होती है परन्तु बीच-बीच मे ऐसे अहितकारी, शोषक और असामाजिक तत्त्वो पर बहुत ही गहरा कटाक्ष होता है जिससे ये तत्त्व सबके सामने प्रकट होते हैं और समाज मे उनके प्रति अश्रद्धा और अवहेलना की भावना जागृत होती है। ऐसे नाट्यो मे राजस्थान तथा गुजरात का भवाई अत्यन्त लोकप्रिय है। कुशल भवाई कलाकार जब अपने दल के साथ अपने यजमान (आश्रयदाता) के यहाँ प्रदर्शनार्थ जाता है

तो गाँव के सभी असामाजिक तत्त्व भयभीत हो जाते हैं क्योकि इन भवाई प्रदर्शनो मे उनके कुकृत्यो तथा दुराचारो का भडाफोड होने वाला होता है। कभी-कभी तो प्रदर्शन के पूर्व ही ये तत्त्व, जिनमे गाँव का शोषक वनिया तथा ज़मीदार जागीरदार ही प्रमुख होते हैं, इन भवाइयो को विना प्रदर्शन के ही, इनाम देकर विदा करते हैं। इन मनोरजन प्रधान लोकनाट्यो मे कथावस्तु, पात्रपरिचय तथा उनके चरित्रचित्रण पर अधिक ज़ोर नही होता। इन सब नाट्यतत्त्वो को सगीत, नृत्य तथा अन्य चमत्कारिक खेल-तमाशे इस तरह ढक लेते हैं कि उनमे नाट्य का स्वरूप ही नज़र नही आता। इन नाट्यो मे वाचिकी और सात्विकी तत्त्वो की पूर्ण अवहेलना होती है और आहार्य पर विशेष ज़ोर रहता है।

इन नाट्यो मे एक विशेष वात यह है कि नाटक के पात्र कथावस्तु के क्रमिक विकास के अनुसार रगमच पर नही आते। उनके प्रवेश के साथ ही दर्शको को उनकी पहिचान (Identity) नही हो पाती। अत रगमच पर अपने प्रथम प्रवेश के साथ ही उन्हें स्वय अपना परिचय देना पडता है। यह शास्त्रीय नाट्य परम्परा से विल्कुल विपरीत है। जो पात्र अपनी चारित्रिक विशेषताओ के कारण दिलचस्प पात्र है तथा जिसका अभिनेता अपने गेय कथोपकथन को अतिशय रुचिकर ढग से गाने का अभ्यस्त है, वही रगमच पर आवश्यकता से अधिक टिक जाता है। कभी-कभी वह अपनी तथा अपने स्वजनो की प्रशसा मे ही सारा समय लगा देता है। अन्य पात्र उसके पास इसलिये नही टिकते क्योकि उनमे कोई विचित्रता नही होती। लोकनाट्य इस दृष्टि से वस्तुप्रधान नही होकर पात्रप्रधान होते हैं। कभी-कभी ये पात्र रगमच पर अवतरित होते हैं और शीघ्र ही लुप्त हो जाते हैं। उनमे से किसी का भी चारित्रिक विकास नही होता और कुछ तो फल तथा परिणाम तक पहुँचने से पूर्व ही समाप्त हो जाते हैं। उनका अत मे क्या परिणाम होता है इसका भी पता नही लगता। इन नाट्यो के नायक और उनकी नायिकाएँ वहुत अधिक देदीप्यमान होते हैं, चाहे वे भले व्यक्ति हो या बुरे। अन्य पात्रो से उनका विलगाव वहुत ही आसानी से हो जाता है। वे अपनी वशपरम्परा तथा सामाजिक और शासनिक स्तर की दृष्टि से चमत्कृत नही होते। वे अपने अवगुणो के कारण भी चमत्कृत हो सकते हैं और गुणो के कारण भी। यदि कोई चोर-लुटेरा नायक है तो वह प्रथम श्रेणी का चोर-लुटेरा होगा। यदि वह प्रेमी है तो इस दिशा मे वह सर्वोपरि प्रेमी होगा। यदि वह व्यभिचारी

है तो व्यभिचार मे वह पराकाष्ठा तक पहुँचा हुआ होगा । गुणी नायको मे भी उनके गुण सर्वव्यापी होंगे । यदि नायक साधु है तो उसका साधुत्व और त्याग का व्यक्तित्व अत्यत अनूठा होगा ।

लोकनाट्यो मे अनेक पात्र एक साथ रगमच पर नही आते, क्योकि उनकी पहिचान दर्शको के लिये कठिन हो जाती है । बहुधा दो ही पात्र एक साथ रगमच पर आते है और वे भरपूर सवाद कहते हुए गीतो की वर्षा करते हैं । दो से अधिक पात्र यदि रगमच पर आते भी हैं तो वे केवल मूक मुद्रा मे रंगमंच पर खडे रहते हैं । वार्तालाप केवल प्रमुख पात्र ही करते हैं । इन्ही गीतसवादो से पात्रो का चारित्रिक उत्कर्प-अपकर्प का पता लगता है । नाट्य की कथावस्तु भी इन्ही गीतसवादो मे विकसित होती हैं । नाट्यतत्र मे कथावस्तु का निभाव लगभग नही के बराबर है । ये ही कथोपकथन कथा को आगे बढाते है और उसे चरम सीमा तक ले जाते हैं । समस्त पात्रो मे नायक-नायिका ही प्रमुख पात्र हैं । उपनायक तथा उपनायिकाओ की अवस्थिति लगभग नही के बराबर है । नायक-नायिका का शासन ही सर्वोपरि रहता है क्योकि समस्त नाट्य मे पात्र ही कम होते हैं । कुछ लोक-नाट्य तो ऐसे भी हैं जिनमे नायक-नायिका के अलावा अन्य कोई पात्र ही नही होता । जैसे राजस्थान का मूमल-महेन्द्र तथा हीर-राझा । वस्तुयोजना इन द्विपात्री ख्यालो मे इस तरह सगठित होती है कि गीत-सवादो ही मे वस्तु के अकुर छिपे रहते हैं । नायक-नायिका अपने पारस्परिक सवादो ही मे अपने वश, राज्य, परिवार तथा देश काल की सभी स्थितियो का परिचय अत्यंत मनोरम ढग से दे देते हैं । उसी परिचय मे उनके विरुद्ध जो पड्यत्र होते हैं या उनके पक्ष मे सहानुभूतिपूर्ण तथा सहयोगात्मक कृत्य होते हैं उनका भरपूर समावेश हो जाता है । इन पात्रो के चरित्र उनके कृत्यो से परिलक्षित नही होते । वे उनके सवादो मे ही जाने जा सकते हैं । लोकनाट्य कृत्यप्रधान नही होते, अत सवादो से ही पात्रो के चारित्रिक उत्कर्प-अपकर्प का पता लगता है ।

विश्व के लगभग सभी नाट्यो मे कुपात्रो के लिये अवहेलना की दृष्टि और सुपात्रो के लिये सहानुभूति होती है । परन्तु लोकनाट्यो मे यह प्रक्रिया आवश्यक नही हैं । यदि कोई कुपात्र अपनी मनोरजनात्मक तथा हास्यविनोद की अभिव्यक्ति मे परम पटु होता है तो जनता का आकर्षण अनायास ही उसकी तरफ हो जाता है । क्योकि उसके कुकृत्य व्यवहारिक रूप से रगमच पर नही

आते। वे मनोरंजनात्मक गीतसवादों मे अत्यंत आकर्षक ढग से प्रकट होते हैं। अत दुष्चरित्र पात्र भी जनता के मित्र वन जाते है। सुसंगठित शास्त्रीय नाट्यो मे अभिनय करने वाले अभिनेता का मानवीय स्वरूप प्राय कुछ भी महत्त्व नही रखता। परन्तु लोकनाट्यो मे वह काफी हदतक सुरक्षित रहता है। यदि वह कुपात्र अपने मानवीय जीवन मे सुपात्र तथा मान्य कलाकार है तो उसका अभिनेय दुष्चरित्र स्वरूप, प्राय. गौण हो जाता हैं। उसके मानवीय गुण जनता की सहानुभूति अर्जित करने में पूर्णत सफल हो जाते हैं। वहुधा इसका विपरीत पक्ष भी सही होता है। यदि नाटच-पात्र का मानवीय स्वरूप सकलक तथा अनुचित है तो उसके सच्चरित्र पात्र का अभिनेय स्वरूप जनता की अभि-रुचि नही पकड़ता। इसका यह भी तात्पर्य हैं कि लोकनाटचो की सगठनात्मक दुर्वलता के कारण उनके अभिनेय पात्रो का आरोपण कम कारगर सिद्ध होता है। यही कारण है कि लोकनाटचो के पात्र-चुनाव मे पात्रो के मानवीय पक्ष का पूरा ध्यान रखा जाता है। पेशेवर नाटचमडलियो को छोडकर सार्वजनिक तथा शौकिया रूप मे खेले जाने वाले जनहितकारी नाटचो मे तो इन तत्त्वो को वहुत अधिक प्रधानता दी जाती है। उत्तर भारत मे दशहरा पर्व पर सार्वजनिक रूप से होने वाली रामलीलाओ मे इस वात का पूरा ध्यान रखा जाता है। जो व्यक्ति राम, लक्ष्मण, सीता, भरत आदि का अभिनय करते हैं वे सच्चरित्र, उच्च-कुलीय तथा सर्वमान्य व्यक्ति ही होते हैं। यही नही रावण, मेघनाद, खरदूपण आदि कुपात्र भी अपने मानवीय पक्ष मे प्रतिष्ठित तथा मान्य व्यक्ति ही होते हैं। लोकनाटच जव सामाजिक तथा सामुदायिक तत्त्वो से परिपूर्ण थे तव इस विचार की प्रधानता थी। परन्तु जव से इनका व्यवसायी पक्ष विकसित हुआ है इन तत्त्वो का अभाव होने लगा है।

लोकनाट्यो के पात्रो की मानवीय लोकप्रियता तथा उनका वैयक्तिक व्यक्तित्व भी दर्शको की सहानुभूति प्राप्त करने मे वहुत सहायक होते हैं। कभी-कभी उनके अभिनय की कलात्मक अदायगी यदि कुछ दुर्वल भी होती है तो उनका मानवीय सद्व्यक्तित्व इनकी इस कमजोरी को ढक लेता है। यहाँ एक महत्वपूर्ण वात यह है कि नाट्य-पात्रो के चारित्रिक गुण अधिक महत्त्व नही रखते। उनके वैयक्तिक मानवीय गुणो की छाप पात्रो के चारित्रिक गुणो से अधिक गहरी होती है। यदि कोई दुष्चरित्र, अन्यायी तथा अनाचारी पात्र हैं परन्तु देखने मे सुन्दर, नाचने मे पटु तथा गाने मे मनोमुग्धकारी है तो वह अनायास ही दर्शको के दिल का राजा वन जाता है।

लोकनाट्यो के विविध स्वरूप

रगमचीय लोकनाट्य – ऐसे नाट्य वस्तुविन्यास, चरित्र-चित्रण तथा नाट्य की क्रमिक अवस्थाओ की दृष्टि से कमजोर अवश्य होते हैं परन्तु वे योजनावद्ध प्रस्तुत होते है। उनमे विधिवत पात्रो का चुनाव होता है। वे व्यवस्थित ढग से पात्रानुकूल पोशाके पहिनते है तथा रगमच पर विविवत अपनी भूमिकाएँ अदा करते है। इन नाट्यो मे वस्तु के भी कुछ अंकुर होते हैं तथा पात्र सर्वविदित तथा लिखित कथोपकथन का उच्चार करते है। वस्तु किसी निर्दिष्ट दिशा मे फल-प्राप्ति की ओर भी अग्रसर होती है। ऐसे नाट्यो मे सर्वविदित कथा प्रसग का अनुशीलन अत्यन्त आवश्यक होता है। नाटचकार तथा अभिनेता उनमे किसी प्रकार की आज़ादी नही ले सकते। ऐसे नाटचो मे मध्यप्रदेश के माच, राजस्थान के ख्याल, मथुरा की रामलीलाएं, वगाल की जात्राएँ तथा दक्षिण भारत के यक्षगान उल्लेखनीय हैं।

सर्वविदित प्रसगों पर आधारित छायारूपी लोकनाट्य – ऐसे नाटच वहुधा राष्ट्रीय देवताओ, महान वीरो तथा चक्रवर्ती राजाओ के जीवन से सम्वन्वित रहते हैं। उनके पात्र जातीय तथा राष्ट्रीय महत्व के होते हैं तथा सहस्रो वर्ष वीत जाने पर भी जनजीवन मे महानतम आदर्शों के रूप मे विद्यमान रहते हैं। ऐसे महान् नायको के जीवनादर्श तथा अनुकरणीय कृत्यो से देश का वच्चा-वच्चा अवगत होता है तथा अपने जीवनोत्कर्ष के लिए उनसे शक्ति ग्रहण करता है। उनके जीवनादर्शों तथा महान् कृत्यो से समस्त जाति ही प्रभावित रहती है तथा समस्त समाज की कला और सस्कृति उनसे ओतप्रोत रहती है। ऐसे युगप्रवंतक व्यक्तित्व के चमत्कारिक पहलुओ को लेकर समस्त समाज धार्मिक तथा सास्कृतिक अनुष्ठान के रूप मे अनुकरणमूलक नाटच-प्रसग रगमच पर प्रस्तुत करता है। वे रगमचीय नाटको से विलकुल भिन्न होते हुए भी नाटच के एक विशिष्ट अग के रूप मे प्रस्तुत होते हैं। उक्त नाटच-स्वरूप मे यद्यपि किसी कथावस्तु का सागोपाग प्रयोग तथा विशिष्ठ रगमचीय तत्त्वो का उपयोग नही होता फिर भी अनुकरणमूलक ढग से प्रस्तुत किये जानेवाले ये प्रसग वस्तुत नाट्य के ही अश हैं। ऐसे नाट्य-स्वरूपो मे उत्तर प्रदेश की वहुस्थलीय अनुष्ठानिक रामलीलाएँ, राजस्थान की चौकचाँदनी तथा हिड़ाउ-मेरी की रम्मतें विशेष रूप से उल्लेखयीय हैं। इन तीनो प्रकार के नाट्यो मे अभिनेता किसी विशिष्ट पात्र को अपने मे आरोपित समझकर उसी के वेश विन्यास, व्यवहार तथा उसी की वाणी मे आँगिकी, आहार्य, वाचिकी तथा

सात्विकी अभिनय के ढग से व्यवहार करते हैं। जनता भी उनमे उन्ही अतीत के गणमान्य चरित्रो का आरोपण समझकर उनका आदर करती है और उनसे प्रेरणा प्राप्त करती है। इन नाट्यो के पात्र रगमचीय नाट्यो की तरह क्रम से रगमच पर आते और जाते नहीं हैं। न उनका कोई नाटकीय प्रवेश ही होता है, न उनके जीवन के विविध पहलू नाट्यवस्तु की विविध अवस्थाओ के अनुसार क्रमिक रूप से ही प्रयुक्त होते हैं। कुछ लोग तो उनको नाट्य मानते ही नही है, केवल स्वाँग की ही सज्ञा देकर सतुष्ट हो जाते हैं। परन्तु वे यह बात भूल जाते हैं कि वेश-भूषा को पहिनकर किसी विशिष्ट व्यक्ति का आभास देना स्वाँग है, परन्तु वह पात्र यदि वास्तविक अधिनायक के जीवन के विशिष्ट कृत्यो को व्यवहार मे लाता है तथा अपनी भगिमाओं तथा वाणी से उनका प्रकटीकरण करता है और दर्शको मे वास्तविक पात्र के विशिष्ट कृत्यो की अनुभूति जागृत करता है तो यह मानना ही पडेगा कि वह किसी नाट्य के एक प्रमुख तत्त्व का ही प्रतिपादन करता है।

इस प्रकार के नाट्यो मे उत्तर प्रदेश की सामुदायिक रामलीलाओ का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यद्यपि उनमे एक जगह रगमच नही बनाया जाता। न परदे ही लगाये जाते। पात्र विशिष्ट दिशाओ से औपचारिक ढग से प्रवेश भी नही करते। समस्त रामायण महाकाव्य की घटनाओं का सागोपाग चित्रण भी नही होता। परन्तु विविध स्थलो पर लका, अयोध्या, जनकपुरी आदि स्थल अनुकरणमूलक ढग से निर्मित होते है। अलग-अलग स्थितियो मे पात्र अपना अनुकरणमूलक व्यवहार प्रकट करते हैं। यह व्यवहार कही संवादो से, कही केवल मूकाभिनय से और कही नाट्यकार की ओर से परिचयात्मक वाचन (Commentary) तथा रामायण की चौपाई पाठ से व्यक्त किया जाता है। इन नाट्यो मे सभी कथा-प्रसगो का नाट्याभिनय आवश्यक नही होता। जिन प्रसगो में नाट्य-तत्त्व विशिष्ट रूप से विद्यमान रहते है वे ही प्रसग अभिनय मे शुमार होते हैं। शेष दर्शको की व्यापक कल्पना तथा पूर्व जानकारी पर छोड़ दि जाते हैं।

इस शैली के कुछ नाट्य-प्रयोग राजस्थान के 'नहान' तथा व्यावर की 'बादशाही सवारी' मे परिलक्षित होते हैं। ये दोनो ही प्रयोग अनुकरणमूलक हैं। उनके पात्र वास्तविक चरित्रो की वेशभूषा पहिनते हैं। उनकामा व्यवहार करते हैं तथा उनके जीवन की किसी विशिष्ट झाँकी को नाटकीय ढंग से

प्रस्तुत करते हैं। निश्चित ही ये नाटय-प्रकार रामलीलाओ की कोटि मे तो नही आते परन्तु उनमे नाटय के अकुर अवश्य ही विद्यमान हैं।

बहुप्रासंगिक औपचारिक लोकनाटय :– ऐसे नाटय उक्त दोनो ही श्रेणी के नाटयो से सर्वथा भिन्न होते हैं तथा नाटय की प्रारम्भिक अवस्था के द्योतक हैं, जो आज समय की हवा के साथ अपनी प्रारम्भिक अवस्था ही मे प्रौढ़ता को प्राप्त कर गये है। उनका क्रमिक विकास न होकर उनके प्रारम्भिक स्तर का ही विकास हुआ है। ऐसे नाटयो मे कोई विशेष कथाप्रसग नही होता। अनेक कथाप्रसंग जुडकर एक विशिष्ट कथाप्रसंग का भान कराते हैं। उनके लिये कोई विशेष रगमच नही होता न उनमे किसी रगमचीय औपचारिकता के ही दर्शन होते है। कथावस्तु का कोई भी विशेष स्वरूप उनमे नही होता, न नायक-नायिका का ही उनमे कोई अस्तित्व होता है। उनमे आगिक, वाचिक, आहार्य तथा सात्विकी अभिनय की प्रधानता रहती है। नाटय मे उत्कर्ष, अपकर्ष अनेक बार आते हैं। वस्तु की किसी भी क्रमिक अवस्था का निरूपण उसमे नही होता। कथोपकथन मे भी कोई व्यवस्था नही होती। अनेक रसो का उनमे परिपाक होता है। अनेक बार विरोधी रसो का सयोग होता है जिससे रसाभास एक स्वाभाविक प्रक्रिया बन जाती है। दर्शक-प्रदर्शक का भेद इनमे सुस्पष्ट है। दर्शक किसी भी स्थिति मे प्रदर्शक नही बन सकता। प्रदर्शक अनौपचारिक ढग से रगस्थली मे आते हैं, वही वेशभूषा पहिनते हैं और दर्शकगण उनके चारो ओर गोलाकार बैठ जाते हैं। नाटय का नायक एक नही, अनेक होते हैं। उन सबका स्वतत्र अस्तित्व होता है। ऐसे नाटय मे राजस्थानी भीलो का "गवरी" प्रमुख है। यह ऐसा नाटय है जिसमे आहार्य, वाचिकी, सात्विकी तथा आंगिकी के तत्त्व अत्यंत प्रौढ तथा नाटय के अन्य सभी तत्त्व अत्यत लचीले तथा ढीले होते हैं। प्रमुख नायक और नायिका के जीवन की अनेक घटनाएँ अत्यत बिखरी हुई होती हैं। उनमे कोई पारस्परिक सम्बन्ध नहीहोता, न नाटय-योजना मे भी उनका कोई स्थान है। नायक के गुण-दोषो का भी उनमे कोई वर्णन नही है। कथावस्तु भी किसी निश्चित अवस्था की ओर अग्रसर नही होती।

इस नाट्य-प्रकार की बहुत बड़ी शक्ति उसके अभिनेय गुणो मे है। आहार्य की दृष्टि से ये नाटय अद्‌भुत हैं। नाटय के पात्र वेशभूषा सबधी अपनी तीव्र कल्पना बुद्धि का परिचय देते हैं। उनका आगिक अभिनय भी बेजोड होता है। वाचिक अभिनय मे वाचन का विशेष आधार नही लिया जाता। नाटक का

सूत्रधार ही समस्त वाचन का भार अपने ऊपर रखता है। उसके वाचन पर पात्र नानाप्रकार के मूकाभिनय मे लीन होते हैं। सात्विकी दृष्टि से उनका रस-निरूपण अद्भुत होता है। हास्य, विनोद, शृगार, रौद्र, वीभत्स तथा वीररस की अभिव्यक्ति मे इन कलाकारो को कमाल हासिल है। इस प्रकार के नाट्य वास्तव मे अनेक नाट्यो के सामूहिक रूप हैं। कई नाट्यो के तत्त्व इनमे मिले रहते हैं। नाट्य की कथावस्तु केवल आरम्भिक अवस्था तक अवतरित होकर वही समाप्त नही हो जाती है। कुछ प्रसग ऐसे भी हैं जो नियताप्ति की अवस्था मे तो पहुँच जाते हैं, सफलता का निश्चय भी हो जाता है, परन्तु वीच मे कोई वडा व्यवधान आ जाता है और वात वही खत्म हो जाती है। कही-कही किसी प्रसग मे फलागम विना पूर्व की अवस्थाओ के भी आ जाता है।

लोकनाट्य तथा शास्त्रीय नाट्य का पारस्परिक सम्बन्ध

इस अध्ययन के उपरान्त अव यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि नाट्य के शास्त्रीय और लोकपक्ष के वीच क्या कोई सम्वन्ध है? शास्त्रीय नाट्य लोकनाट्यो की जननी है या लोकनाट्यो से शास्त्रीय नाट्यो की उत्पत्ति हुई है? या दोनो का आविर्भाव एक ही साथ हुआ है? ऋग्वेद तथा अनेक जैन सूत्रो और पौराणिक ग्रथो मे जो नाटको का वर्णन हुआ है उनमे निश्चय ही लोकनाट्यो के अकुर विद्यमान हैं। शास्त्रीय नाट्यो की उस समय कोई कल्पना नही थी। चीन, यूनान, मिश्र, रोम आदि प्राचीन देशो मे भी लोकनाट्यो का काफी प्रसार था। उन सव मे किसी भी विगत चमत्कारिक व्यक्ति को चिरस्मरणीय रखने के लिये उसकी जीवन-गाथाओ का अनुकरण एक सामाजिक कर्तव्य समझा जाता था। इन्ही अनुकरणमूलक कृत्यो मे नाटक का प्रादुर्भाव हुआ था। धीरे-धीरे समाज के विकास के साथ ये नाटक भी विकसित हुए तथा सैकडो वर्ष वाद वे शास्त्रकारो का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने मे समर्थ हुए। उनकी सामाजिकता तथा सामुदायिकता का महत्त्व उनको नही मालूम हो सका। वे उन्हे अपरिपक्व तथा अत्यत प्रारम्भिक समझकर ही शास्त्र की मर्यादाओ मे वाँधने लगे और धीरे-धीरे ये नाटक अपने लोकप्रिय तत्त्व खो वैठे। इसकी प्रतिक्रिया हुए विना नही रही और ये लोकनाट्य प्रारम्भ से ही अपने आपको शास्त्र के चुगल से अलग रखकर अपने विकास की अलग दिशा पकड़ते रहे। यही कारण है कि इन शास्त्रीय नाटको का कोई कुप्रभाव उन पर नही पडा, वल्कि नाट्यनियोजन आदि मे उनको परोक्ष-अपरोक्ष रूप से लाभ ही हुआ।

ये लोकनाटच, क्योकि लोकभापाग्रो मे लोकानुरजन की दृष्टि से लोक-कथाओ पर आधारित रहते थे इसलिये जनसाधारण का ध्यान उनकी तरफ आकर्पित होना अधिक स्वाभाविक था। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि इन नाटचो मे भाग लेने हेतु किसी प्रशिक्षण, पूर्वाभ्यास तथा प्रवीणता की आवश्यकता नही होती थी। वे बहुधा सारे समाज को कठस्थ होते थे। इसलिये कोई भी व्यक्ति किसी भी पात्र की अनुपस्थिति की पूर्ति करने के लिये पर्याप्त होता था। इन नाटचो के सामाजिक तथा सामुदायिक तत्त्व इतने प्रबल होते थे कि प्रदर्शक और दर्शक प्राय. एक ही भावना रखते थे तथा सबके मन मे नाटचो के प्रति अपनत्व की भावना रहती थी। शास्त्रीय नाट्य शास्त्र की दृष्टि से इतने तात्त्विक हो गये थे, उनमे नियमो का पालन इतना कठिन हो गया कि वे साधारणजन की पहुँच के बाहर हो गये। इन नाटचो की भाषा भी आचार्यो और पडितो की भाषा थी तथा उनमे अभिनय योग्य पात्रो का भी उच्चकोटि के विद्वान्, शास्त्रज्ञ, भाषाविज्ञ तथा कलाप्रवीण होना आवश्यक था। इन नाटचो के रगमच और प्रेक्षालय की योजना भी इतनी जटिल थी कि सिवाय शासको, आचार्यो, धनिको, मदिरो तथा मठो के सम्पन्न वातावरण तथा उनकी व्यवस्था के बिना वे अभिनीत नही हो सकते थे। इनके लेखक, अभिनेता, नर्तक, सगीतज्ञ तथा प्रेक्षालयनियोजक भी परम विशेपज्ञ तथा शासन द्वारा पोषित और सरक्षण प्राप्त थे। ये नाटच लोकरुचि को पुष्ट तो नही करते थे बल्कि वे उनकी पहुँच के बाहर भी थे। सरगुजा रियासत की गुफाओ मे जो प्रेक्षालयो के ध्वसावशेप मिलते हैं उनमे विकृष्ट, चतुरस्र और त्र्यस्त, तीन प्रकार के प्रेक्षालयो की कल्पना साकार हुई है। इन प्रेक्षालयो की योजना भी विभिन्न सामाजिक स्तर के दर्शको के बैठने के लिये बनाई गई थी, बल्कि विकृष्ट प्रेक्षालय तो केवल देवताओ तथा शासको के लिये ही था। चतुरस्र प्रेक्षालय मध्यम श्रेणी के दर्शको के लिये था। इन प्रेक्षालयो मे उच्चकोटि की चित्रकारी होती थी। प्रकाश आदि के लिये भी अत्यत वैज्ञानिक व्यवस्था थी। पोशाकघर, रंगमच तथा प्रेक्षालय की सजावट भी नाटचोचित ढग से होती थी। उनमे प्रवेश पाने के लिये भी विशेप सामाजिक स्तर की आवश्यकता थी। इन्ही तकनीकी तथा सामाजिक कठिनाइयो के कारण ही शास्त्रीय नाटचो से लोकनाटचो का विलगाव हुआ। वे उनकी विपम वदिशो से बाहर निकलकर स्वतत्र श्वास लेने लगे तथा जनसाधारण की सुखद अभिव्यक्ति के प्रबल साधन बन गये।

लोकनाट्यो का नाट्यशिल्प

आधुनिक नाट्य मे कथावस्तु के नाट्योपयोगी प्रसगो को इस तरह नियोजित किया जाता है कि उनका नाटकीय प्रस्तुतीकरण प्रभावशाली और कथा का श्रव्यस्वरूप दृश्यस्वरूप मे परिणत हो सके। ऐसे नियोजित एव नाट्यतत्त्वो से सपुष्ट नाट्य मे पात्र स्वय वाचन, सभाषण द्वारा कथाप्रसग को आगे बढाते हैं, विविध घटनाओ का क्रमिक विकास होता है तथा पात्रो के व्यवहार एव कृतित्व द्वारा उनके चरित्रो का उत्कर्ष तथा अपकर्ष परिलक्षित होता है। पात्र स्वय अपने मे घटनाओ को सुलझाते हैं तथा नवीन परिस्थितियाँ पैदा करके नाटक को गतिशील बनाते हैं। पात्र स्वय वाचन की डोरी पकडकर मानसिक गुत्थियाँ उलझाते-सुलझाते तथा मन की अतर्तम दशाओ का दिग्दर्शन कराते हैं। नाट्यवस्तु बीजरूप प्रकट होकर अकुरित होती है, अपनी शाखाएँ उपशाखाएँ फैलाकर वृहत् वस्तुवृक्ष को विकसित करती हैं। कथावस्तु के इस विकासक्रम मे वर्णन, विवेचन तथा परिचयात्मक टिप्पणियाँ समस्त नाट्यतत्र को अत्यधिक आघात पहुँचा सकते हैं। यही कारण है कि आधुनिक एव शास्त्रीय नाटक को खडकाव्य तथा महाकाव्य की श्रेणी मे न रखकर उसके स्वतत्र अस्तित्व को दृश्यकाव्य का सर्वश्रेष्ठ रूप माना है।

इन आधुनिक शिल्प के नाट्यो मे उनका रचयिता तथा उसका व्यक्तित्व कई जगह छिपा रहता है और उसकी सर्वतोमुखी प्रतिभा नाट्य-पात्रो मे प्रकट होकर उनके चार चाँद लगा देती है। वह नाट्य की समस्त गतिविधियो का नियोजन करके पात्रो की भाषा मे बोलता है, उनकी धडकनो के साथ धडकता है तथा उनकी मन स्थितियो मे निरतर रमण करता रहता है। वह समस्त घटनाओ को अपनी मुट्ठी मे पकडे रहता है और उनके क्रमिक विकास मे पूर्णरूप से सतर्क रहता है। यह रचयिता रगमच पर नही आता। वह छिपे रहकर भी सबको अपने अस्तित्त्व का भान कराता रहता है।

परन्तु विपरीत इसके लोकनाट्य अपने वस्तुशिल्प की दृष्टि से निराले ही ढग से गठित होते हैं। उनमे कथावस्तु की कोई प्रधानता नहीं, पात्रो के उत्कर्ष, अपकर्ष की ओर कोई ध्यान नही। केवल अपने मनोरजनात्मक पक्ष को अक्षुण्ण रखने के लिये वे नाना रूप धारण कर लेते हैं। लेखक अपने उद्देश्य की पूर्ति मे कभी सूत्रधार के रूप मे प्रकट होकर समस्त नाटक का मतव्य प्रकट करता है, कभी हलकारे के रूप मे नाट्यपात्र एव घटनाओ का परिचय देता है, कभी नाट्यपात्रो के गीत-नृत्यो के साथ साज़ बजाने वाले

तथा गाने वाले टेकियो की वाणी मे विराज जाता है। कभी वह विदूषक के रूप मे प्रकट होकर अनेक अप्रस्तुतनीय एव जटिल घटनाओ को वर्णन ही वर्णन मे पूरा कर लेता है। कभी वह छद्मवेश मे भगवान् का रूप धारण करता है तथा विशिष्ट घटनाओ की सृष्टि करके अनेक अप्रासगिक घटनाओ को उनमे समेट लेता है।

लोकनाट्य, वस्तुप्रधान नही होने के कारण, अपने मे कथावस्तु का क्रमिक विकास आवश्यक नही समझते। लोकगाथाओ के अनियोजित प्रसगो मे जिस तरह कथावस्तु लुकती-छिपती अपने अस्पष्ट स्वरूप को छिपाये रहती है और किसी समय अनायास ही प्रकट होकर कभी रगत विगाड देती हैं, कभी जमा देती है, उसी तरह लोकनाट्यो मे भी वह कभी अपनी छवि इस तरह दर्शाती है कि नाट्य के आधारस्तभ स्तभित हो जाते हैं। उन स्तभो पर कथा कुछ क्षण रुक जाती है और नाट्यपात्र अपनी प्रतिभा के चमत्कार नृत्यगीतो के माध्यम से दर्शाकर आनेवाली विविध घटनाओ की ओर सकेत करते हैं।

लोकनाट्य महत्त्वपूर्ण, अमहत्त्वपूर्ण घटनाओ मे कोई अतर नही समझते तथा उनके समयनिर्धारण एव वर्गीकरण की ओर तनिक भी ध्यान नही देते। जिस प्रसग मे, चाहे वह अत्यन्त महत्त्वहीन ही क्यो न हो, व्यग्यविनोद, हास्य-उल्लास तथा कलाप्रदर्शन का भरपूर अवसर हो उसमे सर्वाधिक समय खपाया जाता है। नाट्य-पात्रो मे भी कथाप्रसग की ओर अत्यन्त उदासीनता सी रहती है। वे नृत्य-गीत-अदायगी मे ही अपनी सम्पूर्ण शक्तियाँ लगा देते है और इस बात की चिन्ता नही करते कि नाट्य निर्धारित समय मे समाप्त होगा या नही। लेखक की ओर से भी इन पात्रो को किसी भी प्रसगविशेष मे अपनी ओर से जोडने, बढाने, घटाने तथा स्थलीय प्रेरणाओ के अनुसार अपनी कल्पनाओ का उपयोग करने की पूरी छूट रहती है।

प्रत्येक लोकनाट्य मे लेखक जिस रूप मे भी छिपा रहता है उसके माध्यम से वह घटनाओ के प्रस्तुतीकरण मे काट-छाँट करता रहता है। जैसे राजस्थानी शैली के कुचामणी ख्यालो मे लेखक हलकारे या फर्राश के माध्यम से नाटक की उन सब घटनाओ का केवल स्तुति तथा मगलाचरण के रूप मे उल्लेखमात्र करता हुआ दर्शको को उस प्रमुख परिस्थिति मे ले आता है जहाँ खेल का रगमचीय स्वरूप शुरू होता है। कभी-कभी पात्र बिना प्रसग के ही स्वय रगमच पर उपस्थित होकर अपना परिचय देते हुए उन सभी अप्रस्तुतनीय

घटनाओ का दिलचस्प वर्णन प्रस्तुत करते हैं तथा नाट्य को उस प्रमुख स्थिति तक ले आते हैं जहां उन्हें स्वय को किसी विशिष्ट प्रसग मे आना होता है ।

लोकनाट्यो मे समस्त वस्तु को आधुनिक नाट्यतत्र की दृश्यविधान-शैली मे वर्गीकृत करने की परम्परा नही के बराबर है । उनका नाट्यतत्र ही ऐसा है कि दृश्य के अन्दर ही दृश्य प्रकट होते जाते है और दृश्यपरिवर्तन के लिये आधुनिक परदो एव विद्युत् व्यवस्था के बिना ही बदली हुई परिस्थितियां, बदले हुए स्थल तथा बीते हुए समय की कल्पना साकार हो जाती हैं । कोई दृश्य चल ही रहा है और उसके साथ दूसरा दृश्य चल पडता है । उस स्थिति की समस्त परिस्थितियां अपने आप मे सिमटने लग जाती हैं और तुरन्त अपना सबध प्रस्तुत होने वाली परिस्थितियो के साथ जोड देती हैं । स्थल और समय के अन्तर को दिखलाने के लिये टेकियो की टेक दोनो दृश्यो के बीच परदे की तरह उपस्थित हो जाती है और आने वाले दृश्य की विविध रगीनियो को पुन परदे की तरह ही ऊपर उठाकर सबके सामने दर्शाती है । ऐसी विशिष्ट परिस्थितियो मे पूर्व घटना का विलीनीकरण आनेवाली घटना मे बहुत ही सुन्दर ढग से हो जाता है ।

प्राय सभी लोकनाट्य प्रचलित लोकगाथाओ पर आधारित रहते हैं । काल्पनिक कथाओ तथा स्वरचित प्रसगों पर लोकनाट्यो की रचना नही होती, क्योकि इस प्रकार की रचनाओ पर दर्शको की आत्मीयता नही जुडती और उनके काल्पनिक पात्रो एव परिस्थितियो को उनकी भावनाऐं ग्रहण नही करती । प्रचलित लोकगाथाओ पर आधारित रहने के कारण ही इन लोकनाट्यो के विविध प्रसग एव पात्र परस्पर में बहुत ही कच्चे धागे मे बंधे रहते हैं तथा उनकी कथावस्तु के अनेक अश अत्यत लचर और कमज़ोर होते हुये भी दर्शको की गाथा सबंधी पूर्व जानकारी तथा तत्सबधी चरित्रों के प्रति उनकी प्रगाढ आत्मीयता उन्हे स्वीकार कर लेती है और लोकनाट्य के विभिन्न टूटे हुए और असंबद्ध अशो को जोड लेती हैं । लोकगाथाओ के असबद्ध अशो को जिस तरह लोकमानस अनायास ही स्वीकार कर लेता है उसी तरह लोकनाट्य के भी सभी असंबद्ध प्रसगो को स्वीकार करने मे दर्शको को कोई भी कठिनाई नही होती । यही कारण है कि कुछ विद्वान् लोकनाट्य को लोकगाथा का दृश्य-रूप मानते हैं । लोकगाथा को कुशल गायाकार अपने श्रोताओं को अत्यत मनोरम ढग से सुनाता है और अपनी अतिशय रोचक वर्णन-शैली से उसका मूर्तरूप प्रकट करता है । लोकनाट्य मे लोकगाथा का

वर्णित रूप, उसकी शब्दावली और छदव्यवस्था के अतिरिक्त, प्राय: ज्यो का त्यो रहता है । उसका आदि अत, मध्यवर्ती विकास, कथा की क्रमिक व्यवस्था, पात्रो का चारित्रिक उत्कर्ष, अपकर्ष आदि भी लोकनाट्यो मे यथावत रहते हैं । अतर केवल इतना है कि गाथा मे एक या दो व्यक्ति गाथा के पदो को गाकर या बजाकर सुनाते हैं और लोकनाट्यो मे स्वय पात्र ही मूर्तरूप बनकर गाथाकार का स्थान ग्रहण कर लेते हैं और समस्त गाथा को नाटकीय ढग से प्रस्तुत करके समस्त अतीत को वर्तमान मे ले आते हैं । गाथा के इस नाटकीय प्रस्तुतीकरण से जहाँ सभाषणात्मक पक्ष दुर्बल हो जाता है, वहाँ लोकनाट्य का वर्णनात्मक पक्ष, रगमचीय प्रस्तुतीकरण की सहायता हेतु नाटक के टेकिये तथा हलकारे के माध्यम से, ज़ोर पकड लेता है और गाथा के निरतर प्रवाह को किसी प्रकार मदा नही होने देता ।

राजस्थान की प्रचलित लोकगाथाएँ, जैसे पाबूजी, देवजी, हडबूजी, गोगाजी, रामदेवजी, तेजाजी, जिन्हे इनके विशेष भोपे तथा रुलावत जातियाँ गा बजा कर सुनाती हैं, राजस्थानी लोकनाट्यो के लिये सर्वाधिक प्रेरणादायी स्रोत रही हैं । इन लोकगाथाओ पर आधारित कई लोकनाट्य इस राज्य मे प्रचलित हैं जो नाट्य की विविध लोकशैलियो मे कई रचयिताओ द्वारा रचे गये हैं । यद्यपि लोकनाट्य लोकगाथा का दृश्य रूप है फिर भी लोकगाथाओ की पदावली का हूबहू उपयोग किसी भी नाट्य मे नही हुआ है । लोकनाट्य के प्रचलित नाट्य-शिल्प मे, जिनके कई प्रकार प्रत्येक राज्य मे आज भी प्रचलित हैं, नाट्य-रचयिता अपनी पदावली स्वय रचता है तथा प्रचलित लोकगाथा की कथावस्तु तथा उसके वर्ण्य विषय को अपने मे समा लेता है । चूकि लोक-नाट्यो की विशिष्ट पदावली नाट्य एव नाट्योपयोगी विशिष्ट छदो मे रची जाती हैं इसलिये भी इन लोकगाथाओ की परपरागत पदावली तथा उसके छदो का प्रयोग लोकनाट्यो मे नही होता । लोकनाट्यकार नाट्यरगमच पर इन्हे प्रस्तुत करने की धृष्टता इसलिये भी नही कर सकता, क्योकि ये धार्मिक अनुष्ठानो तथा विश्वासो के साथ जुडी रहती हैं और उन्हे किसी निमित्त विशेष के लिये गाने का एकमात्र अधिकार इन विशिष्ट जातियो को ही प्राप्त है । यदि ये पदावलियाँ ज्यो की त्यो रगमच पर उतर आवें तो उनसे सबधित अनुयाइयो की भावनाओ को ठेस लगना स्वाभाविक है ।

इन लोकनाट्यो का नाट्य-शिल्प अत्यत विचित्र होता है । जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि लोकगाथाओ के वर्णित स्वरूप के शिल्प मे और उसके

नाटकीय शिल्प मे विशेष अतर नही होता । लोकगाथाओ के वर्णित शिल्प मे विविध पात्र एव प्रसगो का परिचय देने वाले टेकियो तथा अन्य परिचायको की भूमिका गाथाकार स्वय अदा करता है, जबकि गाथा के नाट्य-शिल्प मे गाथाकार का कार्य पात्र स्वय करते हैं। लोकगाथा की कथावस्तु का क्रमिक नियोजन उसके नाट्य-स्वरूप मे भी उसी तरह होता है । गाथाकार कथा को वर्णन द्वारा आगे बढाता है और जहाँ पात्रो मे वार्तालाप एव सवाद निहित रहते हैं, वहाँ वह अपने वर्णनकौशल द्वारा स्वय पात्र बनकर गाथा के वर्ण्य प्रसग को नाटकीय गुणो से ओतप्रोत कर देता है । लोकनाट्यो मे यह कार्य पात्र स्वय करते हैं और जब वे इस कर्तव्य को पूरी तरह निभाने मे अपने को असमर्थ पाते हैं तो नाटक के टेकिये तथा हलकारे उस जिम्मेदारी को स्वय उठा लेते हैं ।

आधुनिक नाट्यतत्र मे दृश्यविधान, वस्तु-प्रस्तुतीकरण तथा पात्र-सभाषण मे ही पात्र-परिचय तथा उनका पारस्परिक सबध निहित रहता है और दर्शको को कौन पात्र क्या है तथा उसका अन्य पात्रो के साथ क्या सबध है, इसका भली प्रकार परिचय हो जाता है । लोकनाट्यो के शिल्प मे पात्रो का परिचय या तो दर्शको के पूर्व ज्ञान से उपलब्ध रहता है या वर्णन द्वारा उनका परिचय कराया जाता है । कुछ लोकनाट्यो, जैसे राजस्थान की रम्मतें, महाराष्ट्र के तमाशे आदि मे, पात्रो के प्रथम प्रवेश के साथ ही पात्र स्वय अपना परिचय देते हैं कि वे कौन हैं, कहाँ से आये हैं और उनकी चारित्रिक विशेषताएँ क्या हैं ? इस तरह पात्रपरिचय हो जाने के बाद टेकिये कथावस्तु का स्वरूप प्रस्तुत करते हैं और मगलाचरण, ईशवदना आदि के माध्यम से नाट्य लेखक, अभिनेता तथा नाट्य आयोजको के गुणानुवाद करते हैं। उस समय पात्र या तो रगमच पर ही स्थिरभावी होजाते है या बीकानेरी रम्मतो की तरह रगमच पर ही अपने निर्धारित स्थानो पर विधिवत बैठ जाते हैं। वर्ण्य विषय की समाप्ति पर वे टेकियो की टेक के साथ तीव्रगति से नाचने लगते हैं या अपने भालो की नोक पर पाँवो की ठोकर लगाकर रगभूमि मे गतिशील होजाते हैं या 'यक्षनाट्य' की तरह यवनिका के पीछे से मुद्राएँ दर्शाते हुए रगमच पर उछल पडते हैं और अपने विवादी पात्रो के साथ सभाषणों मे निरत हो जाते हैं। गीत नृत्यो की गगा बहने लगती है और दर्शकवृन्द उसमे गोते लगाने लगते हैं । एक ही बात को अनेक प्रकार से तथा ऐक ही गीत-सवाद को नाना प्रकार से धुनें बदल-बदल कर प्रकट किया जाता है। प्रस्तुतीकरण के इस वैविध्य के

कारण ही इन लोकनाट्यो का कलेवर अत्यधिक वढ जाता है और घंटो तक एक ही सवाद चलता रहता है, जवकि वात केवल यही कही जाती है कि "तूने मुझे कल अपमानित किया था। मैं इसका वदला जरूर चुकाऊँगा।" या "तुझे पहाड की चोटी से गिरा दूँगा।" या "तुझे मौत के घाट उतार दूँगा।" इन तरह वाद-विवाद होता है। क्रोध और आवेश की मात्रा के अनुसार धुने वदलती है। नृत्य की भगिमाओ मे तेजी आती है। साजवाज आकाश को फाडने लगते हैं। विजय प्राप्त करने पर विजेता छाती तानता हुआ रगमच को फाँदकर दर्शको मे घुस जाता है। पराम्न व्यक्ति यदि दुष्टात्मा होना है तो उमकी पराजय पर समस्त दर्शकगण तालियाँ वजाने लगते हैं और सर्वत्र हर्ष की लहर दौड पडती है। यदि वह मज्जन व्यक्ति है तो नमस्त जनना द्रवित हो जाती है और इस अनुचित व्यवहार पर विजेता को कोमने लगती है। परास्त हुआ व्यक्ति रगमच से कव उठकर भाग गया है, इनका किसी को पता नही है क्योकि परदा नही गिरता, रोशनी गुल नही होती। आगे की घटना यह है कि परास्त व्यक्ति अपने राजा के यहाँ फरियादी होकर जाता है परन्तु रास्ता वहुत विकट है। जिन गाँव मे यह घटना घटित हुई है वह राजधानी से काफी दूर है। उमके घायल शरीर पर गाँव के लोग औपधोपचार करते है तथा उसे राजधानी तक पहुँचाने मे उमकी महायता करते हैं।

घटनास्थल पर घायल होने के वाद दवा-दारू करने तथा जनता-जनार्दन का प्रेमभाजन वनकर उनकी सहायता से राजधानी तक पहुँचने की महत्वहीन एव अनाटकीय कथावस्तु को टेकिये, शायर, सूत्रधार, विदूपक, हलकारे आदि अपनी मधुर गायनशैली मे वर्णन द्वारा पूरा कर लेते हैं। यही वर्णन एक दृश्य से दूसरे दृश्य की कडी जोडता है तथा वीच की अवधि को पार करके कथा को सक्रिय वनाकर रगस्थल तक ले आता है।

आगे का प्रसग मूल रगमच के नीचे की भूमि पर संपादित नही होता। अव पीछे की भव्य अट्टालिका सक्रिय हो जाती है जिसकी दर्शकगण अवतक वडी उत्सुकता से प्रतीक्षा कर रहे थे। ऊपर राजदरवार लगा हुआ है। नर्तकी नाच रही है। गायकवृन्द गा रहे हैं। दर्शको का मनोरजन हो रहा है। फरियादी पहुँचता है। रागरग वद होजाता है। राजा आने का प्रयोजन पूछता है। यह प्रसग लगने मे वहुत छोटा है। फरियादी भी कोई विशेष व्यक्ति नही है। सभाषण मे तीव्रता तो तव आवे जव पति-पत्नी, प्रेमी-प्रेमिका, वादी-प्रतिवादी तथा दो चमत्कारिक पुरुषो के वीच सवादो की गगा

वहती हो। एक साधारण प्रजाजन राजदरबार मे पहुँचकर क्या फरियाद करे ? वैभव और समृद्धि से लिपटा हुआ राजा एक साधारण व्यक्ति से क्या बात करे ? कथावस्तु के तीव्रतम प्रसग ही सभाषण को गतिवान बनाते हैं परन्तु यह प्रसग नाट्यकार ने इसलिये चुना है कि यह फरियादी साधारण फरियादी नही है। उसमे एक रहस्य छुपा हुआ है। राजा ने अपने युवाकाल मे अपने दासीपुत्र को लोकलाज के कारण नदी मे वहा दिया था तथा उसकी माता को भी देश निकाला दे दिया था। वहते हुए इस वालक को दूर गाँव के किसी कुम्हार ने पालपोस कर वडा किया था। पिता पुत्र दोनो को ही परस्पर के इस घनिष्ट सवध का पता नही है।

लोकनाट्यो मे इस प्रकार के प्रसग जब भी आते हैं तो भारतीय नाट्य-परम्परा के अनुसार सवधित पात्रो की रक्त-प्रवाहिणी शिराएँ कपायमान हो जाती हैं। अज्ञात ही अज्ञात मे दोनो के हृदय हिलोरें लेने लगते हैं। दोनो के व्यवहार मे एक विचित्र सा आवेग उत्पन्न होता है। आत्मीयता अदर ही अंदर से प्रेरित करती है। दोनो किंकर्तव्यविमूढ होकर एक दूसरे की तरफ देखने लगते हैं। चाहते हुए भी एक दूसरे को सवोधित नही किया जाता। दर्शको मे उत्सुकता वढती है। भावनाएँ चरम सीमा तक पहुँच जाती हैं। गीतो की धुनें करुण स्वरो से ओतप्रोत होजाती हैं। शब्दावली कोमल-कान्त हो जाती है। राजा कह पडता है – मैं विचित्र सा अनुभव कर रहा हूँ, मेरा सिर चक्कर खारहा है। वह मूर्च्छित हो जाता है। फरियादी युवक भी विह्वल हो उठता है परन्तु वह रहस्य समझ नही पाता।

घटना आगे वढने से रुक जाती है क्योकि यह वर्ण्य विषय है। दृश्य-रूपक वनने की इसमे क्षमता नहीं है। टेकिये तथा अन्य परिचायकगण उलझी हुई कथा के धागो को सुलझाते हैं। वर्णन द्वारा प्रकट करते हैं कि नदी मे वालक वहकर किसी कुम्हार के हाथ लगा। वहाँ पर वह वडा हुआ। एक दिन वह वर्तनो के लिये मिट्टी खोद रहा था। खेत के मालिक ने मिट्टी खोदने से मना किया। झगडा वढ गया। मारपीट हुई। युवक फरियादी वनकर राजा के पास गया। उधर दासी पुत्र-वियोग मे जगल-जगल भटकती रही परन्तु कहीं उसे अपना पुत्र नही मिला। एक दिन वर्तन खरीदने के लिये किसी गांव मे कुम्हार के घर पहुँची। वहाँ पर उसने उस प्रौढ वालक को देखा। उसका प्रेम अदर ही अदर उमड़ आया। परिचय पूछने पर कुम्हार ने वतलाया कि उसने उस वालक को इस नदी मे वहते हुए पाया था। दासी

सारा रहस्य समझ गई और उसी कुम्हार के घर नौकर होगई और बालक का अज्ञात मे पालन-पोषण करती रही। यही दासीपुत्र राजा के पास फरियादी होकर पहुँचा था।

उधर राजा ने दरबारियो को हुक्म दिया कि इस युवक को कुछ दिन राजमहलो में बडे स्नेहभाव से रखा जाय। कथावस्तु का यह श्रव्य-प्रसग टेकियो, शायरो तथा कवियो का वर्ण्य विषय बन गया। पुन घटनाएँ रगमंच पर उतर आई। माँच के नीचे जाजम पर भगवाँ वस्त्र पहिने एक ब्राह्मण पूजा-पाठ मे निरत था। राजा स्वय उस स्थल पर आया। समस्त दृश्य महलो से उतरकर ब्राह्मण के आगन मे आगया। राजा ने स्वय का परिचय इसलिये नही दिया क्योकि जब वह प्रथम बार रगमच पर आया था तो नाट्य-परम्परा के अनुसार वह दर्शको को अपना परिचय दे चुका था। नाट्यकार यह मानकर चलता है कि राजा का परिचय जनता को पहले ही हो चुका है। परन्तु प्रथम बार रगमच पर उतरनेवाले ब्राह्मण का परिचय इसलिये आवश्यक नही समझा गया, क्योकि वह एक महत्त्वहीन पात्र था। इसलिये टेकिये द्वारा ही उसका परिचय दिया जाना पर्याप्त समझा गया। राजा तथा ब्राह्मण के बीच सभाषण होने के बाद ब्राह्मण शकुन विचार कर कहता है कि वह फरियादी कुम्हार-पुत्र न होकर तुम्हारा ही दासीपुत्र है। लोकनाट्यो मे मानवी आदर्शों से कही अधिक लोकाचार को महत्त्व दिया जाता है। इस रहस्योद्घाटन के बाद ही राजा के दिल में फरियादी के प्रति प्रेम वही धरा रह गया और वह आवेशपूर्वक घटनास्थल से हट गया।

इस स्थल पर जो दृश्य-परिवर्तन हुआ उसमे केवल ब्राह्मण तथा राजा का ही प्रस्थान दिखलाना पर्याप्त समझा गया। टेकियो तथा पृष्ठगायको ने शेष प्रसग को वर्णन मे लपेटकर यह बतला दिया कि राजा ने बच्चे की फरियाद सुनने के बजाय उसे देश निकाला दे दिया और अपनी माँ से वह मिल न पावे इसलिये उस राज्य की समस्त सीमाएँ उसके लिये बंद करदी।

रगमच के प्रमुख माच के नीचे की जाजम अब दृश्य-परिवर्तन के साथ ही जंगल, पहाड तथा बीहड घाटी बन गई। लडका देश निकाले के बाद जगल-जगल भटकने लगा। टेकिये जगल की बीहडता तथा भयानकता का वर्णन-गान कर रहे हैं और दासीपुत्र जल्दी-जल्दी जाजम के चारो ओर चक्कर लगा रहा है। इसी घुमाव मे उसे कई दिन बीत गये, कई रातें बीत गई, कई वर्ष बीत गये। रास्ते मे उसे एक शेर भी मिलता है। उससे वार्तालाप

होती है। लोकनाट्यो के पशु भी इन्सान की तरह बात करते हैं। सिंह उसे रास्ता दिखलाता है। लोकनाट्यो के हिंसक जानवर दुष्टो के लिये घातक होते हैं परन्तु दुखीजनों के सहायक होते हैं। राजस्थान के 'रासधारी' नामक नाट्य मे राम और गिद्ध का संवाद अत्यन्त मार्मिक ढग से दर्शाया गया है और सीता अशोकवाटिका मे पशु-पक्षियो से बात करती है।

उक्त उदाहरणो से यह स्पष्ट है कि भारतीय लोकनाट्य घटनात्मक नही होकर गाथात्मक होते हैं। आधुनिक नाट्य मे नाट्यकार को किसी कथाविशेष को नाट्यरूप देने के लिये उसके समस्त वर्णनात्मक एव गाथात्मक पक्ष को सवादात्मक रूप देकर तदनुसार उसका दृश्यविधान करना पडता है और कथावस्तु को पूर्णता तक पहुँचाने के लिये अनेक नाटकीय तत्त्वो, प्रेरणात्मक प्रसगो तथा कुतूहलवर्धक स्थितियो का विधान करना पडता है, परन्तु लोकनाट्य इस जटिल तत्र की उलझनो मे नही फँसता। वह प्रचलित गाथा के समस्त तत्र को ज्यो का त्यो अपना लेता है और उसे अपने ढग से रगमच पर प्रस्तुत करता है।

उत्तर प्रदेश की रामलीलाओ तथा रासलीलाओ मे प्रचलित गाथात्मक तत्त्वों पर ही नाट्यतत्त्व आधारित रहते हैं। रासलीला मे रासधारिये प्रचलित कृष्णलीलाओ के गीत गाते हैं और अनेक दर्शनीय प्रसगो को उनमे लपेटकर, उन अभिनेय-घटनाओ को प्रस्तुत करते हैं जिनमे भगवान् का चरित्रोत्कर्ष दर्शाया गया हो। ये विशिष्ट प्रसग हैं — कृष्णजन्म, कालियदमन, पूतनावध, गिरिवरधारण, माखनचोरी, चीरहरण, कसवध आदि। इन प्रसगो मे रासधारिये मूलगाथाओ का गीतवाचन करते हैं और लीला के विविध स्वरूप (पात्र) उनका अर्थ उलथाते हुए कभी गद्य मे कभी पद्य मे सभाषण करते हैं। यद्यपि ये सभी प्रसंग कथात्मक दृष्टि से एक सूत्र मे बँधे हुए नही हैं, परन्तु रासधारिये अपने टेक-गायन द्वारा उनके बीच की कडियां जोडते जाते हैं और कथावस्तु भगवान् कृष्ण की विविध लीलाओ का उत्कर्ष बतलाती हुई आगे बढ जाती है। इस शैली का रंगमंच रास की गोलाकार समतल भूमि ही है और वही सब घटनाओ की रगस्थली भी। इस नाट्यशैली मे दृश्य, स्थान तथा समय-परिवर्तन की एक बहुत ही सुन्दर प्रणाली विद्यमान है। एक प्रसग की समाप्ति पर सभी पात्र गोलाकार रास में सम्मिलित हो जाते हैं। यह रास प्रत्येक प्रसग के महिमागान तथा भगवान् श्रीकृष्ण की विविध लीलाओ के समापन के रूप मे प्रस्तुत होता है। राजस्थानी भीलो के गवरी नाट्य मे भी

प्रत्येक प्रसग के वाद गोलाकार सामूहिक नृत्य की योजना है जो विविध दृश्यो को एक सूत्र मे जोडता है ।

मथुरा की रगमचीय रामलीलाओ मे भी कथावाचक रामचरितमानस का पाठ करते हैं । रामलीला के विविध स्वरूप प्रारम्भ मे रंगमच पर वैठ जाते हैं। उनकी आरती उतारी जाती है तथा मंगलगान होता है । तदुपरान्त चौपाई का अक्षुण्ण पाठ प्रारम्भ हो जाता है । कथा के वर्ण्य विपय चौपाइयो मे समाहित हो जाते हैं तथा अभिनयस्थलो पर पात्र विविध वेशभूपाओ मे रगमच पर आते हैं तथा चौपाई-गायन के उपरान्त उनका अर्थ गद्य मे उलथाते हुए संभापण करते हैं। दृश्यपरिवर्तन कभी परदे के माध्यम से या कभी अपने आप वर्ण्य पाठ के साथ सपन्न हो जाता है। तत्काल राजदरवार लग जाता है । राम वनगमन पर पात्रगण रगमच पर कई वार चक्कर लगाते हैं । रगमच के नीचे, सामने या रगमच के किसी एक कोने मे पचवटी का अस्तित्व समझ लिया जाता है। इसी तरह अवधपुरी, जनकपुरी, लकापुरी आदि भी वीच मे छूटे हुए रगमच के नीचे विछी हुई जाजम पर अवस्थित समझली जाती हैं । दृश्यपरिवर्तन के समय कथावाचक ज़ोर-ज़ोर से कथावाचन करने लगते हैं । साज़ो की आवाज़ वुलन्द हो जाती है । एक ही दिन मे रामलीला को समाप्त नही करने के पीछे भी एक विज्ञान है । एक दिन मे पूरे होने वाले प्रसग विशिष्ट अवधियो को समेटते हैं तथा एक ही स्थल पर अधिक से अधिक प्रसग अभिनीत हों, उसका भी प्रतिदिन के दृश्य की परिपूर्ति के समय पूरा ध्यान रखा जाता है । १५ दिन की रामलीला के १५ प्रसंग या १५ स्थलो का अनुमान लगाकर नाट्य नियोजित किया जाता है ।

अधिकाश लोकनाट्यो मे विविध प्रसग आपस मे वहुत ही ढीले-ढाले गुंथे हुए नज़र आते हैं । एक दृश्य दूसरे का पूरक हो यह भी आवश्यक नही है । वल्कि कही-कही तो स्वय नाट्य के पात्र भी एक दूसरे के पूरक नही होते । कभी-कभी मनोरजनार्थ वीच-वीच मे आई हुई अप्रासगिक घटनाएँ मूलकथा के सूत्र को तोड देती हैं और उनका सम्वन्ध आने वाले प्रसग से मुश्किल से जुड़ता है । किसी विशेष उद्देश्य से नाट्य मे अनेक पात्र ऐसे भी प्रयुक्त होते हैं जो अपना पूर्ण उत्कर्प वतलाये विना ही कही छिपे रहते हैं ।

लोकनाट्यो मे कुछ प्रसग ऐसे भी हैं जो किसी विशेप लक्ष्य से संपादित नही होते । वे केवल किसी तात्कालिक महत्ता के लिये प्रयुक्त होते हैं और मूल-कथा को परिपुष्ट नही करते । लोकगाथाओ मे जिस तरह अनेक प्रासंगिक

अप्रासगिक गाथाएँ आती जाती हैं और अपनी पूरी झलक दिखाये विना ही विलीन हो जाती हैं, उसी तरह लोकनाट्यो के प्रसगो का अप्रासगीकरण चलता ही रहता है। लोकनाट्यो के व्यवहार-पक्ष मे इस तरह के चाहे कितने ही क्षेपक आते हो, परन्तु उनके समापन के समय अधिकांश कथावस्तु भटक कर भी एक जगह आ जाती है तथा किसी शुभ लक्ष्य की परिपूर्ति करती है। खोये हुए प्रसगो मे से वे प्रसग, जो कथावस्तु के प्रमुख अग हैं, पुन माला मे गुथने लग जाते है तथा भूलभुलैया मे पडे हुए चरित्र पुनः रास्ते पर आ जाते हैं।

लोकनाट्यो मे लोकगाथाओ की तरह ही समस्त कथावस्तु समतल भूमि पर बहनेवाली शान्त स्निग्ध सरिता की तरह अवाध गति मे वहती है। ऐसी चमत्कारिक परिस्थितियाँ उत्पन्न करने की उसमे प्रवृत्ति नही होती जिससे श्रोता एव दर्शकगण मे निरन्तर कुतूहल वना रहे। समस्त लोकनाट्य गाथात्मक होने के नाते उनकी कथावस्तु अपने समस्त वैभव को किसी भी रहस्य या चमत्कार मे लपेटे विना ही दर्शक एव श्रोताओ के सामने प्रस्तुत हो जाती है। लोकनाट्यो का समस्त कलेवर अपने आडम्बर एव साज-सज्जाहीन खुले रगमच की तरह ही खुला रहता है। उसमे कोई भी चीज़ छिपाने तथा रहस्मय ढग से प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति परिलक्षित नही होती। आधुनिक नाट्य की तरह उसे अपनी वर्ण्य सामग्री को बचाकर केवल दृश्यात्मक सामग्री ही प्रस्तुत नही करनी पडती और न उस छिपाई हुई वर्ण्य सामग्री को किसी चमत्कार तथा रहस्योद्घाटन की शैली मे पेश करने की ही आवश्यकता होती है।

लोकनाट्यो का आधुनिक नाट्यो पर प्रभाव

लोकनाट्यो की स्वस्थ, वैज्ञानिक तथा मानव-स्पर्शी परम्पराओ ने आधुनिक नाट्यो को काफी मात्रा मे प्रभावित किया है। वे मानवीय भावनाओ तथा आकाक्षाओ का सही अर्थो मे प्रतिनिधित्व करते हैं तथा उन्हे मानवीय अभिव्यक्ति की पूर्ण स्वतत्रता प्राप्त है। रगमचीय विधाएँ, तत्र तथा शास्त्र आदि के नियत्रण से उनकी आत्मा कुठित नही होती। आधुनिक नाट्यतत्र ने नाटक को इतना जकड लिया है कि वह एक प्रकार से यंत्र सा वन गया है। उसमे से प्राण जैसे निकल गये हैं। आधुनिक दृश्यविधान तथा यत्र की चमत्कारिक उपलब्धियो ने दर्शको को आश्चर्यचकित अवश्य कर दिया है, परन्तु उनकी आत्मा नाटक की आत्मा से आत्मसात् नही करती।

आधुनिक विद्युत् के चमत्कारो ने वे स्थितियाँ रगमच पर उपस्थित करदी है जिनकी कल्पना भी नही की जा सकती है। इन तकनीकी उपलब्धियों से आज मोटर, रेल तथा हवाईजहाज भी रगमच पर आ जाते हैं। समुद्र की तूफानी लहरें रगमच पर उतर आती हैं। मनुष्य रगमच पर ही आकाश और पाताल से बातें करने लगता है। प्रकाश के चमत्कार से आदमी क्षण भर मे रगमच पर प्रकट होता है और क्षण ही भर मे अन्तर्धान हो जाता है। ध्वनिविस्तारक यत्र के माध्यम से पात्र दर्शको के कान ही मे बोल देता है। वेशविन्यास के आधुनिक चमत्कारो से युवा पुरुष वृद्ध बन सकता है और वृद्ध युवा मे परिवर्तित हो सकता है। रगमच पर ही वे स्थितियाँ पैदा की जा सकती हैं कि दर्शको को स्वय किसी भी स्थिति की कल्पना करने की आवश्यकता नही। रगमच पर पात्र इस निपुणता और पूर्णता के साथ पेश किये जाते हैं कि उनके वास्तविक मानवीय स्वरूप की कल्पना करना ही मुश्किल है। कौन व्यक्ति किसका अभिनय कर रहा है, यह भी पता लगाना नितात कठिन है। पलक झपने मात्र से दृश्य बदल जाते हैं। क्षणभर मे मूसलाधार वर्षा होने लगती है। क्षण मे पृथ्वी भयकर ताप से झुलसने लगती है। आधुनिक नाट्य की ये सब उपलब्धियाँ मनुष्य को आश्चर्य मे डाल देती हैं। फिल्मो के प्रचार ने, जहाँ इन रगमचीय नाटको को क्षति पहुँचाई है, वहाँ उनके काम को हल्का भी किया है। फिल्म और नाटक का एक सम्मिलित प्रयोग आज के रगमच की विशेषता बन गई है। वास्तविक रगमचीय दृश्य के साथ ही फिल्म चल पडती है, जिसमे रगमच के समस्त पात्र अपनी पूर्व स्थिति से निकल किसी परिवर्तित स्थिति मे दृष्टिगत होते हैं। पलक मात्र से वे कहाँ से कहाँ पहुँच जाते हैं। जो दृश्य रगमच पर असभव से प्रतीत होते हैं, उनको फिल्म द्वारा इस तरह प्रदर्शित किया जाता है कि वे वास्तविक ही नज़र आने लगते है।

इन सब विस्मयकारी तकनीकी चमत्कारो मे दर्शक की आँखे उलझ जाती है और वह नाटक की मूल आत्मा तक नही पहुँच पाता। प्रदर्शनोपुरात दर्शक यही कहते हुए निकलता है—नदियो की भयकर बाढें रगमच पर किस खूबी से दिखलाई गई थी, ज़मीन पर खडा हुआ आदमी बात ही बात मे किस तरह आकाश मे उड गया, भयकर आग की लपटो ने रगमच का बाल भी बाका नही होने दिया। विरलो ही के मुँह पर यह सुना जाता है कि अमुक पात्र ने कितना सुन्दर अभिनय किया तथा नाट्य लेखक की कलम ने कितना सुन्दर चमत्कार दिखलाया तथा अमुक पात्र ने कितना सुन्दर गाया ! सबको यह मालूम है कि वह गीत पात्र द्वारा नही गाया गया था। किसी पार्श्व-

गायक ने अपना कठ उसे प्रदान किया था। यही कारण है कि पात्र के कठ-से निकली हुई स्वरलहरियाँ उसकी वेदना के साथ सवेदित नही हुई।

ये सब तकनीकी उपलब्धियाँ लोकनाट्यो मे कहाँ ? उनका रगमच सादा, आडवरहीन, दृश्यविधान, प्रकाश-व्यवस्था व ध्वनिविस्तारक यत्र उनके पास कहाँ ? पात्रो को वेशभूपा वदलने के लिये पृथक् स्थान कहाँ ? यदि नदी पार करनी होती है तो लोकनाट्य के पात्र अपनी टांगो से कपडा ऊपर उठाकर चलते हैं। पहाडों पर चढना होता है तो वे ऊँची-ऊँची छलागें भरते हैं। यदि अभिनय करते समय तत्काल ही किसी दूसरे पात्र की आवश्यकता होती है तो पात्र स्वय अपने शरीर पर कपडा लपेटकर उस व्यक्ति का अभिनय करने लगते हैं तथा कभी-कभी कुछ विशिष्ट प्रसगो मे दर्शको को ही विवादी पात्र मानकर उनसे सवाद करने लगते हैं। दर्शक स्वय भी कभी-कभी आत्मविभोर होकर उनसे वातें करने लगता है। रगमच पर भावोद्रेक का वातावरण देखकर वह स्वय भी उत्साहित हो जाता है। वह रगमच के पात्रो के साथ रोता है और उनके साथ हँसता है। नाट्य-समाप्ति पर उसे यह भी भान नही रहता कि नाटक खत्म हो गया है या चल रहा है।

आधुनिक नाट्यो के उलझे हुए तत्र से कलाप्रेमी जनता-ऊव सी गई है। वह नाटक के मर्म तक पहुँचना चाहती है। वह पात्र से सही माने मे मित्रता करना चाहती है। उसकी भावनाओ मे अपनी भावनाओ का तालमेल विठाना चाहती है। वह पात्रो के चरित्र का उत्कर्प देखना चाहती है। उसके लिये यह कल्पना विलकुल कठिन नही है कि पात्र महलो मे वैठा है या झोपडी मे, दूर जगल मे विचर रहा है या शहर की सड़को पर। वह कल्पनाओ को पात्रो के माध्यम से साकार करना चाहता है, रगमचीय तन्त्र के माध्यम से नही। वह ध्वनिविस्तारक यत्र के माध्यम से सगीत का स्वाद नही लेना चाहता। वह अभिनेता के कठ से स्फुरित हुई असली आवाज़ का रसास्वादन करना चाहता है। दर्शकों की यह अभिलापा आधुनिक वहुतत्री नाटको से कभी पूरी नही हो सकती। दर्शको की यही पिपासा आधुनिक यान्त्रिक नाटको को आमूलचूल परिवर्तन की ओर प्रवृत्त कर रही है। रगमचीय नाटक को फिल्म की नकल नही वनाकर वास्तविक नाट्यमच वनाने की चेष्टा सर्वत्र दृष्टिगत हो रही है। यही कारण है कि आज का नाटक लोकनाट्योन्मुखी होरहा है।

आज सर्वत्र यह चेष्टा दीख पडती है कि लोकनाट्यो के उसूलो का आधुनिक नाटको मे अनुसरण किया जाय। रगमच या रगस्थली के चारो तरफ़

या कम से कम तीन तरफ दर्शको के बैठने की व्यवस्था प्राय सभी लोकनाट्यो मे होती है। दर्शक और प्रदर्शको के बीच का फासला कम करने की चेष्टा, जो आधुनिक ढग के नाट्यो मे हो रही है, वह लोकनाट्यो की प्रेरणा ही समझना चाहिए। यूरोप मे आधुनिक ढग के थियेटरो मे रगमच इस प्रकार बनने लगे है कि दर्शक-प्रदर्शको का फासला कम से कम हो गया है। अभिनेतागण दर्शको के अत्यन्त निकट आकर काम करते हैं। दर्शक अभिनेताओ की भावनाओ मे मिल जाता है। उनकी श्वासो मे अपनी श्वासें मिलाता है। ध्वनिविस्तारक यन्त्र भी अब आधुनिक थियेटरो से गायब हो गया है। दर्शक-प्रदर्शक का फासला कम हो जाने से अब दर्शको को-प्रदर्शको की मौलिक आवाज़ का आनन्द मिलता है।

आधुनिक थियेटरो मे अब तकनीकी उपलब्धियो पर विशेष आग्रह नही है। बक्सनुमा रगमच बनाने की प्रथा, जो अब तक प्रचलित थी, अब प्राय लुप्त सी हो रही है। पात्र पृष्ठभूमि से बाहर निकल कर दर्शको के बीच फैले हुए रममच पर फैल जाते हैं और अपने करतब दिखलाते हैं। किन्ही-किन्ही अत्यन्त आधुनिक थियेटरो मे तो अभिनेता के रगमचीय प्रवेश का मार्ग दर्शकों के बीच ही बना हुआ होता है तथा बहिर्गमन के लिए अब चमत्कारिक परि-स्थितियो की आवश्यकता नही है। अब पात्र रगमच पर सहज ही आ जाते हैं और सहज ही चले जाते हैं। दृश्यविधान की दृष्टि से भी आधुनिक रगमच पर एक क्रान्ति सी आई हुई है। दृश्यावली वाले परदो का समय अब बीत चुका। अब एक रगीन परदे को पृष्ठभूमि पर ही बडे-बडे दृश्यो की कल्पना करली जाती है। जिस तरह लोकनाट्यो मे पृष्ठभूमि की दीवार या परदे के सहारे सभी काम सम्पन्न हो जाते हैं उसी तरह आधुनिक नाटको मे भी एक ही परदे पर कई काम हो जाते हैं। लोकनाट्यो मे जिस तरह प्रतीक स्वरूप एक पेड की डाली को रगमच पर ले आने से समस्त जगल की कल्पना साकार हो जाती है, महलो के लिए केवल एक गुम्बजनुमा दरवाजा खडा कर देने से सम्पूर्ण महल समझ लिया जाता है, उसी तरह आधुनिक नाटक मे प्रतीकात्मक सकेतो के सिद्धान्त के अनुसार कोई भी साकेतिक वस्तु रख देने से पूरे दृश्य की कल्पना हो जाती है।

आधुनिक नाट्यो मे वेशभूषा की दृष्टि से भी पर्याप्त मात्रा मे सरली-करण की ओर आग्रह है। विशेष पात्र के शृगार मे उसकी पोशाक की कोई प्रतीकात्मक वस्तु पहिन लेने या लगा लेने से पूरे पात्र की कल्पना साकार हो जाती है। दर्शको को चकाचौंध मे डालने वाली कोई भी वस्तु या प्रसाधन का उपयोग आधुनिक रगमच पर अनुचित समझा जा रहा है। जिस तरह सगीतज्ञो

तथा वाद्यकारो को लोकनाट्यो मे खुले आम विठलाया जाता है, उसी तरह आधुनिक नाट्यो मे भी अब सगीतकारो को छुपाया नही जाता, रगमच पर सवके सामने विठलाया जाता है। दृश्य-परिवर्तन के लिए भी लोकनाट्यो की तरह ही आधुनिक रगमच पर सवके सामने रगमचीय सामग्री लाई या उठाई जाती है। रोशनियो की चकाचौंव अब आधुनिक नाट्यो मे विशेष महत्त्व नही रखती। आधुनिक नाट्यो मे रगमचीय विधान, वेशविन्यास, नाटयरचना आदि मे जो प्रतीकात्मक शैली का अनुसरण किया जा रहा है, वह सव लोक-नाटयो की ही देन है।

आधुनिक रगमच की रचना भी लोकनाटयो के खुले रगमच के अनुसार ही होने लगी है। प्रेक्षालय भले ही चहारदीवारी से आवृत हो, उसकी छत भी चाहे ढकी हुई हो, परन्तु उसका रगमच लोकशैली पर ही वनाया जाता है। उसका अभिनय-क्षेत्र अब प्रेक्षालय मे दर्शको की गोदी तक फैल गया है। दृश्य-परिधि भी अब डिविया जैसी नही वनकर लोकनाटयो के खुले झरोखे की तरह ही वनती है। लोकनाट्यो मे विविध स्थलो तथा अट्टालिकाओ से उतर-चढकर अभिनय करने की जो शैली है उसका प्रभाव अब आधुनिक ढग के रगमच पर भी स्पष्ट परिलक्षित होता है। अनेक आधुनिक ढग के प्रेक्षालयो मे रगमच के पीछे की दीवार पर उतरने-चढने की सीढियो का जो समावेश हुआ है वह इन्ही लोकनाटयो का प्रभाव समझना चाहिए। इन्ही सीढियो से पात्र उतरते-चढ़ते तथा रगमच पर आते हैं।

यूरोपीय थियेटरो में इस प्रकार के अनेक प्रयोग हो रहे हैं। लोकनाट्यो की तरह रगस्थली के चारो ओर दर्शको के वैठने की प्रणाली भारत मे अनादि-काल से चली आ रही है। आज भी अनेक लोकनाटय गोलाकार रगस्थली की शैली मे ही प्रस्तुत होते हैं। यूरोप मे कई आधुनिक थियेटर इस शैली मे ही निर्मित हुए हैं। रगस्थली समतल भूमि पर गोल आकार मे होती है, जिसके चारो ओर दर्शको के वैठने की गेलेरियाँ हैं। नाटच-प्रस्तुतीकरण मे भी अभि-नेता गोले मे वैठे हुए दर्शको का पूरा ध्यान रखते है। अभिनय-स्थल से चारो दिशाओ में निकली हुई गलियाँ होती हैं जिनसे प्रदर्शक रगस्थली मे प्रवेश करते हैं और अभिनयोपरान्त पुन. वहिर्गमन करते हैं। रगस्थली के ऊपर छत पर लगी हुई रोशनियो का जाल लगा रहता है, जो अभिनेताओ के अग-प्रत्यग को आलोकित करता है। यह प्रकाश-व्यवस्था इस चतुराई से की गई है कि रगस्थली के अलावा प्रेक्षालय के सभी क्षेत्र अधकारमय होते हैं। कभी-कभी

अभिनेता अपने अभिनय की समाप्ति पर दर्शको के बीच ही बैठ जाते हैं। दर्शकगण प्रदर्शन मे इतने लीन रहते हैं कि उन्हे यह पता भी नही रहता कि अभिनेता कहाँ गये, कहाँ से आये और कहाँ बैठे हैं।

जिस तरह लोकनाट्यो मे अनेक स्थितियाँ तथा कलाप्रसग की अनेक बाते दर्शको की कल्पना पर छोडदी जाती है, उसी तरह आधुनिक नाट्यतत्र मे भी नाट्यप्रसग की कई बाते दर्शको की कल्पना पर अवलबित रहती है। आधुनिक नाटको मे परदे तथा दृश्यावलियो की योजना भी दिन-ब-दिन कम होती जाती है और केवल प्रतीको के सहारे नाटक चलता है। बिना किसी बाह्य उपकरण के नाटक रगस्थली मे शुरू हो जाता है और दृश्य-परिवर्तन के समय रगमच को अधकारग्रस्त कर देना ही पर्याप्त समझा जाता है। इन सब आधुनिक परिवर्तनो से यह परिलक्षित होता है कि आधुनिक रगमच को लोकपरम्पराओ ने कितना प्रभावित किया है। रगमचीय उपकरणो मे जितनी ही सरलीकरण की प्रवृत्ति आई है उतना ही नाटक ताकतवर बना है तथा अभिनय मे जान आई है। नाटकीय बणघट तथा नाट्याभिनय की तकनीकी बारीकियो मे फँसकर भारतीय शास्त्रीय नाट्य जिस तरह नष्ट हो गया उसी तरह की स्थिति आज आधुनिक तत्र मे फसे हुए नाटको की हो रही है। दोनो के ह्लास के पीछे लोकनाट्यो की ही बहुमुखी प्रतिभा का हाथ है। लोकनाट्यो की रचना मे जिस तरह सभी नाट्यतत्त्वो के विकास की आवश्यकता नही समझी जाती, उसी तरह आधुनिक नाट्य की बणघट मे भी सभी नाटचतत्त्वो के प्रतिपादन की आवश्यकता नही समझी जा रही है। भारतीय आधुनिक नाट्यतत्र के विकास मे लोकनाट्य जितना सहायक हुआ है उतना शास्त्रीय नाट्य नही। आधुनिक नाट्यो के कथानक अब शास्त्रीय नाट्यो की तरह उच्चकुलीय तथा उच्चवर्णीय महापुरुषो के जीवन पर ही अवलबित नही रहते। अब निम्नवर्गीय व्यक्ति भी आधुनिक नाटक का विषय बन सकता है। आधुनिक नाटक के लिये यह भी आवश्यक नही है कि नाट्य का नायक कोई दुष्ट या खल नही हो। यदि उसके जीवनवृत्त मे भी नाट्यतत्त्व विद्यमान हैं और कथाप्रवाह चरम तक पहुँच सकता है तो वह भी नाट्यका विषय बन सकता है। लोकनाट्यो की यह परम्परा आधुनिक नाट्यरचना मे अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। भारतवर्ष मे पिछले १०० वर्षों मे अनेक नाटक लिखे और खेले गये हैं परन्तु एक भी नाटक ऐसा नही है जिसने शास्त्रीय नाटको का अनुशीलन किया हो।

आधुनिक ढग के भारतीय नृत्यनाटयो तथा बेले नाटयो को भी लोकनाटयो ने सर्वाधिक प्रभावित किया है। भारतीय लोकनाटय यूरोपीय ऑपेरा शैली के बहुत निकट हैं। वे उन्ही की तरह सगीतप्रधान होते है। उनमे भी जीवनवृत्त के रूप मे समस्त जीवन का चित्रण अपेक्षित नही है। भारत के आधुनिक नृत्यनाटयो ने तो अपनी समस्त परम्परा भारतीय लोकनाटयो से प्राप्त की है। आधुनिक भारतीय नृत्यमडलियाँ अपने नृत्यनाटय को बेले (Ballet) नाम से नामाकित करती हैं जब कि बेले की कोई परम्परा हमारे देश मे विद्यमान नहीं है। इस प्रणाली का उद्भव यूरोपीय देशो मे हुआ है। बेले की समस्त भगिमाएँ मूकाभिनय के रूप मे होती हैं जब कि भारतीय नृत्यनाट्यो मे मूकाभिनय जैसी कोई परम्परा नही है। हमारे देश मे वर्तमान नृत्य-विशेषज्ञो द्वारा, जो नृत्यनाट्य प्रस्तुत हो रहे हैं, उनकी समस्त पृष्ठभूमि लोकनाट्यो ही से प्राप्त हुई है। इन नाट्यो के प्रमुख प्रवर्तक हैं श्री उदयशकर, सचिनशकर, स्वर्गीय शान्तिवर्धन, नरेन्द्र शर्मा आदि। इन स्वनामधन्य कलाकारों द्वारा रचित लगभग सभी कृतियाँ लोकाधारयुक्त हैं। इनके नृत्यो व नाट्यों के प्रस्तुतीकरण में लोकशैली का पूर्ण रूप से प्रतिपादन हुआ है। खुले रगमच की शैली मे न्यूनतम दृश्यविधान से ही इनकी कृतियाँ अत्यत प्रभावशाली ढग से प्रस्तुत होती हैं। वाद्यकार भी खुले आम सबको दीखते हुए बैठते हैं तथा सादे रग के परदो की पृष्ठभूमि पर स्थितिविशेष के सूक्ष्म प्रतीको द्वारा बडे-बडे दृश्य-विधानो की कल्पना साकार की जाती है। वेशभूषा तथा साज-सज्जा मे भी प्रतीकात्मक स्वरूपो के सहारे कठिन से कठिन कार्य सिद्ध कर लिये जाते हैं। श्रीयुत नरेन्द्र शर्माकृत रामलीला लोकशैली का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। इस रामलीला के समस्त दृश्यविधान, वाचन, गायन, नृत्य, वेशविन्यास तथा रगमचीय उपकरण पूर्णरूप से लोकशैली का अनुशीलन करते हैं। लोकनाट्यो की तरह ही एक ही स्थल पर अनेक स्थितियो का प्रस्तुतीकरण इस रामलीला की विशेषता है। उत्तर प्रदेश तथा दिल्ली की अनुष्ठानिक रामलीलाओ ने इस रचना को सर्वाधिक प्रभावित किया है। इन रामलीलाओ मे पात्र जिस तरह एक स्थिति से दूसरी स्थिति मे प्रयाण करते हैं उसी तरह इस रामलीला मे भी पात्र प्रयाण करते हैं। दृश्य-परिवर्तन भी अधिकाश लोकशैली मे ही होते हैं। समस्त नाटिका मे ऊपर-नीचे या अगल-बगल चढने-उतरने तथा खिचनेवाले परदो का सर्वथा बहिष्कार किया गया है। आधुनिक नाट्यतत्र के चौखटीय रगमच की शैली भी इसमे नही अपनाई गई है। दर्शकगण रगमच की तीनो दिशाओ मे बैठते हैं तथा समस्त रामलीला

के लुप्तप्राय अशो की पूर्ति रगमच के प्रतीकात्मक प्रस्तुतीकरण से बडी आसानी से कर लेते हैं। रामलीला के समस्त पात्रो की वेशभूषा भी लोकशैली की वेशभूषा से ही प्रेरित हुई है। जनकपुरी, अयोध्या तथा लका के दृश्य भी बिना विशेष साज़-सज्जा के सामान्य प्रतीको के सहारे बड़े प्रभावशाली ढग से रगमच पर उपस्थित किये जाते हैं। पचवटी और चित्रकूट के दृश्यो मे केवल एक प्रतीकात्मक वृक्ष और पर्णकुटी ही समस्त वनखड का प्रभाव पैदा कर देते हैं। श्रीयुत सचिनशकर की रामलीला मे यद्यपि लोकशैली का पूर्णरूपेण प्रतिपादन नही हुआ है फिर भी नाट्य-विधान तथा दृश्य-विधान की दृष्टि से वह भी पूर्णरूपेण लोकाधारित ही है। इस नृत्य-नाटिका की भावाभिव्यंजनाएँ तथा अगभगिमाएँ लोकशैली पर आधारित नही हैं फिर भी इसके समस्त लोकनृत्य लोकाधारयुक्त ही हैं। लिटिल वेले ग्रुप की कठपुतली रामलीला भारतीय कठपुतलियो की अगभगिमाओ तथा उसके प्रस्तुतीकरण का बहुत ही सुन्दर प्रतिरूप है। श्रीयुत पार्वतीशकरकृत डिसकवरी आफ इण्डिया (Discovery of India) यद्यपि अनेक शैलियो का एक मिश्रण है, फिर भी प्रस्तुतीकरण और दृश्यविधान की दृष्टि से उसे लोकनाट्य प्रणाली ने काफी प्रभावित किया है। बम्बई के श्रीयुत जोगेन्द्र देसाईकृत राम-शबरी नृत्य-नाटिका भी यद्यपि दृश्यविधान की दृष्टि से आधुनिक नाट्यतत्र से काफी प्रभावित हुई है परन्तु उसके समस्त लोकनृत्य और उसकी वेषभूषाएँ लोकाधारयुक्त ही है। गुजरात के सुप्रसिद्ध भवाई अभिनेता श्रीयुत जयशकर सुन्दरी कृत मैनागूजरी नामक नृत्य-नाटिका तो लोकनृत्य-नाट्य का एक बहुत ही परिमार्जित और आधुनिक स्वरूप है। इसकी समस्त अभिव्यजनाएँ और सवाद-गीतो की शैली विशुद्ध लोकनाट्यो की शैली है। प्रस्तुतीकरण मे भी लोक रगमच की भावी कल्पना के इस नाटिका मे बहुत ही सुन्दर दर्शन होते हैं।

श्रीयुत उदयशकरकृत छोटी-छोटी नृत्य-नाटिकाएँ, जिनका आधार पौराणिक कथाएँ हैं, यद्यपि शास्त्रीय अगभगिमाओ और प्रतीको का सहारा लेती हैं, फिर भी उनका समस्त प्रस्तुतीकरण और दृश्य-विधानो के प्रतीक लोकशैली से ही प्रभावित हुए हैं। श्रीयुत उदयशकर की सूक्ष्म कलात्मक दृष्टि ने शास्त्रीय और लोकनृत्यो मे अत्यत सुन्दर समन्वय प्रस्तुत किया है। शान्तिनिकेतन द्वारा प्रस्तुत नृत्य-नाटिकाओ मे, जिनमे 'चडालिका' तथा 'चित्रागदा' प्रमुख हैं, लोकनाट्य शैली का पूर्ण रूप से उपयोग हुआ है। 'लाहोरवा' तथा 'थवल चुगवी' जैसी मणिपुरी नृत्य-नाटिकाओ का उन पर बहुत बडा

प्रभाव है। रचमचीय प्रस्तुतीकरण तथा दृश्य-विधान तो उनके पूर्णरूपेण लोकाधारयुक्त हैं। इन नाटिकाओ के समस्त गीत भी लोकधुनो पर ही आधारित हैं।

भारतीय लोक-कला मडल, उदयपुर की नृत्य-नाटिकाएँ, जिनसे लेखक का सीधा सबध है, पूर्ण लोकाधार को अपने मे समेटे हुई हैं। मडल इस समय देश मे लोकनृत्य और लोकनाट्यो के खोज, शोध और सशोधन की प्रथम सगठित सस्था है। इसकी सभी रचनाएँ गहन अध्ययन और विशद सर्वेक्षण पर आधारित हैं। सस्था के क्षेत्रीय कार्यकर्ता लोकनाट्यो के विविध स्वरूपों का स्थलीय अध्ययन करते हैं और उनकी विविध विधाओ के तुलनात्मक विश्लेषण से अपने प्रयोग-विभाग को सुसम्पन्न करते हैं। लोकनाट्यो के प्रत्येक पक्ष का सर्वेक्षण सपूर्ण होने के उपरान्त ही विशिष्ट परम्परागत लोकनाट्य का आधुनिक सस्करण संस्था मे तैयार किया जाता है। इस तरह प्रचलित लोकनाट्यो की सम्पूर्ण आत्मा को यथावत् रखते हुए उनके जर्जरित स्वरूप को सप्राणित किया जाता है। लोकशैलीप्रधान प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से ये सशोधित लोकनाट्य जितने प्रभावशाली हैं उतने देश मे और कोई नही। ये सभी लोकनाट्य खुले रंगमंच की प्रणाली मे ही प्रस्तुत किये जाते हैं। रगमच के तीनों ओर दर्शको के बैठने की व्यवस्था होती है। दृश्य-विधान पूर्णरूप से प्रतीकात्मक एव लोकाधारयुक्त होते हैं। नाट्य की सभी वाक्-सवाक् अभिव्यजनाएँ सोलह आना लोकशैली मे ही प्रभावित हैं। पात्र लोकशैली ही मे प्रवेश करते हैं। सवाद आदि की व्यजनाएँ लोकशैली मे होती हैं तथा नाट्य की सम्पूर्ण वणघट लोकप्रणाली ही का आधार ग्रहण करती है। जिस विशिष्ट लोकनाट्य शैली पर नृत्यनाट्य आधारित रहता है, उसीकी धुनें उसमे गाई जाती हैं। संवादवहन भी उसी शैली मे होता है। मडल द्वारा रचित लोक-नाटिकाओ मे यदि कोई बहुत बडा परिवर्तन किया गया है तो यही कि प्रचलित लोकनाट्यो का कथा-प्रसग, जो कि बहुधा बहुत कमजोर और अपूर्ण होता है, इन नाट्यो मे सर्वांगीण बनकर अवतरित होता है। रात-रात भर ग्रामीण क्षेत्रों मे प्रदर्शित होने वाले मौलिक लोकनाट्य, जो अनेक क्षेपको के प्रवेश से अत्यंत जर्जर और तथ्यहीन होने लगे थे, लोककला मडल के प्रयास से पुन. नवजीवन लेकर अवतरित हुए हैं। इन लोकनाट्यो मे मूमलमहेन्द्र, मीरामगल, ढोलामरवण नामक नृत्यनाटिकाएँ विशेष उल्लेखनीय है। इन नाट्यो के सबध मे एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वे अधिकाश परम्परागत लोक-अभिनेताओ द्वारा ही प्रस्तुत किये जाते हैं।

इन सब उदाहरणो से यह अनायास ही सिद्ध हो जाता है कि रगमचीय प्रस्तुतीकरण तथा रचना-विधान की दृष्टि से आज के अधिकांश भारतीय नृत्य-नाट्य लोकनाट्यो की शैली का ही अनुसरण करने लगे हैं। वेशभूषाएँ, अभिव्यजनाएँ, सगीत तथा रगमचीय विधान सभी लोकनाट्यो से प्रेरित हैं। इन नृत्य-नाट्यों मे पात्रो का चुनाव भी लोककलाकारो मे से ही हो रहा है। लोकधुनो के साथ झाँझ, करताल, अपग, ढोलक, ढोल, नक्कारे, अलगोजे, पूगी, मादल जैसे लोकवाद्यो का भी इन लोकनृत्य-नाट्यो मे उपयोग होने लगा है। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि आधुनिक नृत्य-नाट्यो की साज-सज्जा तथा रगमचीय रचनाओ मे लोकनाट्यो का प्रभाव सर्वोपरि है। आधुनिक ढग के थियेटर मे भी, यदि ये लोकाधारित नृत्य-नाट्य प्रस्तुत होते हैं तो उनकी रचना, प्रस्तुतीकरण आदि मे लोकनाट्यो की ही रगत का आनन्द उपलब्ध होता है। ग्रामीण क्षेत्रो मे रात-रात भर प्रदर्शित होने वाले परम्परागत लोक-नाट्य इस यात्रिक युग मे धीरे-धीरे निष्प्राण भी होने लगे थे। अत॰ लोकनाट्यो की शैलीगत विशेषताओ का आधुनिक नृत्य-नाट्यो मे प्रवेश अपने देश के लिये बहुत बडा वरदान सिद्ध हुआ है। निश्चय ही लोकनृत्य-नाट्यो के पुनरुत्थान और युगानुकूल संशोधन के लिये हमारे देश मे बहुत ही सुन्दर परिस्थितियो का निर्माण हो रहा है।

लोकनाटच - संशोधन

लोकनाट्य-सशोधन एक ऐसा प्रश्न है जिस पर आज तक कोई भी विद्वान् एकमत नही हो सका है। कुछ विद्वान् चाहते हैं कि लोकनाट्य की गतिविधियो मे कोई बाधा उपस्थित न की जाय। वे जिस तरह चल रहे हैं उसी तरह उन्हे चलते रहने दें। यदि उनमे अपनी स्वय की ताकत है तो वे अपनी विविध नाट्य-विधाओ मे परिवर्तन स्वीकार करके अपना विकास स्वय करेंगे। कुछ विद्वानो का यह भी मत है कि यदि उनको समय रहते दिशा-निदेश न दिया गया तो वे अपनी स्वय की ताकत खो बैठेंगे और अनेक आधुनिक मनोरजनात्मक साधनो के सामने घुटने टेक देंगे। कुछ महानुभावो का यह भी सोचना है कि आधुनिक मनोरजन की विविध विधाएँ उन्हे इस तरह पकड लेंगी कि वे उन पर स्वभावत॰ ही हावी होकर उनके मनोरंजनात्मक पक्ष को शक्ति प्रदान करेंगी। उनके सोचने का आधार यह है कि लोकनाट्य सदा ही परिवर्तनशील होते हैं। वे युग के अनुसार बदलते है और सामाजिक प्रतिभा बिना नियोजन-आयोजन के उनकी रगत बदले बिना नही रहती। बगाल की

जात्राओ का प्रधान स्वरूप, जिसमे भक्तजनो के कीर्तन-गायन का अश प्रमुख था, समय की माँग के अनुसार रंगमचीय स्वरूप वन गया, यहाँ तक कि उसने अपना धार्मिक स्वरूप त्यागकर सामाजिक रूप भी ग्रहण कर लिया है। उत्तर प्रदेश की व्रहुस्थलीय रामलीलाएँ मथुरा-शैली की रगमचीय रामलीलाओ मे रूपान्तरित हुईं। व्रज की रासलीलाएँ मदिरो की सीमाओ से वाहर निकलकर भक्तजनो के आगनो तथा सामाजिक परिस्थितियो मे प्रविष्ट होने लगी। महाराष्ट्र के तमाशे अव सडको, चौराहो एव सार्वजनिक स्थलो को छोडकर व्यवस्थित थियेटरो एव नाट्यगृहो मे प्रदर्शित होने लगे तथा ग्राम्य-जीवन मे सरावोर हुआ यक्षनाट्य शहरी लोगो के उच्चस्तरीय मनोरजन का माध्यम वन गया। यही नही, उसका विशुद्ध लोकपक्ष भी शास्त्रीय पक्ष के साथ गले मिलने लगा और एक परिपक्व नाट्य-स्वरूप के रूप मे मान्यता प्राप्त करने लगा। गुजरात का भवाई जो पहले केवल ग्राम्यजनता के हल्के-फुलके मनोरजन का माध्यम था, आज नवीन नाट्यप्रसंगो को अपनाकर नई जुवान, नये परिवान एवं नवीन रगत के साथ समाज को आह्लादित करने लगा। परन्तु हमारे सामने सवसे वडा विचारणीय प्रश्न है कि क्या यह रुपान्तर देश के सभी लोकनाट्य स्वरूपो मे हुआ है या कुछ ही दीखते हुए स्वरूप इस प्रक्रिया के वीच गुजरे हैं ?

हमे यह भी गहराई से देखना है कि ये रूपान्तरित स्वरूप, जिनमे जात्रा, रामलीला, तमाशा, यक्षनाट्य, भवाई आदि हमारी नजर को पकड चुके हैं, परिवर्तन की स्वाभाविक प्रक्रिया मात्र से ही परिवर्तित एव विकसित हुए हैं या इनके पीछे सशोधको की कोई वडी ताकत है, जिनसे इनको दिशा-निदेश प्राप्त हुआ है। जो विद्वान् यह सोचते हैं कि ये लोकनाट्य ज्यो-के-त्यो अपने भाग्य के भरोसे पर छोड दिये जाने चाहिये, उनका ध्यान देश की उन विभिन्न लोकनाट्य शैलियो की ओर खींचना पड़ेगा, जो अपनी अन्तिम साँसें गिन रही हैं। उनमे हैं – राजस्थान का कुचामणि ख्याल, तुर्रा कलगी के खेल, शेखावाटी रगत के खेल, रावलो, गधर्वों तथा भीलो के खेल, हरियाणा के स्वाँग, महाराष्ट्र का ललित तथा गोधल, काश्मीर का भांड जश्न, आसाम का अकिया नट, मध्यप्रदेश के माच, उत्तर प्रदेश की नौटकी आदि-आदि। ये सव नाट्यशैलियाँ आज केवल नाम मात्र को रह गई हैं। इनका गहराई से अध्ययन एव अवलोकन करने से यह पता लग सकता है कि उनके प्रतिपालक केवल लकीर पीट रहे हैं। क्योकि उन्हे रात भर प्रदर्शित करने की

परम्परा है इसलिये वे रात भर ही खेले जाते हैं और यदि उन्हें छोटा करके प्रदर्शित किया जाय तो गांव की रूढ़िग्रस्त जनता की भयंकर नाराजगी का शिकार होना पड़ता है। इन नाटकों में सारी रात रंगमंच पर क्या प्रदर्शित होता है, यह गहरे अध्ययन की चीज़ है। इन नाट्यों का केवल ढाँचा मात्र रह गया है। उनमे मूल खेल का अंशमात्र भी शेष नहीं है। जो कुछ भी बचा है वह अप्रासंगिक खेल-तमाशों, हँसी-मजाकों, फिल्मी गीतों एवं नृत्यों मे सराबोर है। भारत के अधिकांश लोकनाट्य गीत एवं नृत्यप्रधान हैं। कथोपकथन अपनी विशिष्ट परम्परा के अनुसार छंदबद्ध पदों मे गाये जाते है और उनकी अदायगी को पदसंचालन एवं विविध अंगभंगिमाओं से उद्दीप्त किया जाता है। अदायगी की इस पारम्परिक शैली मे चूंकि अब ताक़त नही रही है इसलिये रूखे-सूखे गद्य का सहारा लिया जाता है। केवल परिपाटी के रूप मे पद गाये जाते हैं और बाद मे समस्त कथोपकथन गद्य में निपटाये जाकर उन अंशो में केन्द्रित हो जाते है, जिनमे मज़ाक, नकल एवं हल्के-फुलके हास्य की गुंजाइश रहती है। ऐसे लचीले स्थलो पर अभिनेता खुलकर आज़ादी लेते है और ऐसे प्रहसन एवं संवाद जोड देते हैं जिनका मूल नाटक से कोई संबध नही है और जिनमे चुलबुलाहट, हल्के क़िस्म की मज़ाक तथा चुभने वाले गीत और नृत्य के सिवाय कुछ नही होता। इस तरह की अदायगी मे ढाँचा पारम्परिक लोकनाट्यो का अवश्य है, नक्कारा, ढोलक, तबलावादन वही है, नाट्य शिल्प भी वही है। रंगमंचीय विधान मे भी कोई जोडतोड़ नही किया गया है। पात्रों का प्रवेश, परिचय एंव अदायगी का तौर-तरीका भी वही है। मूलगीत आदि भी पारम्परिक धुनो मे ही गाये जाते हैं। परन्तु उनका कलेवर कही गायब होगया है। पारम्परिक घिसेपिटे कथोपकथन के कुछ अंश गाकर शेष अंशो के अर्थ गद्य मे उलथाकर समस्त नाटक ऐसे प्रसंगो पर रुक जाता है जिनका मूलनाटक से कोई संबध नही है। इसका परिणाम यह हुआ है कि इन नवीन प्रसंगो के लिये नाट्यपात्र अपनी तैयारी करता है तथा वेशविन्यास आदि भी उसी तरह की बनाता है। अत पुरातन लोकनाट्य के पात्र पुरातन कथानक का प्रस्तुतीकरण भी नवीन ढंग की पोशाकें पहिनकर ही करते हैं। राजस्थान के कुचामणी ख्यालो मे स्त्री-पात्र १०८ कलियो का घाघरा नही पहिनकर साटन का चिपकवाँ पेटीकोट पहिनता है। कंचुकी, कुरती आदि नही पहिनकर वह आधुनिक ढंग का ब्लाउज़ का प्रयोग करता है। वह राजस्थान की पारम्परिक कलात्मक वेशभूषा का परित्याग कर यह समझने की गलती करता है कि उसके दर्शको को वह पसंद है। उसे ज्ञात नही है

कि पुरातन शैली के घेरदार घाघरे की पोशाक त्यागकर तथा मुंह पर से घूंघट हटाकर स्त्री-पात्र की भूमिका अदा करने वाला यह पुरुष-पात्र हिजडे से अधिक और कुछ नही लगता। लोकनाट्यो के स्त्री-पात्रो की भूमिका पुरुषों के जिम्मे रखी ही इसलिये गई है कि वे अपनी अदायगी अधिक खुलकर कर सकें और पुरुष होते हुए भी स्त्रियोचित हावभाव प्रदर्शित करके दर्शको की वाहवाही प्राप्त कर सकें। परन्तु वह उस वाहवाही से वचित ही रहता है, क्योकि दर्शको की प्रशसात्मक प्रतिक्रिया उसकी कलात्मक अदायगी के कारण नही, उसकी भौंडी पुरुषोचित पोशाक एवं हावभाव से उत्पन्न उसकी कृत्रिमता के कारण है। इन नाटको में जब १८वी शताब्दी के राजा ब्रिचिस, बुशशर्ट पहिनकर आते हैं तो अबोध जनता उन्हे इसलिये बर्दाश्त कर लेती है क्योकि उनके साथ प्रस्तुत होने वाली अन्य अपारम्परिक सामग्री भी उतनी ही आधुनिक है। उनका सिर पर पहिना हुआ साफ़ा ही केवल परम्परा का पालन करता है। आज लोकनाट्यों मे जो कुछ भी नवीनता के नाम पर हो रहा है वह उस तरफ केवल इशारा मात्र है।

यदि हम यह मानलें कि लोकनाट्यो मे परम्परा जैसी कोई वस्तु नही है, वह जमाने के अनुसार अपने आप बदलती रहती है तो निश्चय ही यह हमारे लिये विचारणीय प्रश्न है। राजस्थान की कुचामणी शैली के एक प्रमुख ख्याल प्रदर्शन मे भगी के घर बिकनेवाली तारामती हावभाव आदि की दृष्टि से किसी मनचली स्त्री से कम नही दिखलाई गई थी। मेहतर की पोशाक भी आधुनिक रेल-कर्मचारी के रूप मे डिब्बे साफ करने वाले मेहतर के अनुरूप ही थी। अपने पुत्र रोहिताश्व की मृत्यु पर विलाप करने वाली तारामती भगी के घर बिक जाने पर भी आधुनिक अलंकरण से अलंकृत थी। वह अपने गेय कथोपकथन मे बनावटी सिसकियाँ भरती थी और उसकी नृत्यमय अदायगी मे वह असाधारण ढंग से अपने कूल्हे और वक्ष-स्थल हिलाती हुई नाच रही थी। इसी कुचामणी शैली के चन्द मलयागिरी खेल मे भी चन्द एव मलयागिर को विश्वामित्र द्वारा ली हुई परीक्षा के फलस्वरूप समस्त राजपाट दान मे देकर वन-वन भटकना पड़ा था। उस विपदग्रस्त प्रसग मे जहाँ हृदय को द्रवित करनेवाले प्रसग आते हैं वहाँ उनका केवल स्पर्श मात्र करके ऐसे प्रसगो को प्रधानता दी जाती है जहाँ निम्नस्तरीय शृंगार एवं हँसी-मजाक को बढावा मिलता है। बीच-बीच मे इसी तरह की अनेक अप्रासगिक बातें जोड कर मूल कथा को कोसो दूर फेंक दिया जाता है। ये लोकनाट्य केवल निम्नस्तरीय

जनरुचि को तुष्ट करने के लिये इस तरह निम्नस्तर पर आ जाते हैं कि उन्हें देखने से यह भ्रम होना स्वाभाविक है कि लोक ल निम्नस्तरीय जनता के लिये मनोरंजन का साधन है। वे तरह अनयत एवं निरकुशतापूर्वक आगे बढ़ रहे हैं कि शिक्षित समाज उन्हे देखकर चिन्तित हो गया है। यदि लोकनाट्यो का यही निम्नस्तर हम स्वीकार करलें तो उनका वह पुष्ट स्वरूप, जिसने अनेक पुष्ट नाट्य-विधाओ को जन्म दिया है, केवल कपोल-कल्पना मात्र है। हमारे देश मे लोकनाट्यो के जो भी अनेक पुष्ट स्वरूप विद्यमान हैं, वे या तो लोकनाट्यों की परपरा ही में नही आते हैं या जो अपुष्ट और अशिष्ट तत्त्वों से युक्त है, वे ही लोकनाट्य है। गहराई से अध्ययन करने पर हम इसी नतीजे पर पहुँचते हैं कि ये परम्परा से विमुक्त अशिष्ट लोकनाट्य अपनी दिशा छोड बैठे हैं और ऐसे अशिक्षित और अर्थलोलुप हाथ मे चले गये है, जिन्होंने उनका स्तर गिरा दिया है। उदाहरणस्वरूप राजस्थान के शेखावाटी शैली के तथा कुचामणी शैली के ख्यालो को ही लीजिये। वे भी दिशा-निदेश के अभाव मे अपना रास्ता छोड़ने लगे है। यद्यपि कुचामणी शैली के ख्यालो से शेखावाटी शैली के ख्यालो का रचना-कौशल अधिक पुष्ट और गठा हुआ है फिर भी जनरुचि बदल जाने से उनका कोई पारखी अब नही रहा है। उनकी कथोपकथनात्मक शैली मे अभिनेता अपने गेय पदो की अदायगी मे सारी शक्ति लगा देता है। वह उनकी अत्यधिक और अस्वाभाविक लम्बाई का ख्याल नही रखता। परिणामस्वरूप दर्शक-समाज ऊबने लगता है। दर्शको की अभिरुचि को कायम रखने के लिये वह मूल नाटक के कुछ प्रसंग प्रस्तुत करने के बाद आधुनिक ढग की नकलबाजी एव गजलबाजी मे उतर जाता है।

यही हाल मथुरा शैली की रामलीलाओ एव उत्तर-प्रदेश की नौटकियो का भी है। रामलीलाओ मे अनेक विकृतियाँ आ गई हैं। मूल तुलसीकृत रामायण का आधार छोडकर अनेक अप्रासगिक नकलो ने उनमे प्रधानता प्राप्त की है। चित्तौड के तुर्रा कलगी के खेलो का तो प्राय लोप ही हो गया है। वे जहाँ कही भी होते हैं उनमे सिवाय लकीर पीटने के और कुछ नही होता। मध्यप्रदेश के माचो का भी यही हाल हो गया है। वे इतने अश्लील तत्त्वो से परिपूर्ण हो गये हैं और अपनी परिपाटी का इतना अधिक परित्याग उनमे होने लगा है कि प्रायः वे अब तो होते ही नही हैं और यदि होते भी हैं तो उनके द्वारा उत्पन्न दगे-फिसादो के लिये पुलिस का सहारा लेना पड़ता है। तुर्रा कलगी के खेलो की भी कुछ वर्ष पूर्व यही स्थिति थी

जिससे अब उनका प्राय. लोप ही हो गया है। हरियाणा के स्वाँग भी इतने विकृत हो गये हैं कि शिष्टजन उन्हे देखना अपनी प्रतिष्ठा के विरुद्ध समझता है। ये सभी खेल अपने मूल गीत, नृत्य-प्रसंग एवं तत्र आदि त्यागकर अश्लीलता एव निम्नस्तर पर उतर आये हैं। उत्तर प्रदेश की नौटकियो मे भी साज़बाज़, पोशाक, परिधान, दृश्यावली, नाच, गान आदि मे परम्परा का त्याग बड़ी तेज़ी से हो रहा है। टिकटो से ये प्रदर्शन होने लगे हैं इसलिये दर्शक लोकनाट्य-परम्परा के अनुसार रातभर से कम की अवधि के प्रदर्शन देखना पसंद नही करते। स्त्री-पात्रो की भूमिका, परम्परा से विपरीत, अब स्त्रियाँ करने लगी हैं जिससे अदायगी तो घटिया दर्जे की हो गई है परन्तु उसमे अशिष्ट तत्त्वो का भी भरपूर प्रवेश हुआ है। समस्त लोकनाट्य-परंपरा मे स्त्रियो की अनुपलब्धि के कारण ही पुरुष स्त्रियो की भूमिका अदा नही करते बल्कि उनकी गायन एव नर्तन की बन्दिशें ही इतनी ताकतवर होती हैं कि स्त्रियाँ उनकी अदायगी मे सर्वथा असमर्थ सिद्ध हुई हैं। नौटकियो मे जहाँ पुरुष-पात्र अपने कथानक केवल गेय पदो से ही अदा करते हैं, वहाँ स्त्री-पात्र (जो वास्तव मे पुरुष ही होते हैं) उनके गेय-पदो को क्लिष्ट नृत्य एव पद-सचालन से सशक्त बनाते है। अब चूकि स्त्रियाँ ही नौटकियो मे स्त्री-पात्रो की भूमिका अदा करती हैं इसलिये वे उस पेचीदा नृत्य-अदायगी मे असमर्थ रहती हैं। उसकी पूर्ति उन्हे फरमाइशी गीतो से करनी होती है जिससे नौटकी का मूल क़लेवर तो कही धरा रह जाता है और केवल फरमाइश ही फरमाइश रह जाती है।

राजस्थान के भवाई आज से पन्द्रह वर्ष पूर्व तक अपने हास्यप्रधान खेलो से जनता का मनोरजन करते थे। भवाई की गायन, वादन एव नर्तन कला किसी समय सबको आश्चर्यचकित कर देती थी। प्रत्येक पात्र अपनी सूझबूझ से नवीन प्रसग बनाता चलता था और दर्शको को भी अपने अभिनय मे शरीक करता था। भवाई नाट्य की यह अत्यत अनौपचारिक एव दिखावे से हीन मौलिक शैली नाट्य-कला का सिरमौर थी। उस पर प्रहार हुआ दर्शकों की कुरुचिपूर्ण पसद का नही, समाज-सुधारको की पैनी तलवार का। उन्होंने उस पर अशिष्टता एव निम्नस्तरीयता का आरोप लगाकर उसे कडे नियंत्रण में बाँध दिया। फलस्वरूप भवाइयो ने अपनी इस उत्कृष्ट नाट्य-परम्परा को छोड हाथरसी खेलो की नीरस एव अस्वाभाविक शैली को अपना लिया। परिणाम यह हुआ कि भवाई के इन निष्प्राण खेलो को स्वय उनके यजमान भी देखना पसद नही करते। वृन्दावन का रास जो मन्दिरो के स्वस्थ, सुन्दर एवं भक्तिमय

वातावरण मे विकसित एव पोषित हुआ, आज भी अपनी मौलिकता की रक्षा इसलिये किये हुए है क्योकि इसका व्यवसायिक पक्ष गौण और धार्मिक पक्ष प्रबल है। भक्तजन रासलीला के लीला-स्वरूपो को ईश्वर के रूप मे ही देखते है। उनको प्रभु का अश मानकर उसी तरह उनकी आवभगत करते हैं। परन्तु राजस्थान स्थित फुलेरा ही की रासलीलाओ को लीजिये। वे अपनी विकृतावस्था को पहुँच गई है। वृन्दावन ही की वात है। राजस्थान के कुम्मावत रासलीलाओ के साथ वाद्यवादन का काम करते थे और स्वरूपनिर्धारण का कार्य ब्राह्मण जाति के रासधारी। इन कुम्मावतो ने मूल रासलीलाओ के विरोध मे अपनी स्वय की रासमंडलियाँ स्थापित की और किसी भी जाति के वच्चो को स्वरूपधारण की छूट देदी। इनका मुख्य लक्ष्य आजीविका उपार्जन था और मंदिर के पवित्र वातावरण से उनका कोई सरोकार नही था। अत वे अपनी धार्मिक पवित्रता कायम नही रख सके और भगवान् की लीलाओ का वह पावन स्तर भी रसातल को पहुँच गया। परिणाम यह हुआ कि ये लीलायें केवल नकल मात्र रह गई और धार्मिक पृष्ठभूमि के अभाव मे वे जनता का विश्वास प्राप्त नही कर सकी। अनेक विकृत नाट्य-प्रसग उनके साथ जुडकर यह विशिष्ट शैली विल्कुल ही भ्रष्ट हो गई।

उक्त उदाहरणो से भारतीय लोकनाट्य की आज की स्थिति स्पष्ट है। हम यदि यह मानलें कि उन्हे अपनी दिशा स्वय पकड़ने की छूट देदी जाय तो वह छूट तो आज है ही। उन्हे दिशा-निदेश देने का जहाँ प्रश्न है वह तो बहुत ही कम लोगो ने किया है और जिन्होंने किया है उनके शुभ और अशुभ दोनों ही परिणाम सामने हैं। परन्तु अधिकाश शैलियाँ तो ऐसी हैं जिन्हें कभी दिशा-निदेश मिला ही नही है और जिनको मिला है उनकी भी दो श्रेणियाँ हैं। एक तो वह जिन्हे विद्वानो, कलासेवको तथा नाट्य-विशेषज्ञो का मार्गदर्शन प्राप्त हुआ है और दूसरी वह जो धनोपार्जन की दृष्टि से निम्नस्तरीय पेशेवर कलाकारो द्वारा रूपान्तरित हुई है। दूसरी तरह के जहाँ भी प्रयास हुए हैं वहाँ इन नाटको की वड़ी हानि हुई है और जहाँ लोकनाट्य-तत्त्वो की सुरक्षा एव सेवा हेतु वैज्ञानिक ढग से काम हुआ है, वहाँ अत्यन्त शुभ परिणाम निकले हैं।

दिशा-निदेश के इस कार्य से हमारे देश में वे लोग सर्वाधिक चिढे हुए हैं जो परम्परा को छोड़ना नही चाहते, जिन्हे नवीनता से वेहद चिढ है तथा जो पुरातन कलाकृतियो को सग्रहालय की दर्शनीय सामग्री के रूप मे

ही सुरक्षित रखना चाहते हैं। इस वर्ग मे ऐसे महानुभावो की भी कमी नही है जो विकृति को विकृति के रूप मे ही देखना चाहते है तथा परम्परा की रक्षा के लिये सब प्रकार की गदगी को पचाने को तैयार रहते हैं। यदि हम इस सिद्धान्त को स्वीकार करलें तो फिर कला और समाज का सबध ही टूट जायगा।

लोक कला मे कोई चीज़ पुरानी नही होती। वह सदा ही नई बनी रहती है। लोकगीत, जो परम्परा से प्रचलित हैं, नये-नये अर्थ एव नये-नये स्वर प्रतिपल ही आत्मसात् करते रहते है और फिर भी वे लोकगीत ही रहते हैं। इसी प्रकार लोकनाट्य भी परम्परा को कायम रखते है। सर्वदा ही नई भावनाओ, नये स्वरूपो तथा नई साज-सज्जाओ को अपनाते हैं। इनके कथा-प्रसग पुराने होते हुए भी इनके पात्र सब नये रूपो मे प्रस्तुत होते हैं। लोकनाट्य के राम मर्यादा पुरुषोत्तम नही। वे आज के समाज के एक साधारण प्राणी हैं। सीताजी आज की गृहस्थ नारी की तरह चित्रित की गई हैं। लकापति रावण समाज के दुष्ट तत्त्वो का प्रतीक है। इसी तरह राजा हरिश्चन्द्र भंगी के यहाँ बिक जाने के उपरान्त उसी त्यागशील व्यक्ति का प्रतीक है जो आज भी समाज मे कुछ न कुछ आदर्श उपस्थित करने को उद्यत है। इसीलिये उसके पात्र हज़ार वर्ष पुरानी पोशाकें नही पहिनकर आज से कुछ वर्ष पूर्व की ही पहिनते हैं। लोकनाट्यो के समस्त पुराने कथानक एव पात्र नवीन समाज के विशिष्ट वर्ग के प्रतीक के रूप मे प्रकट होते हैं। अत लोकनाट्यो की यह वैज्ञानिक पृष्ठभूमि हम स्वीकार करले तो उसके दिशा-निदेश से हम किसी को आपत्ति नहीं होगी। लोकनाट्यो का प्रस्तुतीकरण, तत्र एव रचना-शिल्प तो परम्परा-सगत रहता है, कथानक भी परम्परा को पूरी तरह निभाता है, परन्तु कथोपकथन चिरनवीन रहते हैं। इसकी अदायगी मे नित नये परिवर्तन होते रहते हैं। दर्शको की अभिरुचि के अनुकूल उसमें प्रतिपल काट-छाँट होती है। नृत्य-भगिमाएँ बदलती हैं। धुनें रूपान्तरित होकर नवीन सुरावली ग्रहण करती हैं। पुरातन प्रसग नवीन वेशविन्यास मे प्रस्तुत होते हैं। वे आज की परिस्थितियो के अनुकूल बना लिये जाते हैं तथा आज की समस्याओ के साथ उनका साम्य बिठा लिया जाता है। पात्र अपने कथोपकथन, अपनी सुविधा एव आवश्यकता अनुसार स्वय गढता जाता है। दर्शकगण भी इस प्रक्रिया में अपना अत्यन्त सक्रिय सहयोग प्रदान करते हैं। नाटिका के सडेगले एव घिसेपिटे प्रसंग, जो आज

के जीवन से मेल नही खाते, अपने आप कटते चले जाते है, नये प्रसग जुडते जाते हैं तथा सामाजिक रचना के अनेक जौहर उन नाटिकाओ मे पद-पद पर परिलक्षित होते है जो समाज का दामन आजतक भी पकडे हुए हैं तथा जिन्हे समाज की सामान्य बुद्धि स्वाभाविक रूप से ग्रहण करती है ।

यह प्रक्रिया लोकनाट्यो की अपनी स्वाभाविक प्रक्रिया है । जो लोकनाट्य इस प्रक्रिया के बीच गुज़रे नही हैं वे वास्तव मे लोकनाटच नही है । अत विद्वानो को इस परिवर्तन को स्वीकार करना ही पडेगा । इस प्रक्रिया मे बिगाड तब होता है जब उसमे किसी व्यक्ति या वर्गविशेष का स्वार्थ निहित होता है और वे उसकी सामाजिक आवश्यकताओ का ध्यान न रखकर उसकी गति बदलने की निरर्थक कोशिश करते हैं । जो नाटच आज भी समाज के उच्चस्तर पर विराज रहे है तथा जिन्हे उच्चस्तरीय समाज का पोपण प्राप्त है, वे हर तरह से सुरक्षित हैं । अत देश के प्रचलित लोकनाटचो की वर्तमान स्थितियो, उनकी विविध तात्त्विक परम्पराओ, शैलियो और उन पर होनेवाली सामाजिक-प्रक्रियाओ का अध्ययन, विश्लेषण एव परीक्षण विधिवत् होना अत्यन्त आवश्यक है । यह कार्य लोकनाटच विषयक विद्वानो एव विशेषज्ञो द्वारा ही हो सकता है ।

इस जगह यह भी प्रश्न उठ सकता है कि लोकनाटच यदि विकृत होरहे है और उनकी लोकप्रियता नष्ट होरही है तो उन्हे पुन जीवित करने की क्या आवश्यकता है ? इस प्रश्न के उत्तर मे यही कहा जा सकता है कि मनोरजन की जो नवीन विधाएँ विकसित होरही हैं उनमे समाज की आत्मा के दर्शन नही होते । वे समाज को केवल परोक्ष मनोरजन प्रदान करते हैं और समाज की सामाजिक प्रतिमा का उनमे नितान्त अभाव रहता है । लोकनाटच की विविध विधाओ मे, रचना से लेकर प्रदर्शन तक, सामाजिक रचना-कौशल के दर्शन होते हैं तथा सामाजिक प्रतिभाएँ अभिव्यक्त होती है । सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि अपने ही लोगो द्वारा, अपने ही आँगन मे तथा अपनी ही प्रिय शैली मे गगा घर आती है । समाज के सर्वोत्कृष्ट कला-तत्त्व उसमे अभिव्यक्ति प्राप्त करते हैं । साज़िन्दे, गायक, नर्तक, अभिनेता, दर्ज़ी, बढई, हलवाई, कवि, विद्वान्, आदि सभी अपनी प्रतिभा का दान इस लोकप्रिय नाट्य-शैली को सहर्ष प्रदान करते हैं । अतीत के विविध धार्मिक, ऐतिहासिक, पौराणिक एव सामाजिक व्यक्तितत्त्व एव उनके जीवन की अनेक चमत्कारिक बाते हमारे सामने अभिनीत होती हैं । अत लोकनाटचो को हम किसी भी

दशा मे गलत हाथो मे पडा हुआ नही देख सकते। देश के लोकनाट्य-विशेषज्ञ तया विद्वान ही अपने अनुभव, अध्ययन एव परीक्षण से इन प्रचलित लोक-नाट्यो की गतिविधियों तथा उनमे होनेवाले सूक्ष्मातिसूक्ष्म परिवर्तनो का पता लगाकर उनकी विविध विकृतियो पर विचार कर सकते हैं। कुछ लोकनाट्य शैलियाँ तो ऐसी हैं जिनका दर्शक समाज ही गायब होगया है और कुछ ऐसी हैं, जैसे राजस्थान का अलीवक्शी खेल, जिसका कोई व्यवस्थित दल ही शेष नही रहा है। कुछ प्रकार ऐसे भी हैं जो आखिरी साँसें गिन रहे हैं। इन लुप्त, अलुप्त, सक्रिय, निष्क्रिय सभी दलो के नाट्यालेख (Scripts) विद्वानो के पास होना बहुत आवश्यक है। तदुपरान्त इन खेलों को विविध मडलियो द्वारा कई वार विभिन्न परिस्थितियो में भी देखना चाहिये। इस पर्यवेक्षण एव अध्ययन के दृष्टि-विन्दु नीचे लिखे अनुसार होंगे –

लोकनाट्य के लेखक जीवित हैं या नही? यदि वे जीवित हैं तो उनसे तुरत सपर्क साधा जाय और यह पता लगाया जाय कि विना परपरागत नाट्य-शैली या प्रचलित नाट्य-धुनो से उन्होंने अपनी गायन, लेखन एव नर्तन सामग्री कहाँ से प्राप्त की है? क्या उन्होंने अपनी धुनो का आधार कही और जगह से प्राप्त किया या वे सोलह आना स्वय की रचनाएँ हैं? यदि लेखक जीवित न भी हो तो उनके निकटस्थ लोगो से यह जानकारी प्राप्त हो सकती है। यह जानकारी भी आवश्यक है कि क्या ये धुनें कथोपकथन मे प्रयुक्त शब्दो को उद्दीप्त करती हैं? क्या वे भावानुकूल हैं? क्या समस्त गेय पद परपरा-गत छदों मे बँधे हैं या स्वरचित छद हैं? क्या एक ही विषय के विविध प्रचलित लोकनाट्य किन्हीं समान पारंपरिक छदो मे बँधे हैं? क्या उनके गठन मे कोई साम्य है? या वे किसी विशिष्ट नाट्य-शैली का अनुसरण करते हैं? बहुधा एक ही क्षेत्र मे प्रचलित विविध रगतो के लोकनाट्य किसी अलक्षित एव परिपक्व परपरा का अज्ञात ही अज्ञात मे अनुसरण करते हैं। यह परम्परा भले ही नाट्य-कलेवर, कथानक, कथोपकथन एव रगमचीय उपकरणो से परिलक्षित न होती हो, उसमे नाटक के रचयिता का व्यक्तित्व स्पष्ट दृष्टिगत होता हो, समस्त नाटक पर किसी व्यक्ति या दल विशेष की छाप या उसका आधिपत्य स्पष्ट हो, फिर भी लोकनाट्य-प्रस्तुतीकरण, चलित धुनो के मूलाधार, छदो की पृष्ठभूमि, पात्र एव चरित्रो के प्रतीकीकरण, घटनाओ एव प्रसगो के प्रतिनिधीकरण, नृत्य एव गायन की विशिष्ट सम्बोधनात्मक एव नाट्योचित प्रणाली आदि मे एक ऐसी विशिष्ट परम्परा अन्तर्हित रहती है, जिसका प्रतिपालन भारतीय लोकनाट्य-प्रणाली मे शाश्वतकाल से हो रहा है। इस दृष्टि को सामने रख

कर प्रत्येक प्रचलित नाटच का परीक्षण अत्यन्त आवश्यक है। जो लोकनाटच इन परम्पराओ का पालन नही करते या जिनकी समस्त विधाएँ लेखक एव रचयिताओ की ही सूझबूझ का परिणाम हो, वे ऊपर से चमत्कृत अवश्य लगते हैं परन्तु उनमे दर्शक अपने को आत्मसात् हुआ नही समझता। न उनके कथोपकथन ही प्राणवान् होते हैं, क्योकि समाज की प्रतिभा का वे इतने अल्पकाल मे स्पर्श किये हुए नही होते हैं। इस कमी की पूर्ति प्रत्येक कलाकार को अपनी सूझबूझ या अप्रासगिक कथनो, गीतो एव नृत्यो से करनी पडती है। ऐसी परिस्थिति मे यह अत्यन्त आवश्यक है कि सभी नये-पुराने, प्रचलित-अप्रचलित लोकनाटचो के समस्त कलेवर का आलेखन कर लिया जाय। उनकी समस्त प्रस्तुतीकरण एव नाटच-विधाओ का अध्ययन करके यह पता लगाना बिल्कुल मुश्किल नही है कि कौन नाट्य परम्परापारित है और कौनसा उससे परे है। इस परीक्षण के बाद प्रत्येक लोकनाट्य-आलेखो से क्षेपक बाहर निकाले जा सकते हैं। अप्रासगिक कथनो को प्रासगिक कथनो से पूरित करके समस्त कथा-प्रसग को सगठित कर लेना चाहिए। जिन नवीन छदो या वदिशो मे कथोपकथन को उद्दीप्त करने की शक्ति न हो उन्हे बदलकर परम्परापुष्ट छदो मे ढाल देना चाहिये। यदि ये सब क्षेपक बाहर निकलने पर नाटच का मनोरजन-पक्ष ढीला पड़ जाता है तो निश्चय ही समस्त कला-आलेख की पुनरावृत्ति आवश्यक है। उस पुनरावृत्ति मे कथा एव प्रसगो का क्रमिक प्रस्तुतीकरण नाटकीय तत्त्वो के अनुकूल करना भी जरूरी है। उनका व्यवस्थीकरण एव उनके निरर्थक पक्षो की छँटनी भी परमावश्यक है। इस कार्य-कलाप मे यदि इस बात का पता लगाया जाय कि उस नाटच का पारम्परिक प्रस्तुतीकरण क्या था, तथा कौनसे अश क्षेपक के रूप मे आये हैं तो बडी आसानी हो जायगी। उस पारम्परिक प्रस्तुतीकरण मे जो परिवर्तन आया है, वह दर्शको की आवश्यकता की पूर्ति के लिये आया है या प्रदर्शको की असमर्थता के कारण। कई बार यह भी देखा गया है कि योग्य पात्र एव योग्य दर्शको के अभाव मे अनेक ऐसी अयोग्य विधाओ का सहारा लिया जाता है, जो लोक-नाटच-पद्धति से बिल्कुल विपरीत है। यह बात भी वे ही जान सकते हैं जो लोकनाटच परम्परा के पक्के पारखी हो। कुछ पक्ष ऐसे भी हो सकते हैं, जिनका शैलीगत प्रस्तुतीकरण आधुनिक समाज को प्रभावित न करता हो। ऐसे तत्र को केवल परम्परापोषित होने के नाते ही प्रयुक्त करने का हठ भी नही होना चाहिये। यदि वह तत्र आज के लिये आवश्यक न हो तो उसका परित्याग किया जा सकता है।

- - - -

जो नाट्य कथोपकथनप्रधान हो उनके कथानक को भी महत्त्व देना आवश्यक है और जो केवल कथानकप्रधान हैं उनमे कथोपकथन को सक्रिय करके पात्रो की कला-कुशलता को बढावा दिया जा सकता है। कई लोकनाट्य ऐसे हैं जिनके विविध प्रसग एक-दूसरे से कच्चे धागे मे बँधे हैं। उनका पारस्परिक सम्बन्ध परिपक्व करना नाट्यगठन की दृष्टि से अति आवश्यक है। इन प्रसगो का एक-दूसरे के साथ जोड-तोड बिठाने के लिये सम्भव है कि पारम्परिक धुनो मे नये कथोपकथन लिखने हो। कभी-कभी सही पात्रो को सही भूमिका नही मिलने से भी नाटक मे शिथिलता आजाती है। कही-कही एक ही कथन को सागीतिक वैविध्य की नीयत से कितनी ही वदिशो मे गाया जाता है। इससे नाट्य की लम्बाई अनावश्यक रूप से वढ जाती है और दर्शको की रुचि को भी अधिक समय तक टिकाया नही जा सकता। कई प्रसग ऐसे भी आ जाते हैं जो नाट्य-प्रवाह को क्षति पहुँचाते हैं और जिनका मूल कथानक से कोई सबब भी नही होता। ऐसे प्रसगो को काटने-छाँटने में किसी प्रकार की हिचक नही रहनी चाहिये। कभी-कभी धुनो मे भी हेरफेर करना आवश्यक होगा और कही-कही पुरातन शैली मे नवीन कथोपकथन नई धुनो मे भी बाँधने होगे।

सर्वाधिक ध्यान तो इस वात का रखना पडेगा कि ये नाट्य अपनी लोक-शैली का परित्याग नही करें। उसके साथ जनता का पारस्परिक भावात्मक लगाव तभी तक बना रहेगा जब तक कि उसकी शैली मे कोई परिवर्तन नही किया जाय। आधुनिक नाट्यों की तरह इन लोकनाट्यो को कडे नियमो मे भी नही बाँधा जाय। पात्रो को अपनी स्वतन्त्र अभिव्यक्ति की भी पूरी छूट रहनी चाहिए। उन्हे अपनी उपज एव अन्त प्रेरणा से कथोपकथन के विस्तार एव नियोजन की स्वतन्त्रता हो। दर्शक-प्रदर्शक लोकनाट्यो मे एक कुटुम्ब की तरह जुडे रहते हैं। उन्हें प्राय सभी नाट्यो के कथोपकथन कठस्थ होते हैं। यदि उनमे आमूलचूल परिवर्तन करके दर्शको के सम्मुख प्रस्तुत किया जावे तो यह स्वाभाविक है कि दर्शक ऐसे नाटकों मे कोई अपनत्व न वतावें। दर्शक-प्रदर्शक का शारीरिक फासला भी बहुत अधिक नही रहे। कभी-कभी रगस्थल और प्रेक्षस्थल मे कोई अन्तर नही रहता प्रेक्षस्थल ही कभी-कभी रगस्थल की अनेक परिस्थितियो मे परिवर्तित हो जाता है। कभी प्रेक्षक ही प्रदर्शक बन जाता है और कभी प्रदर्शक प्रेक्षक। अत लोकनाट्य-संशोधन कार्य मे बडी सावधानी वरतने की आवश्यकता है। कई सशोधक उत्साह ही उत्साह में इन पारम्परिक नाट्यो को इतना बदल देते हैं कि उनके स्वरूप-

परिवर्तन के साथ उनकी आत्मा ही नष्ट हो जाती है। नाटक की वे धुनें जो दर्शको के कठो पर सदा ही विराजमान रहती हैं, वे गतें जो नक्कारा-वादक अनेक पीढियो से बजाता है, वे कथोपकथन जो जनजीवन को सहस्रो वर्षो से आह्लादित कर रहे हैं, प्रत्यक्ष मे आज की परिस्थिति से मेल भले ही न खाते हो परन्तु दर्शको की भावनाओ मे सरावोर हो चुके हैं। उनमे जहाँ तक हो सके आमूलचूल परिवर्तन न हो। राजस्थान के कुछ लोकनाटचो ही को लीजिये जैसे छैला पनिहारिन का ख्याल, ढोलामरवण का ख्याल, गोरी का वालमा का ख्याल, नणद भौजाई का ख्याल, खसम का खेल, मूमल महेन्द्र का ख्याल, वनजारा का ख्याल, सेठ-सेठाणी का ख्याल, वूढा वालम का ख्याल आदि-आदि। इनमे से कुछ के प्रसग तो ऐसे व्यक्तित्व के साथ जुडे हुए है जिनसे आज का समाज कोई प्रेरणा नही लेता। परन्तु इन खेलो की धुनें, उनके कथोपकथन तथा उनकी विविध रगतो से दर्शक भावात्मक दृष्टि से इतना जुडा हुआ होता है कि वह उसमे असीम रस लेता है। कुछ प्रसग तो ऐसे हैं जिनसे समाज को कोई प्रेरणा नही मिलती तथा उनसे किसी प्रकार का सामाजिक आदर्श उपस्थित नही होता। उनमे जीवन ऐसे असामाजिक तत्त्वो से जुडा होता है कि उनसे समाज का हित होने की अपेक्षा कभी-कभी अहित ही होता है। फिर भी ऐसे लोकनाटच लोकरुचि की दृष्टि से अत्यन्त सफल समझे जाते हैं। उनका लालित्य, नाटक के गठन, पात्रो के चारित्रिक गुणो तथा चमत्कारिक परिस्थितियो मे नही है। उनके कथोपकथन और उनकी मनचली धुनें ही इतनी प्रभावशाली होती हैं कि वे दर्शको को वाँधे रखती हैं। ये नाटच वहुधा कथोपकथनप्रधान ही होते हैं। उनका कथानक सर्वदा ही पृष्ठभूमि मे रहता है। इन नाटचो के फडकते हुये गाने, उछलते हुए नृत्य तथा शृगार-प्रधान व्यवहार एव व्यापार ही दर्शको के लिए अत्यधिक आनन्ददायी होते हैं।

अत लोकनाटचो के सशोधन-कार्य मे सुधारवादी प्रवृत्ति कारगर सिद्ध नही होती। लोकनाटचो का मुख्य लक्ष्य मनोरजन तथा आनन्द प्रदान करना है, उपदेश देना और सुधार करना नही है। उपदेश प्राप्त करने और जीवनोद्धार के प्रसगो की जीवन मे कोई कमी नही है, वल्कि कभी-कभी तो समाज उसकी इतनी अतिरजना अनुभव करता है कि वह दिन भर के गभीर कामो के वाद रात तो विशुद्ध आनन्द-मोद प्राप्त करने मे ही लगाना चाहता है। वह उस समय सभी सामाजिक वधनो से मुक्त होकर अपनी वृत्तियाँ ढीली करके वैठता है। वह प्रतिवन्ध नही चाहता। अत सशोधन-कर्ताओ को उन्हे

कुंठित करके गंभीर तत्त्वो से बोझिल नही करना चाहिए। कुछ लेखक नवीन विषयो पर लोकनाट्य लिखने की आकांक्षा रखते हैं। यह कार्य सैद्धान्तिक दृष्टि से असंगत अवश्य लगता है, परन्तु यदि वह सावधानी एव अत्यन्त वैज्ञानिक ढग से किया जाय तो उपयोगी सिद्ध हो सकता है। नाट्यो की धुनों, प्रस्तुतीकरण-तन्त्र, नर्तन, वादन, रंगमंचीय विधान आदि मे परम्परा का ध्यान रखकर यदि नवनाट्य-लेखन का कार्य किया जाय तो श्रेयस्कर होगा। नही तो ऐसे नाट्य लोकशैली के नाट्यो मे शुमार न होकर आधुनिक रगत के नाटक ही कहलायेंगे, जिनकी आज कोई कमी नही है। ऐसे नाट्य परम्परा-पोषित होते हुए भी जमाने को देखते हुए सक्षिप्त तथा प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से चुस्त होते हैं। उनकी गायन, वादन, नर्तन की धुनें एव चालें दर्शको के कठो पर परम्परा से बैठी हुई तथा कानो को सदा से ही रसभावनी होती हैं। इन विधाओ के साथ यदि कथानक भी समयानुकूल एव राष्ट्रोपयोगी हो तो फिर इस कार्य में चार चाँद क्यो न लगें? ये जनरुचि को पकड़ने मे थोडा समय अवश्य लेंगे, परन्तु वे जनमानस मे उतरने लगेंगे और कालान्तर मे लोक-नाट्यो की श्रेणी प्राप्त कर लेंगे। आज हमारे देश मे जो भी लोकनाट्य प्रचलित हैं उनका तन्त्र ही पारम्परिक है। वे सदा ही अपनी हर विधा मे जमाने के अनुसार रंगत प्राप्त करते रहते हैं। लच्छीराम लिखित राजस्थान के कुचामणी खेल ५० वर्ष पूर्व लिखे गये थे। और भी कई लेखको ने इस शैली मे खेल लिखे हैं परन्तु उनमे कोई भी ३० वर्ष से अधिक पुराना नही है। फिर भी कुचामणी खेलो की गणना लोकनाट्यों मे इसलिए होती है कि उनका समस्त तन्त्र लोकधर्मी नाटको से पोषित है। गुजरात की भवाई-कला मे भी इसी तरह के नवीन प्रयोग हुये हैं, जिनमे नवीन प्रसंगो को पुरातन भवाई परिपाटी में डालकर भवाई नाट्य को नया परिवेश प्रदान किया गया है। इसी तरह के परिवर्तन बगाल तथा असम की जात्राओ मे भी हुए हैं। यदि पुरातन नाट्य-शैलियो मे, विशेष करके उनमे जो निष्प्राण हो गई हैं, इस तरह के वैज्ञानिक एव व्यवस्थित प्रयोग हों तो वे नाट्य निश्चय ही सामाजिक स्वीकृति प्राप्त कर लेंगे। समाज का लगाव नाट्य कलेवर से नही होता। उसका लगाव होता है खेलो की पारम्परिक गायकी से, उसके विशिष्ट अभिनय-तन्त्र एव तौर तरीकों से। यदि ये सब बातें किसी भी खेल मे अक्षुण्ण रहे तो धीरे-धीरे वह लोकनाटक की श्रेणी अवश्य प्राप्त कर लेगा।

अतः सशोधन के दो पहलू हमारे सामने हैं। एक तो प्रचलित लोक-नाट्यो को कतरने, काटने एवं सपादित करने का और दूसरा उसी परम्परा मे

नवीन नाटचालेखन का । ये दोनो ही पक्ष आवश्यक भी हैं और कष्ट-साध्य भी । देश मे जहाँ-जहाँ इस दिशा मे विधिवत् कार्य हुआ है वहाँ लोक-नाटच पुन प्रतिष्ठापित हुए हैं । महाराष्ट्र का तमाशा, आन्ध्र का यक्षज्ञान, वगाल की जात्रा, गुजरात का भवाई आदि इसके ज्वलत उदाहरण हैं और जहाँ लोकनाट्य-परम्परा को केवल अपने ही आप जीवन-मरण की घड़ियाँ गिनने के लिए निराधार छोड दिया गया है, जैसे राजस्थान का तुर्रा कलंगी, शेखावाटी ख्याल, बीकानेरी रम्मतें आदि, वहाँ लोकनाट्य अपनी अन्तिम साँसे गिन रहे हैं । जहाँ-जहाँ विधिवत् सशोधन, परिवर्धन का कार्य विशेषज्ञो द्वारा हुआ है, वहाँ के सशोधित नाट्य चुस्त हो गये हैं । उनमे नवीन प्राणस्फुरण हुआ है । नृत्यो की रगत वढ गई है । उनके निरर्थक अश कट गये है । जानदार अश रह गये हैं । उनसे थोडे समय मे अधिकाधिक आनन्द मिलने लगा है । वे नाटक अभी भी गाँव और नगर के खुले चौराहो मे होते है । उनके रगमच सब तरफ से खुले रहते हैं । दर्शकगण घेरा बाँध कर बैठ जाते है । पात्र पारम्परिक तरीके से ही अपना परिचय स्वय देता हुआ आता है । गीतवद्ध कथोपकथन मे दर्शक-प्रदर्शको की कल्पना को पूरी छूट दी जाती है । समस्त नाट्य-प्रस्तुतीकरण मे अनौपचारिकता का पूरा ध्यान रखा जाता है । स्थल, स्थान एव अभिनयक्रम मे अपनी स्वय की परम्परा को निभाते हुए भी ये नाट्य कई बातो मे छूट ले लेते हैं । वे सामाजिक कल्पना को तुरन्त पकड लेते हैं और तनिक से सरक्षण के बावजूद भी उन्हे देखने, खेलने को देश का दर्शक समाज लालायित रहता है ।
